दीक्षाकुमारी का प्रवास

अनुवादक
लालचन्द्र जैन

सम्पादक
प्रेम भण्डारी

मूल्य 15.00 रुपये

प्रकाशक : सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर-302 003 (राज.)

मुद्रक : अरुण सिंघी, कॉमर्शियल प्रिण्टर्स, जोधपुर

आवरण : अविनाश मेहता, ग्राफिक ब्लॉक्स, जोधपुर

प्रकाशकीय

प्रिय पाठको !

'दीक्षाकुमारी का प्रवास' सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल का 44 वां प्रकाशन है, जिसे आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब की प्रेरणा से प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। साध्वाचार के संबंध में यह उपयोगी ग्रंथ है, जिसे श्री शय्यंभवसूरि के 'दशवैकालिक सूत्र' के आधार पर उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्थान-स्थान पर इसमें साधु-साध्वियों को शुद्ध आचार के पालन के लिए सावधान किया गया है।

वर्तमान में जब कि आचार के संबंध में कई सुविधाजनक मत प्रस्तुत किये जा रहे हैं, इस ग्रंथ का विशेष महत्व है। इसके महत्व को ध्यान में रख कर ही पूर्व में इसे 'जिनवाणी' पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया था, जिसे पाठकों ने बहुत अधिक पसंद किया। अत: उसे संशोधित कर अब पुस्तक रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

किसी अज्ञात लेखक के मूल गुजराती ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद श्री लालचंद्र जैन ने बहुत ही रोचक, सरल और धारा प्रवाह भाषा में किया है। उनके अथक परिश्रम के लिये मंडल उनके प्रति आभार व्यक्त करता है।

पुस्तक का संशोधन श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा, अध्यक्ष–जैन सिद्धांत शाला, जयपुर ने किया है अत: मंडल उनका भी आभारी है। पुस्तक के संपादन-प्रकाशन में श्री प्रेम भण्डारी ने विशेष सहयोग किया, अत: संस्था उनके प्रति भी आभार व्यक्त करती है।

टीकमचंद हीरावत
मंत्री

उमरावमल ढढ्ढा
अध्यक्ष

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

दिनांक 2 जुलाई, 1982

प्रस्तावना

जैन साधु-साध्वियों के आचार के संबंध में दो प्रमुख विचार-धाराएँ हैं, जो एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। कुछ मुनिगण और श्रावक क्रिया एवं आचार के संबंध में किसी भी प्रकार के शिथिलाचार के विरुद्ध हैं और निर्धारित आचार का कठोरता से पालन करते हैं, करना चाहते हैं और उसी का अनुमोदन करते हैं। दूसरा पक्ष आधुनिक संदर्भ में क्रिया और आचार में समयानुसार परिवर्तन को आवश्यक मानता है।

जैन साधु-साध्वियों का समाज में आज जो विशेप श्रद्धा एवं सम्मान है, उसके कई कारण हैं-जिनमें ज्ञान, तपस्या और शुद्ध आचार का पालन प्रमुख हैं। आचार में शिथिलता आने पर उनके प्रति श्रद्धा में कमी आती है। इसके दूरगामी परिणाम स्वरूप कालान्तर में धर्म में लोगों की आस्था कम होने लगती है और धर्म का ह्रास होता है।

सर्व विदित है कि कई हिन्दू मंदिरों में महन्तों के शिथिलाचार से उनके प्रति किसी प्रकार का श्रद्धा भाव नहीं रहा है। बुद्ध धर्म का भारत में जो ह्रास हुआ है, उसके मूल में भी आचार में शिथिलता रही है। इस ऐतिहासिक अनुभव की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये।

एक अन्य प्रश्न भी है कि साधु-जीवन वस्तुतः सामान्य सांसारिक जीवन के विकल्प के रूप में उपस्थित है। यदि साधु-जीवन और श्रावक-जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता तो साधु-जीवन गृहस्थ के विकल्प के रूप में नहीं रह पायेगा।

इसका फल यह होता है कि सामान्य धारणा के विपरीत शिथिल साधु-जीवन वाला मार्ग श्रावकों को आकर्षित नहीं कर पायेगा। इस विरोधाभासित स्थिति का उल्लेख आज की परिस्थिति के संदर्भ में ही किया गया है।

भगवान महावीर ने इस प्रकार के संगठन का संयोजन किया था कि चतुर्विध संघ की व्यवस्था भविष्य में भी ठीक ढंग से चलती रहे। उनके प्रमुख आचार्यों ने चारित्र के नियम निर्धारित किये और उन्हें 'आचारंग' और 'दशवैकालिक सूत्रों' में गूंथा। इसका उद्देश्य यही था कि किसी भी युग में साधु-साध्वी शुद्ध आचार का पालन कर सकें और धर्म के प्रति लोगों की आस्था और विश्वास को दृढ़ कर सकें। इस संदर्भ में शिथिलाचार विशेष रूप से धर्म पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा।

कई बार प्रश्न उठता है कि धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये कुछ सुविधायें होनी चाहिये। मुनिगण को भी ये सुविधायें मिलनी चाहिये। पर सब से अधिक प्रचार-प्रसार तो तब होता है जब साधु-साध्वी शास्त्रों में लिखित कठोर जीवनचर्या का स्वयं पालन करें। उपदेश से भी अधिक चारित्र का प्रभाव स्थायी होता है।

प्रचार-प्रसार के लिये साधु और श्रावक के बीच की एक कड़ी 'स्वाध्यायी-साधक' की आवश्यकता है। मध्यकालीन युगों में ब्रह्मचारी के रूप में यह कड़ी मौजूद थी। वर्तमान युग में भी उसकी आवश्कता है ताकि साधु जीवन विशिष्ट बना रहे और कुछ श्रावक साधारण गृहस्थों से अधिक और साधुओं से कुछ कम कठोर आचार का पालन करते हुए धर्म का प्रचार कर सकें।

श्री शय्यंभवसूरि द्वारा लिखित 'दशवैकालिक सूत्र' से गाथाओं को उद्धृत करके विद्वान लेखक ने 'दीक्षा' को पात्र का रूप देकर उसके मुख से शिथिल साधुओं पर तीखे व्यंग किये

दीक्षाकुमारी का प्रवास

हैं। साधुओं का मठाधीश के रूप में एक स्थान पर रहना, आपसी कलह, वाल दीक्षा आदि अनेक प्रसंगों और क्रिया में शिथिलता पर कथा के रूप में मूल लेखक ने दीक्षाकुमारी के मुँह से वहुत कुछ कहला दिया है, जो वर्तमान काल में भी लागू होता है। साधु-साध्वी के आचार के संवंध में यह एक प्रमुख ग्रंथ है। दीक्षाकुमारी भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रवास करती है और जहाँ कहीं भी उसे साधु-जीवन के आचार में शिथिलता दिखाई देती है, वहाँ उनके समक्ष प्रकट होकर उन्हें सावधान करती रहती है और उन्हें शुद्ध चारित्र के पालन करने का बोध देती है।

आज के युग में सुविधा भोगी वृत्ति से सावधान करने के लिये ऐसे ग्रन्थ का विशेष स्थान है।

इसके महत्व को देखते हुए ही इसे पूर्व में 'जिनवाणी' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया था और अव पाठकों की मांग को देखते हुए इसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है ताकि साधु और श्रावक आचार के संवंध में विशेष रूप से विचार कर सकें और शिथिलाचार का प्रतिरोध करते हुए अपने चारित्र धर्म का शुद्ध रूप से पालन कर सकें तथा धर्म के वास्तविक प्रचार-प्रसार में अपना योग-दान दे सकें।

लालचन्द्र जैन

अनुवादक

जी-2 शास्त्रीनगर, जोधपुर

दिनांक 23-6-82

प्रातःकाल के शांत समय में एक तरुण बालिका नगर के बाहर स्थित उद्यान में चुपचाप बैठी थी। वह शांत मूर्ति बालिका चिंता सागर में निमग्न दिख रही थी। बहुत देर तक चिंता करते-करते आकाश की ओर देख कर उसने कहा-ओह ! कर्म की कैसी विचित्रता है। कराल काल का कैसा प्रभाव है यह विश्व कैसा अद्भुत है। क्या वह समय फिर नहीं आयेगा ? क्या भूतकाल की स्थिति फिर प्राप्त नहीं होगी ?

वह बालिका इस प्रकार बोलते-बोलते चुप हो गई और उसने शुभ ध्यान लगाना आरंभ किया। उस ध्यान में हृदय को एकाग्र कर वह पंच परमेष्ठी का स्मरण करने लगी। उस समय एक शांतमूर्ति पुरुष उसके सामने आकर खड़ा हो गया। तपस्या के और पंच महाव्रत के दिव्य प्रभाव से उसका दर्शन अलौकिक आनन्द प्रदान कर रहा था।

उसके पवित्र दर्शन से उस बालिका के परितप्त हृदय को विशेष शांति प्राप्त हुई। तुरंत ही उसने शुद्ध भाव से उस महात्मा को नमस्कार किया। शोक और शांति के बीच झूलती हुई उस बालिका को देखकर महात्मा ने कहा—

"हे पवित्र हृदया ! तू क्यों चिंता कर रही है ? सर्व जगत को पवित्र करने वाली, स्वर्गपुरी और मुक्तिपुरी के महामार्ग को दिखाने वाली हे देवी ! तुम्हारी शांत मूर्ति में शोक का प्रवेश कैसे हुआ ? तेरे जैसी भवोद्धारिणी देवी जब इस प्रकार शोक-ग्रस्त होगी तो अनंत भवसागर में मग्न इन भवि-प्राणियों का रक्षण कैसे होगा ? हे धर्मेश्वरी ! शोक को

छोड़कर अपने पवित्र कर्तव्य को अंगीकार कर, इस जगत का कल्याण कर।"

महात्मा के ऐसे वचन सुनकर वह सुन्दर बालिका बोली- धर्मपिता! आपके पवित्र दर्शन से मेरी सब चिंता दूर हुई है। अब मुझे पूर्ण आश्वासन मिला है। विश्व को विडबना में डालने वाला अवसर्पिणी काल अब मुझ से दूर रहेगा। हे भगवन्! कृपा कर इस मुग्ध कन्या का उद्धार करिये। मैं आपकी पुत्री हूं। इस जगत में मुझे आपकी ही शरण है। आपकी शांत मूर्ति के शरण में रहकर मुझे जो सुख मिला और आनन्द प्राप्त हुआ है, वैसा और कहीं प्राप्त नहीं हुआ। महानुभाव! अब मेरी तरफ दया-दृष्टि करिये। विपरीत काल, विरुद्ध कर्म और अधर्म मुझ पर आक्रमण कर रहे हैं। आपके धर्म पुत्र विचित्र स्थिति में आ रहे हैं। अनाचारी, धर्मभ्रष्ट और पेटू साधु मुझे जहां-तहां तिरस्कृत कर रहे हैं। अपक्व, अशिक्षित और अज्ञानी साधुओं की टोली ने मुझ घेर लिया है। भरतखंड के अधिकांश प्रदेशों में स्थान-स्थान पर मेरी निंदा और अपमान हो रहा है। इससे मैं चिंता सागर में डूब रही हूं। हे दयालु स्वामी! मेरा उद्धार करो और मुझे अपने पवित्र चरण में शरण दो।"

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर उस महात्मा ने कहा, बालिके! तेरे हृदय की चिंता को मैं समझ रहा हूं। वर्तमान समय के मुनि तुम्हारी बहुत ही विडंबना करते हैं, यह बात भी मैं जान रहा हूं। चालू जमाने को लक्ष्य में रखकर तुम्हारा उद्धार कैसे करना और तुम्हारा उद्धार किस तरीके से हो सकता है, इस बारे में अपने अनुभूत विचार तुम्हारे सामने प्रकट करता हूं। तेरे दीर्घकालीन दुखों का अब अन्त होगा।"

गीतार्थ महात्मा के ऐसे वचन सुनकर दीक्षाकुमारी को विशेष हर्ष हुआ। पवित्र बालिका मृदुहास्य बिखेरती हुई बोली

हे दयानिधि ! आपके अभय वचन से मैं अब भयमुक्त हो गई हूं। अब आप कृपा कर मुझे मेरे उद्धार का उत्तम मार्ग दिखाइये और मेरे जीवन की पवित्र दिशा निर्धारित करिये।"

गीतार्थ महात्मा ने कहा-"हे महादेवी ! तुम्हारी चिंता को दूर करना मेरा मुख्य कर्तव्य है। तुम भरतखंड की प्रजा के लिये अतिशय उपयोगी हो। तुम्हारे आश्रय से ही चरित्र धर्म टिक रहा है। दान, शील, तप और भाव-यह चार प्रकार का धर्म तुमसे ही प्रवर्तित होता है। इतना ही नहीं, संसार के क्षणिक पौद्गलिक पदार्थों के प्रति जो वैराग्य भाव उत्पन्न होता है, उसकी सार्थकता तुमसे ही है और अविरति धर्म से मुक्त होकर विरति धर्म में प्रवेश करने का मुख्य द्वार स्वयं तुम ही हो।

महात्मा गीतार्थ ने उत्साहपूर्वक कहा, दीक्षाकुमारी ! आज से तुम स्वतन्त्रता प्राप्त करो। कोई आग्रही अनगार गुरु यदि तुम्हें बलपूर्वक दे तो भी तुम उसके कहने में नहीं आना। सर्वदा स्वतन्त्रता धारण करना और जो श्रावक सर्व प्रकार से अधिकारी हो उसे ही तुम अंगीकार करना। जो सर्व प्रकार से अधिकारी न हो उनसे हमेशा विमुख रहना। इस पर भी यदि कोई तुझे अपात्र को बलपूर्वक दे तो तू अपने मूल स्वरूप को स्थिर रखना जिससे तेरा पवित्र लाभ उस अयोग्य पुरुष को प्राप्त नहीं होगा।"

गीतार्थ के मुंह से उपर्युक्त उपदेश सुनकर दीक्षाकुमारी आनन्दित हुई और उसने निश्चय किया कि अब से वह इसी प्रकार पूर्ण स्वतन्त्र होकर प्रवृति करेगी। फिर विनयपूर्वक उसने गुरु से निम्न प्रश्न किये—

"महानुभाव ! आपकी इच्छानुसार वर्तन करने का मैंने निश्चय किया है, फिर भी मेरे शंकालु हृदय में कुछ प्रश्न उभर रहे हैं, जिनका आप कृपा कर निराकरण करें"—

मुझे अंगीकार करने का अधिकारी पुरुष कैसा है ? उस पुरुष की पहिचान कैसे हो ? जो अधिकारी न हो उसके साथ मुझे कैसा व्यवहार करना चाहिए ? अधिकारी दिखता हो किन्तु सर्वदा उस अधिकार को कायम रखने योग्य न हो तो उसके साथ कैसे निभाना ? अधिकारी पुरुष के कौन-कौन से लक्षण हैं ?''

दीक्षाकुमारी के प्रश्नों को सुनकर गीतार्थ गुरु ने आनन्द-पूर्वक कहा, देवकन्या ! तेरे हृदय के परिणाम ही तुझे सहायभूत होंगे । तेरी तपस्या, श्रद्धा और सरलता तेरी धारणा को पूर्ण करने में और तुझे विजयी बनाने में समर्थ होंगे । देवी ! प्रथम प्रश्न में तुमने अधिकारी पुरुष की पहि-चान के बारे में पूछा है, यह जानने की शक्ति स्वयं तुझे प्राप्त होगी । तेरे पवित्र हृदय में तेरे अधिकारी पुरुष के लक्षण स्वतः ही स्फूर्त होंगे । जिससे तू अपने अधिकारी पुरुष को पहचानने में समर्थ होगी । जब तू अपने अधिकारी पुरुष की पहचान करने लगेगी तब तेरे प्रथम प्रश्न का हल स्वयं ही हो जायेगा और तू जानेगी कि तुझे अंगीकार करने का अधिकारी कौन है ?''

''तुमने तीसरे प्रश्न में पूछा है कि जो अधिकारी न हो उसके प्रति कैसा बर्ताव करना । इस प्रश्न का उत्तर अधिकारी के निर्णय में समर्थ होने के बाद तुरंत ही तुम्हारे हृदय में प्रकट हो जायेगा । ऐसा अधिकार रहित भ्रष्ट पुरुष तेरा लाभ प्राप्त नहीं कर सकेगा । अतः तू स्वतः ही उससे विमुख हो जायेगी जिससे उसके प्रति तेरा किसी प्रकार का व्यवहार रहेगा ही नहीं ।''

''चौथे प्रश्न में तुमने पूछा है कि अधिकारी दिखता हो पर चिरकाल तक उस अधिकार को कायम न रख सके तो क्या करना ? इस प्रश्न का उत्तर भी तेरे हृदय के अंतःकरण में स्वयं प्रकट होगा । क्योंकि तेरे पवित्र और शुद्ध स्वरूप के

समक्ष कृत्रिम व कपट भाव टिक नहीं सकेगा। अतः जो जैसा होगा वैसा ही तुझे दिखेगा। अधिकारी तो अधिकारी ही दिखाई देगा और अधिकार हीन अधिकार रहित ही दिखाई देगा।"

"देवी ! तूने पाँचवें प्रश्न में अधिकारी पुरुष के लक्षण पूछे हैं। इस प्रश्न का उत्तर वैसे तो बहुत विस्तार में है। यदि इस विषय में विवेचन करें तो बहुत समय लग जाय। अतः इस गहन विषय का ज्ञान प्राप्त करने का मैं तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूं कि ज्ञान-लब्धि के प्रभाव से और शासन-पति की कृपा से तुझे यह महाज्ञान प्राप्त हो और वीर शासन को कलंकित करने वाले आधुनिक साध्वाभासों के सहवास से तुम्हारी मुक्ति हो।"

गीतार्थ के ऐसे गौरवपूर्ण वचन सुनकर दीक्षाकुमारी को बहुत आनन्द हुआ और वह मन, वचन, काया के योग से उन महात्मा का वन्दन करने लगी, तब बीच में ही गीतार्थ बोल पड़े, पवित्र बाला ! मुझे वन्दन करने की आवश्यकता नहीं है। तू तो स्वयं जगत् वन्दनीय है। हम भी तेरे प्रभाव से ही पूज्य पदवी को प्राप्त होते हैं। महासमर्थ और अतिशयवान् अरिहंत भगवान् भी तेरा आदर करते हैं। जब तक तेरा पवित्र सह-वास न हो तब तक उन पूज्य महात्माओं को भी छद्मावस्था में रहना पड़ता है। देवी ! तू तो जगत की उद्धारक माता है और विरत धर्म की पोषक और पालक है।"

ऐसा सुनकर भी दीक्षाकुमारी ने वन्दना की तब गीतार्थ ने भी उसको वंदन किया। वे दोनों परस्पर वंदक और वंदनीय हो गये।

गीतार्थ के मुख से उपर्युक्त आशीर्वाद के वचन निकलते ही दीक्षा देवी के हृदय में 'दशवैकालिक सूत्र' के रहस्य का आविर्भाव हो गया। उसने हृदय से गीतार्थ गुरु का उपकार माना। फिर वे महात्मा वहां से विहार कर गये।

गीतार्थ गुरु के चले जाने पर दीक्षाकुमारी ने निश्चय किया कि "अब मुझे भरतखंड के प्रत्येक भाग में घूमना चाहिये और जो पुरुष मेरे अधिकारी न हों उन्हें नापसन्द करते हुए, जो मेरे वास्तविक अधिकारी हैं उनकी परीक्षा कर उन्हें पसन्द करना चाहिये। जिनको कीर्ति और मान के लोभी गुरुओं ने राग से या किसी प्रकार की लालसा से बल पूर्वक मेरा समागम कराया है, उनके पास से मेरे स्वरूप को अलग कर उनको भ्रष्ट घोषित कर दूर कर देना चाहिये।" ऐसा विचार कर दीक्षाकुमारी भरतखंड के पवित्र स्थानों का प्रवास करने निकल पड़ी।

पवित्र और शाँत मूर्ति दीक्षाकुमारी घूमती-घूमती सिद्धगिरी की तरफ गई।

एक समय वह देवी किसी सुन्दर शहर में पहुंच गई। उस नगर में जैन प्रजा बड़ी तादाद में रहती थीं।

शहर को देखकर दीक्षाकुमारी के चित्त में बहुत आनन्द प्राप्त हुआ। वहां उसने पंच महाव्रतधारी साधुओं के समूह को देखा। पवित्र कुमारी ने एक तरफ खड़ी होकर निम्न श्लोक उच्चरित किया—

"यः समः सर्व भूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च।
तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः ॥1॥"

जो शुद्ध आत्मा त्रस और स्थावर सब प्राणियों पर समभाव रखता है, तपस्या करता है, वह श्रमण कहलाता है।

उपर्युक्त श्लोक को सुनते ही साधु चमके और इधर-उधर देखने लगे, तब उपाश्रय के एक कोने में शांत-स्वरूप और दया-स्वरूप दीक्षाकुमारी उन्हें खड़ी दिखाई दी। उसको देखकर मुनि आश्चर्य चकित रह गये। मुनियों के वरिष्ठ गुरु ने आकर उससे पूछा, "बाला! तुम कौन हो? साधुओं के इस उपाश्रय में आने का क्या कारण है?"

दीक्षाकुमारी प्रसन्न होकर बोली, "साधुओं! मैं तुम्हारे शरी‍र में स्थापित दीक्षा हूं। वर्तमान समय में कुछेक वेषधारी मुनियों के कारण मैं जगत में निन्दा की पात्र बनी हूं। अतः साधुओं को सदाचार की शिक्षा देने के लिये मैं भरत क्षेत्र में घूमने निकली हूं। जो मुनि अपने धर्म और आचार के अनुसार प्रवर्तन कर रहे हैं, जिन्होंने चरित्र धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझा है, उन्हें मैं अपने शुद्ध स्वरूप का समर्पण कर प्रसन्न होऊँगी और जो स्वधर्म और स्व-आचार से भ्रष्ट होकर सिर्फ पेट भराई करते हैं तथा अपने शुद्ध कर्तव्य को भूल गये हैं, उनके पास से मैं अपने स्वरूप को वापस कर लूंगी तथा उन्हें संसार में साध्वाभास (सिर्फ देखने में साधु) घोषित करूंगी।"

दीक्षाकुमारी के ऐसे भयंकर वचन सुनकर वे साधु काँप गये और दीक्षादेवी के प्रताप से क्षभित होकर कुछ भी नहीं बोल सके। क्षण भर पश्चात् उनके वरिष्ठ गुरु ने कहा—महा-देवी! क्षमा करो। वर्तमान काल विपरीत चल रहा है। ऐसे समय में चरित्र के सर्वगुणों से सम्पन्न होना बहुत मुश्किल है, तब भी हम यथाशक्ति चारित्र धर्म का पालन करने का प्रयत्न करते हैं। आप महाशया को तो हम पर कृपा रखनी चाहिये। आपके आधार से तो हमारा निर्वाह हो रहा है। आपके पवित्र चिह्नों से ही हम जगत में पूजे जाते हैं। यदि आप अपने स्वरूप को वापस ले लेंगी तो हम अशरण होकर दुःखी हो जायेंगे। हमारी धर्ममय आजीविका टूट जायेगी और श्रावकों में हमारे प्रति जो बहुमान है, वह नष्ट हो जायेगा। इतना ही नहीं, संप्रतिकाल के यति गोरजियों जैसी हमारी स्थिति हो जायेगी।"

उन वरिष्ठ मुनि के उपर्युक्त वचन सुनकर दीक्षाकुमारी सोचने लगी—'ओहो! साधु धर्म की क्या दुर्दशा हुई है। वीरधर्म के प्रभावक मुनि मेरे पास कैसा अनुनय कर रहे हैं, कैसी अनुचित प्रार्थना कर रहे हैं? हे शासनपति! ऐसा समय कहाँ से आ गया है?"

इस प्रकार हृदय में विचार कर दीक्षाकुमारी आक्षेप पूर्वक बोली–"मुनियों ! विचार करो, तुम कौन हो, तुम्हारा स्वरूप क्या है, तुम्हारा प्रभाव कैसा है ? तुम धर्मवीर महावीर प्रभु के शासन के वाहक हो, और सर्वमान्य मोक्ष साधक चारित्र गुण के धारक हो। अपने गुरुओं की परम्परा का विचार करो। भरतखण्ड में विख्यात अपने गुरुओं की पट्टावली पर जरा नजर डालो। तुम ज्ञातपुत्र के वंशज हो और चतुर्विध संघ के अग्रणी हो। तुम्हारे जैसे महात्माओं को मेरे आगे ऐसी दीनता क्यों दिखानी पड़े ? वर्तमान समय कैसा भी हो, फिर भी चालू समय के अनुसार तुम्हारी प्रवृत्ति धर्म में हो सकती है। उसमें भी वर्तमान काल में तो आप लोगों को सब प्रकार की अनुकूलता प्राप्त है। तुम्हारे धर्म की वास्तविक रक्षा हो सकती है। मध्यकाल से तो वर्तमान काल अच्छा ही है। शांति का साम्राज्य चल रहा है। ऐसे समय में आप लोग प्रमादवश क्यों धर्म भ्रष्ट हो रहे हैं ?"

इस प्रकार दीक्षाकुमारी और उन मुनियों में बातचीत हो रही थी कि तभी कुछ श्रावक वहाँ आ पहुंचे। वे मुनियों को आहार-पानी का दान करने की विनती करने लगे। उनमें से एक बोला, महाराज ! बहुत दिन हो गये, आपने मुझे लाभ नहीं दिया है, कृपा कर आज मेरे घर आहार-प्राप्त करने चलिये। तभी बीच में ही दूसरा गृहस्थ बोला, "साहब, मुझे सेठ ने खास तौर से आपको बुलाने भेजा है अतः उनके यहां किसी साधु को आहार प्राप्त करने भेजिये।" तीसरे ने कहा–मेरे यहां आज सब तरह का जोग है, अतः किसी मुनिराज को आहार प्राप्ति के लिये भेजिये। इतने में दो श्राविकाएं आई और दीनता पूर्वक विनती करने लगी, "महाराज साहब, किसी मुनि को मेरे घर भेजिये, आज मेरे यहाँ बादाम पाक बना है, उसके सिवाय दूसरे कई उच्चकोटि के पकवान भी बने हैं।"

क्रोधित होकर बोली "मुनियों ! क्या यही तुम्हारा आचरण है ? श्रावक, गृहस्थ और श्राविकाएं इस प्रकार मिष्ठान आहार के लिये तुम्हें ललचावें और तुम उन्हीं के यहाँ आहार ग्रहण करने जाओ, क्या यह अनुचित नहीं है ?"

मुनियों के गुरु शर्मिन्दा होकर बोले, "महादेवी ! आप जो कुछ कह रही हैं वह सत्य है। साधुओं को मिष्ठान के लिये नहीं ललचाना चाहिये। साधुओं को श्रावकों के घर ललचाकर आहार ग्रहण करने जाना हमारे आचार के विरुद्ध है। पर इस नगर में प्रारम्भ से ही ऐसा रिवाज है। श्रावक अत्यधिक गुरुभक्ति पूर्ण हैं, अतः वे मुनियों की सेवा करने में ही श्रावक धर्म की सार्थकता मानते हैं। इससे हमारे मना करने पर भी वे राग-ग्रसित होने से हमारा कहना नहीं मानते और अपने रिवाज को नहीं छोड़ते।

यह सुनते ही दीक्षादेवी ने आक्षेप किया—"मुनि ! यह क्या कह रहे हो ? तुम्हारी इच्छा बिना क्या ऐसा हो सकता है ? जब तुम श्रावकों की इच्छानुसार प्रवृत्ति करोगे तब तुम्हारे मुनिपन की क्या महिमा ? श्रावकों में कितनी भी भक्ति क्यों न हो, किन्तु यदि वह भक्ति मुनि धर्म का उल्लंघन कराती हो तो ऐसी भक्ति किस काम की ? ऐसी भक्ति से तो भक्त और भगवान् (साधु) दोनों दूषित होते हैं। जो तुम्हारे नियमों के अनुसार हो, जिससे तुम्हारा चारित्र धर्म दूषित न होता हो और जिससे आर्हत धर्म की निन्दा न होती हो, ऐसा शुद्ध आचरण करना ही मुनि धर्म और मुनियों के आचरण का शुद्ध स्वरूप है। मुनियों ! जरा हृदय में विचार करो, तुम्हारी यह प्रवृति मुझे जरा भी योग्य नहीं लगती। तुम्हारा यह अनाचार मैं इस बार माफ करती हूं, पर यदि फिर ऐसा ही हुआ तो मैं अपने स्वरूप को वापस खींच लूंगी।"

वृद्ध मुनिपति हाथ जोड़कर बोले, "देवी ! क्षमा करो, अब दूसरी बार हम ऐसा अनाचार नहीं करेंगे। हम इस नगर

की पुरानी प्रथा को तोड़ कर रहेंगे। आज ही व्याख्यान में श्रावकों को इस सम्बन्ध में उपदेश देंगे। देवी! आहार-पानी ग्रहण करने के शुद्ध आचार क्या हैं? यह बताने की कृपा करें, जिससे हम उसके अनुसार प्रवृत्ति कर अपने साधु-धर्म को सार्थक कर सकें।"

मुनिपति के वचन सुनकर दीक्षा देवी कुछ शांत हुई और उनके प्रति दया लाकर मधुर स्वर में पूछा, "मुनियों! तुमने कहां तक अभ्यास किया है और साधु-धर्म की शिक्षा देने वाले कौन-कौन से ग्रंथ पढ़े हैं?"

वृद्ध मुनि—"भद्रे! मैंने धर्म का साधारण ज्ञान प्राप्त कर दीक्षा ली थी। बाद में एक विद्वान शास्त्री को रखकर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था किन्तु बुद्धि की जड़ता के कारण वह ज्ञान मेरे हृदय से विनष्ट हो चुका है। अब मात्र साधारण संस्कृत श्लोक और सरल मागधी गाथा मैं समझ सकता हूं। अतः वैसे गद्य-पद्यात्मक संस्कृत तथा मागधी चरितानुयोग के ग्रंथ पढ़ सकता हूं मेरे इन शिष्यों में से कुछेक संस्कृत विद्या के उपासक हैं पर अभी चाहिये जैसे वद्वान नहीं बन पाये हैं।"

वृद्ध मुनि के उपर्युक्त वचन सुनकर दीक्षादेवी ने सखेद कहा—"बहुत दुःख की बात है कि तुम्हारे जैसे वृद्ध दीक्षित मुनि को भी संस्कृत और मागधी भाषा का अच्छा ज्ञान नहीं है, फिर भी इतने सारे मुनियों के गुरु बने हुए हो, यह कैसी शर्म की बात है?"

मुनिपति ने शर्मिन्दा, होकर धीरे से कहा, "धर्ममाता! क्षमा करो हम पामर हैं। पूर्व-जन्म में ज्ञानावरणी कर्म बांधा होगा, इसी से हमारी यह स्थिति हुई है। अब आप हमारा उद्धार करें और हमें अपने आचरणों की शिक्षा प्रदान करें।"

वृद्ध मुनि के ऐसे वचन सुनकर दीक्षाकुमारी को दया आ गई और वह प्रसन्न होकर बोली, "मुनियों! हमारे परोपकारी

तीर्थंकरों ने तुम्हारे शुद्ध आचरण का उपदेश दिया है और गौरवशाली गणधरों ने उसे द्वादशांगी रूप में प्ररूपित और पल्लवित किया है। यदि तुम्हें अपने शुद्ध आचरण के स्वरूप को जानना है तो दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन करो और सर्वदा उसी का मनन करो। इस महासूत्र का अध्ययन और मनन करने से तुम्हारे पवित्र हृदय में तुम्हारे शुद्ध आचरण का प्रतिबिंब पड़ेगा जिससे तुम प्रमाद रहित होकर उत्तम प्रवृत्ति कर सकोगे।"

दीक्षादेवी के वचन सुनकर वृद्ध मुनि व उनके शिष्य बहुत हर्षित हुए। वृद्ध मुनि सविनय बोले, "हे भवोद्धारिणी देवी ! वह "दशवैकालिक सूत्र" कैसा है ? उसके प्रकट करने वाले और रचनाकार कौन हैं ? हमें सविस्तार बताने की कृपा करें।"

मुनियों के वचन सुनकर दीक्षाकुमारी ने सोत्साह कहा, "मुनियों ! सावधानी पूर्वक सुनो। शय्यंभव स्वामी राजगृह नगर में रहते थे ! वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे। वे पहले मिथ्यात्वी थे अतः कई प्रकार के यज्ञादि करते व उनमें प्रमुख रूप से भाग लेते। महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् वीर संवत् 98 तक वे भारत भूमि में विचरण कर रहे थे। एक समय उनमें वैराग्य भाव प्रकट हुआ उन्होंने प्रभव स्वामी के पास दीक्षा ली और उन्हीं के पास रहकर आर्हत् तत्व शास्त्र में महान विद्वता प्राप्त की।

जब शय्यंभव स्वामी ने प्रभव स्वामी के पास दीक्षा ली तब उनकी स्त्री गर्भवती थी। उस समय कुछ सांसारिक लोगों ने उनकी स्त्री से पूछा, "तुम्हारा पति तो दीक्षित हो गया किन्तु तुम तो गर्भवती हो, ऐसा लग रहा है।" तब उस स्त्री ने प्राकृत में 'मणय' कहा जिसका अर्थ 'किंचित मात्र' होता है। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। माता के मुख से निकले 'मणय' शब्द पर से स्वजनों ने उसका नाम मनक रख

दिया। मनक धीरे-धीरे बड़ा हुआ और उसमें मनोबल बढ़ने लगा।

जब मनक आठ वर्ष का हुआ तब एक समय उसने अपनी मां से पूछा, "माताजी दूसरे सब बालकों के पिताजी हैं, मेरे पिताजी क्यों नहीं हैं ? मां मेरे पिताजी कहां हैं ?" माँ ने प्रेम से समझाया, "वत्स, तेरे पिताजी जैन दीक्षा लेकर चले गये हैं" यह सुनकर मनक ने अपनी मां से पिताजी के पास जाने की आज्ञा मांगी। उस समय शय्यंभव स्वामी चंपा नगरी में विचरण कर रहे थे। मनक को यह खबर लग गई और वह अपने पिता के पास जाने के लिए रवाना हो गया। जब वह चंपा नगरी के पास आया तो शय्यंभव स्वामी अपने नित्य कर्म से निपटने के लिए जंगल जाते हुए उसे मिले। आचार्य ने मनक को जंगल में अकेला देखकर पूछा, "तुम कौन हो ?" तब उसने सब वृत्तांत आचार्य को सुनाया। आचार्य ने फिर पूछा, "तू यहां किस लिए आया है ?" मनक ने विनय पूर्वक कहा, "मुझे दीक्षा लेनी है। यदि आप जानते हो तो कृपया बतायें कि मेरे पिताश्री शय्यंभव स्वामी कहां हैं ?"

आचार्य ने अपना स्वरूप बताये बिना ही कहा, "वत्स ! तेरे पिता से मैं कोई अलग तो नहीं, तू मेरे पास ही दीक्षा क्यों नहीं ले लेता ?" मनक ने जब उनके पास दीक्षा लेना स्वीकार कर लिया तब आचार्य ने वहीं पर उसे दीक्षा दे दी। उस समय आचार्य ने अपने ज्ञान बल से जान लिया कि मनक का आयुष्य अब सिर्फ छः महिने बाकी रह गया है। इन छः महिनों के थोड़े से समय में यह बालक मुनि अपने चारित्र को किस प्रकार कृतार्थ कर सकेगा ? ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिये।

ऐसा विचार कर इन महा परोपकारी महामुनि ने पूर्वों में से दश अध्ययनों का उद्धार किया और मनक को यथार्थ रीति से पढ़ाये। उन दश अध्ययनों के उत्तम बोध से प्रबुद्ध होकर मनक ने छः महिने में समाधिस्थ रह कर काल किया

और अपने मुनि जीवन को कृतार्थ कर सद्‌गति को प्राप्त किया। महामुनि मनक ने जब अपने पवित्र प्राणों का त्याग किया तब आचार्य शय्यंभव के नेत्र से अश्रु बह निकले। शय्यंभव जैसे आचार्य की ऐसी विचित्र स्थिति देखकर उनके शिष्य यशोभद्र आदि को आश्चर्य हुआ और उन्होंने आचार्य से अश्रु आने का कारण पूछा। इस पर आचार्य ने अपने स्वर्गवासी शिष्य मनक का पूरा वृत्तांत उनको सुनाया। वह वृत्तांत सुनकर उन सब को खेद हुआ कि वे गुरु-पुत्र की कोई पवित्र सेवा नहीं कर सके।

दीक्षाकुमारी ने उत्साह पूर्वक बताया, "हे मुनियों! तभी से 'दशवैकालिक सूत्र' प्रकट हुआ है। संघ के आग्रह से आचार्य शय्यंभव स्वामी ने भविष्य में मुनियों के उद्धार के लिये इन दश अध्ययनों को प्रकट रखा। इन दश अध्ययनों को विकाल में ग्रंथ रूप से प्रकट करने के कारण उस सूत्र का नाम दश-वैकालिक रखा। इस सूत्र का गूढार्थ भली प्रकार समझाने के लिए 1444 ग्रंथों के रचनाकार महान् आचार्य श्री हरि-भद्र सूरि ने इस पर 'शिष्य बोधिनी टीका' और 'अवचूलिका' की रचना की। वैसे ही खरतरगच्छ के युग प्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि के शिष्य समय सुन्दर गणी ने 'दीपिका' नामक शब्दार्थ वृत्ति की रचना की।

मुनिओं! इस उत्तम सूत्र का आप अध्ययन करें और यथा शक्ति मनन करें जिससे साधु-धर्म के सदाचार का शुद्ध स्वरूप आपको मालूम पड़ेगा।

जब इस महासूत्र का आपको ज्ञान होगा तब आपकी भ्रष्टाचारिता दूर होगी और आपके हृदय में साध्वाचार का प्रकाश पूर्ण रूप से प्रकाशित होगा।"

वृद्ध मुनि ने हाथ जोड़कर कहा, "धर्म माता! आज आपके समागम का पूरा लाभ हमें मिला है। अनाचार रूपी

दिया। मनक धीरे-धीरे बड़ा हुआ और उसमें मनोबल बढ़ने लगा।

जब मनक आठ वर्ष का हुआ तब एक समय उसने अपनी मां से पूछा, "माताजी दूसरे सब बालकों के पिताजी हैं, मेरे पिताजी क्यों नहीं हैं? मां मेरे पिताजी कहां हैं?" माँ ने प्रेम से समझाया, "वत्स, तेरे पिताजी जैन दीक्षा लेकर चले गये हैं" यह सुनकर मनक ने अपनी मां से पिताजी के पास जाने की आज्ञा मांगी। उस समय शय्यंभव स्वामी चंपा नगरी में विचरण कर रहे थे। मनक को यह खबर लग गई और वह अपने पिता के पास जाने के लिए रवाना हो गया। जब वह चंपा नगरी के पास आया तो शय्यंभव स्वामी अपने नित्य कर्म से निपटने के लिए जंगल जाते हुए उसे मिले। आचार्य ने मनक को जंगल में अकेला देखकर पूछा, "तुम कौन हो ?" तब उसने सब वृत्तांत आचार्य को सुनाया। आचार्य ने फिर पूछा, "तू यहां किस लिए आया है?" मनक ने विनय पूर्वक कहा, "मुझे दीक्षा लेनी है। यदि आप जानते हो तो कृपया बतायें कि मेरे पिताश्री शय्यंभव स्वामी कहां हैं?"

आचार्य ने अपना स्वरूप बताये बिना ही कहा, "वत्स! तेरे पिता से मैं कोई अलग तो नहीं, तू मेरे पास ही दीक्षा क्यों नहीं ले लेता?" मनक ने जब उनके पास दीक्षा लेना स्वीकार कर लिया तब आचार्य ने वहीं पर उसे दीक्षा दे दी। उस समय आचार्य ने अपने ज्ञान बल से जान लिया कि मनक का आयुष्य अब सिर्फ छः महिने बाकी रह गया है। इन छः महिनों के थोड़े से समय में यह बालक मुनि अपने चारित्र को किस प्रकार कृतार्थ कर सकेगा? ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिये।

ऐसा विचार कर इन महा परोपकारी महामुनि ने पूर्वों में से दश अध्ययनों का उद्धार किया और मनक को यथार्थ रीति से पढ़ाये। उन दश अध्ययनों के उत्तम बोध से प्रबुद्ध होकर मनक ने छः महिने में समाधिस्थ रह कर काल किया

और अपने मुनि जीवन को कृतार्थ कर सद्गति को प्राप्त किया। महामुनि मनक ने जब अपने पवित्र प्राणों का त्याग किया तब आचार्य शय्यंभव के नेत्र से अश्रु बह निकले। शय्यंभव जैसे आचार्य की ऐसी विचित्र स्थिति देखकर उनके शिष्य यशोभद्र आदि को आश्चर्य हुआ और उन्होंने आचार्य से अश्रु आने का कारण पूछा। इस पर आचार्य ने अपने स्वर्गवासी शिष्य मनक का पूरा वृत्तांत उनको सुनाया। वह वृत्तांत सुनकर उन सब को खेद हुआ कि वे गुरु-पुत्र की कोई पवित्र सेवा नहीं कर सके।

दीक्षाकुमारी ने उत्साह पूर्वक बताया, "हे मुनियों! तभी से 'दशवैकालिक सूत्र' प्रकट हुआ है। संघ के आग्रह से आचार्य शय्यंभव स्वामी ने भविष्य में मुनियों के उद्धार के लिये इन दश अध्ययनों को प्रकट रखा। इन दश अध्ययनों को विकाल में ग्रंथ रूप से प्रकट करने के कारण उस सूत्र का नाम दश-वैकालिक रखा। इस सूत्र का गूढार्थ भली प्रकार समझाने के लिए 1444 ग्रंथों के रचनाकार महान् आचार्य श्री हरि-भद्र सूरि ने इस पर 'शिष्य बोधिनी टीका' और 'अवचूलिका' की रचना की। वैसे ही खरतरगच्छ के युग प्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि के शिष्य समय सुन्दर गणी ने 'दीपिका' नामक शब्दार्थ वृत्ति की रचना की।

मुनिओं! इस उत्तम सूत्र का आप अध्ययन करें और यथा शक्ति मनन करें जिससे साधु-धर्म के सदाचार का शुद्ध स्वरूप आपको मालूम पड़ेगा।

जब इस महासूत्र का आपको ज्ञान होगा तब आपकी भ्रष्टाचारिता दूर होगी और आपके हृदय में साध्वाचार का प्रकाश पूर्ण रूप से प्रकाशित होगा।"

वृद्ध मुनि ने हाथ जोड़कर कहा, "धर्म माता! आज आपके समागम का पूरा लाभ हमें मिला है। अनाचार रूपी

कीचड़ में फंसी हुई हमारी आत्मा का आपने उद्धार किया है। अब कृपा कर उस पवित्र सूत्र का अर्थ समझाइये।"

दीक्षाकुमारी ने हंसकर कहा, "इस महासूत्र का अर्थ तुरन्त कहा नहीं जा सकता। वह बहुत गहन और विस्तृत है। यदि तुम्हारी इच्छा है तो यहां से विचरण कर सिद्ध क्षेत्र में जाओ। वहां एक सुधा विजय नामक विद्वान मुनि हैं, उनसे मिलो। वे मुनि चारित्र धर्म के वास्तविक धुरंधर और ज्ञान के भंडार हैं।" सुधा विजय का नाम सुनते ही उनमें से एक साधु बोल पड़ा, "दीक्षादेवी ! हमारे समक्ष उस मुनि का नाम मत लो, उसका नाम सुनने से हम सब अपवित्र हो जायेंगे।"

मुनि के वचन सुनकर दीक्षाकुमारी ने आक्षेप किया, "मुनि ! तुम भी विचित्र व्यक्ति हो। सुधा विजय के गुण तुम अच्छी तरह से नहीं जानते। मैं स्वयं उन्हें भली प्रकार जानती हूं। वर्तमानकाल में विचरण करने वाले साधुओं में वे एक पवित्र साधु हैं। उनका चारित्र निर्दोष-शुद्ध है। मेरा स्वरूप पूर्ण रूप से उन्हीं में प्रकाशित हो रहा है। ऐसे पवित्र महामुनि के साथ तुम ऐसा दोष रखते हो, यह तुम्हारी बड़ी भूल है।"

दीक्षाकुमारी की ऐसी फटकार सुनकर उस वृद्ध मुनि ने अनुनय पूर्वक कहा, "धर्म जननी ! क्षमा करो। मुनि सुधा विजय अच्छे होंगे, पर वे हमारे संगठन में शामिल नहीं हैं और वे हमारे साथ मिलकर भी नहीं चलते हैं। साथ ही वे धर्म के वहम भी बहुत रखते हैं।"

दीक्षाकुमारी ने उच्च स्वर से कहा, "अल्पज्ञानी मुनि ! क्या बात करते हो ? तुम इस संसार से मुक्त होकर भी भेद रखते हो ? 'यह मेरा संगठन और यह तुम्हारा संगठन' ऐसा भेद चारित्रधारी समदृष्टि साधुओं को क्यों कर हो सकता है ? इस पक्षपात से ही तुम्हारे प्रभाव का नाश हुआ है। तुम्हारे जैसे निग्रन्थ को ममत्व क्यों होना चाहिये ? यदि ऐसा है तो फिर

संसारी और साधु में क्या फर्क है ? मुनि सुधा विजय ज्ञान रूप सुधा के कुंड हैं, शांत रस के कुंभ हैं और विद्यारूप लता के मडप हैं। ऐसे पवित्र साधु को तुम धर्म का वहमी किस आधार से कहते हो ? वे धर्म के वहमी नहीं मगर धर्म के अनुसार प्रर्वतन करने वाले हैं और मुनिओं के शुद्ध धर्म को जानने वाले हैं। वे पवित्र मुनि तुम्हारे जैसे चरित्र भ्रष्ट साधुओं के साथ नहीं रह सकते, इसलिये तुम कहते हो कि वे तुम्हारे साथ मिलकर नहीं चलते।

दीक्षाकुमारी के ऐसे सत्य और हितकारी वचन उनमें से एक साधु को अच्छे नहीं लगे, अतः वह तैश में आकर बोला, "भद्रे ! हमारे में आपने क्या भ्रष्टता देखी कि आप हमें चारित्रभ्रष्ट कह रही हैं ? ये हमारे वृद्ध गुरु शांत और डरपोक हैं, इसलिये सब सहन कर रहे हैं, पर हम ऐसे वचन सहन नहीं कर सकते।"

उस मुनि के ऐसे वचन सुनकर दीक्षादेवी बोली, "अभी-अभी तुम्हारा भ्रष्टाचार मैंने देखा है। गृहस्थ श्रावकों के घर से मिष्ठान्न ग्रहण कर और उसे खाकर प्रमाद में पड़े रहना ही तुम्हारा चारित्र है। चारित्र क्या है ? चारित्रधारी का क्या कर्त्तव्य है और चारित्र लेने का क्या उपयोग है ? इस विषय में तुम कुछ भी नहीं जानते। देखो न, ये गृहस्थ श्रावक तुम्हें मिष्ठान्न प्रदान करने के लिये तुम्हारे उपाश्रय के द्वार पर आकर खड़े हैं और बढ़िया-बढ़िया वस्तुओं का योग बताकर तुम्हें लाभान्वित करने का लालच दे रहे हैं। इसके जैसा दूसरा और क्या चारित्र भ्रष्ट हो सकता है ? मुनिवर सुधा विजय ऐसा चारित्र धारण नहीं करते, वे तो दशवैकालिक सूत्र में वर्णित 'द्रुम पुष्पिका' नायक अध्ययन के जानकार हैं। वे तुम्हारी भांति मिष्ठान्न के लालच में आने वाले नहीं हैं। उन महामुनि को सहस्त्र बार धन्यवाद हो।"

दीक्षाकुमारी के ऐसे वचन सुनकर वृद्ध मुनि नम्र होकर बोले; 'द्रुमपुष्पिका' अध्ययन में क्या है ? कृपा कर वह हमें बताइये।

दीक्षाकुमारी ने कहा, "हे मुनिग्रों ! मुनिजन के महान् उपकारी आचार्य शय्यम्भव स्वामी ने साधुओं के आहार के बारे में प्रथम 'द्रुम पुष्पिका' नामक अध्ययन में संक्षेप से कहा है। इस पर से आपको ज्ञात होगा कि साधुओं की आहार विधि कैसी होती है ? उसके अनुसार आहार विधि पर आचरण करने वाला साधु ही मुनि धर्म का पूर्ण अधिकारी होता है। इसके लिये नीचे की दो गाथायें सब मुनियों को सर्वदा मनन करनी चाहिये—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य अपीणेइ अप्पयं ।।2।।

एमेए समणा वुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ।।3।।

इस उपयोगी गाथा का भावार्थ यह है कि जैसे भंवरा पुष्पों में रहे हुए मकरंद रस को थोड़ा-थोड़ा मर्यादा से चूसता है किन्तु पुष्प को पीड़ा नहीं पहुंचाता और खुद भी तृप्त हो जाता है, इसी प्रकार धन-धान्य आदि नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह और 14 प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त तपस्वी साधु गृहस्थ द्वारा प्रदत्त शुद्ध आहार को ग्रहण करता है। वह भंवरा की भांति गृहस्थ को तकलीफ न हो उस प्रकार थोड़ा-थोड़ा आहार हर घर से लेता है। गृहस्थ पुष्प के समान है और साधु भ्रमर के समान, फिर भी यह उपमा सर्व प्रकार से घटित नहीं होती क्योंकि भ्रमर तो अदत्त और अनैषणीय रस को ग्रहण करता है जब कि साधु अदत्त और अनैषणीय पदार्थ नहीं लेते अतः साधु भ्रमर से बढ़कर हैं।

मुनियों ! यहाँ आपको समझना चाहिये कि कदाचित् श्रावक गृहस्थ भक्तिवश आपको आधा कर्म आदि दोष युक्त आहार देने को तैयार हो जाय, तो भी उस प्रसंग में आपको पहले भली प्रकार सोच-विचार कर लेना चाहिये। इस संबंध में 'द्रुमपुष्पिका' अध्ययन में एक बहुत ही उपयोगी गाथा है—

वयं च वित्ति लब्भामो, न य कोई उवहम्मइ
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ।।4।।

आहार लेने के विषय में चारित्रधारी मुनियों ने उपर्युक्त गाथा में अपने पवित्र विचार दर्शाये हैं—"छः काय जीव योनि में कोई भी जीव को कष्ट न पहुंचे, उसकी विराधना न हो, इस प्रकार से हमें आहार वृत्ति चलानी चाहिये। ऐसा विचार कर जैसे भ्रमर का पुष्प के प्रति व्यवहार होता है, उसी तरह साधु को गृहस्थों द्वारा अपने लिये बनाये गये भोजन में से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करना चाहिये।"

आपकी आहार विधि उपर्युक्त प्रकार की होनी चाहिये। 'मैं अमुक के घर से ही आहार लूंगा या अमुक प्रकार का आहार ही लूंगा" ऐसे संकल्पों से आपको दूर रहना चाहिये। इस विषय में इस अध्ययन में जो अन्तिम गाथा वर्णित है मन, वचन, काया की शुद्धि से उसे मानना चाहिये—

महुगार समा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंड रया दंता, तेण वुच्चंति, साहुणो-तिबेमि ।।5।।

इस गाथा का भावार्थ सदा मन में धारण करने योग्य है। आप लोग हमेशा कुल आदि के प्रतिबन्ध से रहित हैं। आपको आहार-पानी के लिए किसी के पास दीनता दर्शाने की आवश्यकता नहीं है। किसी को शास्त्र पढ़ाकर या उसको उपदेश देकर उसके बदले में यदि उसी के घर का आहार लेना चाहें तो वह आपको कल्पनीय नहीं है। यदि आप इस प्रकार की बदले की इच्छा रखेंगे तो गृहस्थ श्रावक आपको सरस और मधुर आहार प्रदान करने की इच्छा करेंगे, जिससे तुम्हें अप्रासुक और आधाकर्मी (अशुद्धता) का दोष लगेगा। मुनियों ! ये आपके उपाश्रय के द्वार पर जो गृहस्थ आपको आहार का निमंत्रण देने खड़े हैं, यह पद्धति आपकी आहार विधि को दूषित करने वाली है। पवित्र मुनियों को तो कोई नहीं जाने ऐसे अज्ञात कुल से नीरस आहार लेना चाहिये, वह

भी एक ही घर से न लेकर अलग-अलग घरों से लेना चाहिये। इस विधि को बताने के लिए ही उपर्युक्त गाथा में 'नाना पिंडरया' शब्द लिखा गया है। अर्थात् साधु को एक घर का नहीं विविध घरों का पिंड (भोजन) कल्पता है। इस तरह से भोजन ग्रहण करने के अभ्यास का फल क्या होता है? इसको बताने के लिए गाथा में 'दंता' शब्द लिखा गया है। यानि जो इस प्रकार की शुद्ध विधि से आहार लेते हैं, वे पांच इंद्रियों का दमन करने वाले हो सकते हैं। ऐसे उत्तम साधु ही वास्तविक साधु हैं और अहिंसा आदि शुद्ध आचरण से मुक्ति पथ को ग्रहण करने वाले हैं, क्योंकि वे निश्चित रूप से अहिंसा आदि धर्म का पालन कर मुक्ति की साधना कर सकते हैं।

"मुनियों! इस 'द्रुमपुष्पिका अध्ययन' का हृदय में मनन करिये। इस अध्ययन के मनन से आप अपने आहार संबंधी शुद्ध आचरण को जान सकेंगे।"

थोड़ी देर बाद दीक्षाकुमारी को प्रणाम कर वृद्ध मुनि ने कहा, "महादेवी! आज आपने हमारा महान् उद्धार किया है। हम इस नगर में ममत्व रख कर, रहे हैं और हम पर राग (मोह) रखने वाले श्रावकों द्वारा प्रदत्त अप्रासुक और आधाकर्मी (अशुद्ध) आहार का भक्षण कर रहे हैं। अवश्य ही हमारा चारित्र दूषित और मलिन हो गया है।"

उपर्युक्त वचन कहने के पश्चात उन वृद्ध मुनि ने भोजन का निमंत्रण देने आये हुए श्रावक और श्राविकाओं को क्रोध पूर्वक कहा, "गृहस्थों! यहां से चले जाइये। आप हमारे धर्म को दूषित करने वाले हैं। आपके सहवास से हम अपने शुद्ध स्वरूप को भूल गये हैं। हे स्वार्थी श्रावकों! आप मोह में अन्धे होकर हमें भी स्वधर्म से पतित कर रहे हैं।"

वृद्ध मुनि के उपर्युक्त वचन सुनकर उन श्रावकों में से एक ने कहा—"महाराज! जरा विचार कर शांत होइये। सिर्फ हमारा ही दोष नहीं है। आपके शिष्य हमें सूचित कर रहे हैं

कि अमुक-अमुक वस्तु का योग रखना चाहिये और जब वैसा संयोग हो तो उसकी सूचना हमें देनी चाहिये । इसीलिये हम वैसा संयोग होने पर आपको वैसा आहार प्रदान करने के लिये निमंत्रण देने आते हैं ।"

उस श्रावक की बात सुनकर दीक्षाकुमारी ने कहा, "मुनियों ! अब आपका श्रावकों पर रोष करना उचित नहीं है । आप अपना आचरण सुधारने का प्रयत्न करिये और इस 'द्रुमपुष्पिका' अध्ययन का अभ्यास करने के लिये सुधा विजय जैसे पवित्र साधु की शरण लेने को उद्यत होइये ।"

दीक्षादेवी के वचन सुनकर सब साधुओं ने विनय पूर्वक कहा, "धर्म माता ! आपकी कृपा से हमारा अज्ञान दूर हुआ । मुनि सुधा विजय अथवा अन्य किसी भी संगठन के साधु के साथ हमारा मैत्री भाव है । हम 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन करेंगे ।"

फिर सबके देखते-देखते ही दीक्षाकुमारी वहां से अदृश्य हो गई । वे साधु उसके पवित्र दर्शन से कृतार्थ होकर फिर उसके दर्शन करने के लिये उसे इधर-उधर ढूंढने लगे । पर वह पवित्र देवी फिर उन्हें दिखाई नहीं दी ।

दीक्षाकुमारी के अदृश्य होने से वे सब मुनि आश्चर्य चकित रह गये फिर उन सब ने एकत्रित होकर विचार किया, "अब हमें अपनी आहार-विधि का भली प्रकार पालन करना चाहिए और हमेशा साधु धर्म के सदाचार को सम्यक् प्रकार से सेवन करना चाहिये जिससे कि सर्व आर्य धर्मों में अग्रणी गिने जाने वाले जैन धर्म की निन्दा न हो ।"

◆◆◆

प्रवास (2)

सूर्य उदय हो रहा था। ऐसे समय में दीक्षाकुमारी वहां आई। वहाँ उसे एक सुन्दर और विशाल नगर दिखाई दिया। वह नगर बहुत ही रमणीय था।

इस सुंदर नगर में दीक्षाकुमारी ने प्रवेश किया। वह एक विशाल उपाश्रय के पास आई। उसने अदृश्य होकर उस पवित्र भूमि में प्रवेश किया और उस उपाश्रय में विविध प्रकार की रचनाओं को देखने लगी। एक तरफ सुंदर पाट गद्दीदार बिछौनों सहित पड़े थे। दूसरी ओर नक्काशीदार कपाट दीवारें और अलमारियें थीं जिनमें विविध प्रकार की दवाइयें, सुगंधित तेल और देशी साबुन रखे थे। एक ओर नूतन रंगबिरंगे पात्र और पूजनीएं भारी मात्रा में पड़ी थीं तो दूसरी ओर भांति-भांति के चाक, पेंसिल और कूंचिएं रखी थीं। इसके अतिरिक्त भी कई उच्च प्रकार की वस्तुएं स्थान-स्थान पर व्यवस्थित रखी हुई थीं।

शांत स्वरूप दीक्षाकुमारी इस उपाश्रय में प्रवेश कर इधर-उधर फिरने लगी। उपाश्रय के दूसरे स्थान में गई तो वहां साधुओं की टोली प्रातःकाल की क्रिया से निवृत्त होकर विविध प्रकार की प्रवृत्तियों में संलग्न दिखाई दी। कई साधु चाय-दूध आदि लाने की तैयारी कर रहे थे। कई मगज को शांति देने वाले पाक और नाश्ता लाने की दूसरों को आज्ञा दे रहे थे। किसी-किसी के लिये उच्च जाति की औषधियें लाने की आज्ञा दी जा रही थी तो किसी व्याधिग्रस्त साधु के लिये विद्वान डाक्टर और राजवैद्य बुलाने का प्रबंध हो रहा था। कोई-कोई

विद्याभिलाषी मुनि ब्राह्मण शास्त्रियों के पास बैठे थे और विद्या-गुरु रूप से आये हुए पंडितों की विद्वता का निर्णय कर रहे थे और कई उच्छृंखल जवान साधु देर से आने वाले शास्त्रियों को फटकार रहे थे और उनका वेतन काट लेने की धमकी दे रहे थे। कई नव-दीक्षित बाल साधुओं को क्रिया की शिक्षा दे रहे थे और उसमें होने वाली भूलों के लिये उन्हें धिक्कार रहे थे।

उपाश्रय के मध्य में एक विशाल शिक्षणालय में उन साधुओं के वरिष्ठ गुरु बैठे थे। उनके पास कई शिष्य विनय पूर्वक खड़े थे। संघ के कई प्रमुख सेठ बैठे थे। कोई सेठ महाराज को भिक्षा के लिए भेजने की विनती कर रहा था, कोई सेवा की आज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना कर रहा था। कोई फोटू लेने को आग्रह कर रहा था, कोई पुस्तकें लिखवाने का आदेश मांग रहा था, कोई पत्र लिखने के बारे में स्पष्ट आदेश मांग रहा था, तो कोई श्रावक के लड़के को दीक्षा दिलवाने की बात कर रहा था। वरिष्ठ गुरु उन सब के साथ बातचीत कर रहे थे और सबको जवाब दे रहे थे। स्वाध्याय, ध्यान और धर्मोपदेश करने का प्रातःकाल का कीमती समय ये वरिष्ठ गुरु इस प्रकार व्यतीत कर रहे थे।

इस समय दीक्षाकुमारी उपाश्रय की रचना देखती हुई इन वरिष्ठ गुरु की पाठशाला में आई और वहां अदृश्य रूप से निम्नोक्त गाथा मधुर स्वर में बोली—

> कहं नु कुज्जा सामएणं, जो कामेन निवारए।
> पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ ।। 1 ।।

"जो पुरुष द्रव्य तथा भाव रूप दो प्रकार के काम का त्याग नहीं करता वह पग-पग पर विषय परिग्रह से खेद प्राप्त करता है और अग्राह्य विषयों की प्राप्ति के लिये संकल्प करता है। ऐसा पुरुष चरित्र का पालन किस प्रकार कर सकता है।"

इस गाथा को सुनते ही सभी साधु चमत्कृत हुए और इधर-उधर देखने लगे, पर थोड़ी देर तक उन्हें कोई वक्ता दिखाई नहीं दिया। इतने में वरिष्ठ गुरु ने अपने निवास स्थान के सामने ही उस सुन्दर मूर्ति के दर्शन किये। तुरन्त ही उन्होंने दूसरे साधुओं को भी उस सुन्दर मूर्ति को दिखाया जिससे सभी साधु इकट्ठे होकर महादेवी दीक्षाकुमारी के दर्शन करने लगे।

वरिष्ठ गुरु ने महादेवी से साश्चर्य पूछा—"हे बाले! आप कौन हैं? देवी हैं या मनुष्य हैं? इस समय इस उपाश्रय में आने का कारण क्या है?"

दीक्षादेवी—"मुनियों! मैं कौन हूं? तुम मुझे नहीं पहिचानते, यह जानकर मुझे बहुत आश्चर्य हो रहा है। मैं स्वयं ही तुममें समायी हुई हूं और मेरे प्रभाव से ही संसार में तुम्हारी पूजा हो रही है।

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर सभी साधु विचार में पड़ गये और वे एक दूसरे का मुंह देखने लगे।

उस समय एक विद्वान साधु ने खड़े होकर घोषणा की, "गुरु भाइयों! इस दिव्य बाला के स्वरूप को देखकर तो ऐसा लगता है कि यह दीक्षा का स्वरूप है। हम सब में जो अदृश्य रूप से रही हुई है, वह दीक्षा यह स्वयं हैं, ऐसा लग रहा है। फिर उन्होंने जो कुछ कहा है, उसका आशय भी वही है।

वरिष्ठ गुरु—"भद्र! तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि यह दीक्षा का स्वरूप है!"

मुनि—"उनके बातचीत के ढंग से और उन्होंने जो अदृश्य रह कर गाथा का उच्चारण किया उस पर से तो यही लगता है कि वह दीक्षा है।"

वह 'दशवैकालिक सूत्र' के दूसरे अध्याय की पहली गाथा है।

वरिष्ठ गुरु को विचार मग्न देखकर दीक्षाकुमारी ने कहा — "साधुजी ! क्या विचार करने लगे ? मन में किसी प्रकार की शंका मत लाइये। तुम्हारे इस विद्वान शिष्य ने जो कुछ कहा है वह सत्य कहा है। मैं स्वयं ही तुम्हारी दीक्षा हूं। मेरा नाम दीक्षाकुमारी है। तुम्हारे बाह्य और अंतरंग में मेरा ही स्वरूप स्थित है। तुम्हारे जैसे आडम्बरी और अज्ञानी साधुओं के उद्धार के लिये ही मैंने अपने अदृश्य स्वरूप को दृश्य बनाया है। वर्तमान काल में साधु अपने आचरण से भ्रष्ट हो रहे हैं और आगेवान श्रावक भक्ति के बदले उनकी खुशामद कर उनके रागी बन रहे हैं। मेरी यात्रा का उद्देश्य साधुओं को उत्तम चारित्र की शिक्षा देना है।"

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर वरिष्ठ गुरु भयभीत हुए। पर भद्र प्रकृति के कारण उन्हें दीक्षाकुमारी की बात रुचिकर लगी। अतः वरिष्ठ गुरु विनयपूर्वक बोले, "देवी ! आपके हृदय के विचार जानकर हमें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। कृपालु देवी ! कहिये, क्या आज्ञा है ? आपके मुख से शिक्षा-वचन सुनने के लिये हमारे हृदय विशेष आतुर हो रहे हैं।"

दीक्षाकुमारी ने गंभीर स्वर में कहा, "मुनियों ! प्रथम तो तुम्हारी अज्ञानता देखकर मुझे बहुत अफसोस हो रहा है। विशेषतः इन वरिष्ठ मुनि के लिये तो मुझे तो बहुत ही दुःख है। इतने बड़े पद पर आसीन होते हुए भी इन्होंने दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन और मनन भी नहीं किया। मैंने अदृश्य रह-कर जो गाथा बोली उसे आप सब में सिर्फ एक मुनि समझ सके। प्रत्येक साधु को मेरे स्वरूप की प्राप्ति के पश्चात् चारित्र के मुख्य ग्रंथ जानने चाहिये। साधु धर्म की समाचारी (आचरण-पद्धति) जानने के पश्चात् ही साधु अपनी योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। जब तक साधुत्व की योग्यता प्राप्त नहीं होती, तब तक साधु अपने धर्म का निर्वाह नहीं कर सकता।"

इतना कह दीक्षाकुमारी ने उन वरिष्ठ मुनि के सामने देख कर पूछा, "आप कौन हैं ? कब दीक्षित हुए हैं ? आपके गुरु का और आपका नाम क्या है ?"

वरिष्ठ गुरु ने क्षुब्ध होकर कहा, "महादेवी ! मैं जैन श्वेताम्बर साधु हूं। मुझे दीक्षा लिये 15 वर्ष हो गये हैं। मेरा नाम सुरेन्द्र विजयपन्यास और मेरे गुरु का नाम पद्म विजय है।"

दीक्षाकुमारी—"आपके इन विद्वान शिष्य का क्या नाम है और इन्होंने कब दीक्षा ली है।"

वरिष्ठ गुरु—"यह विद्वान मुनि मेरे शिष्य नहीं हैं परन्तु सुधा विजय नामक किसी एकल विहारी मुनि के शिष्य हैं। इन्होंने उस मुनि के पास 2 वर्ष पूर्व दीक्षा ली है।"

दीक्षाकुमारी ने आश्चर्य से कहा, "क्या ये सुधा विजय के शिष्य हैं ? तब तो इन्हें विद्वान होना चाहिये, इसमें क्या आश्चर्य ? पर ये विद्वान और शुद्ध चरित्र वाले गुरु को छोड़कर आपके साथ कैसे रह रहे हैं ?

वरिष्ठ मुनि—"धर्ममाता ! इनके गुरु सुधा विजय के साथ इनकी बनी नहीं, इसलिये ये मेरे साथ रह रहे हैं।"

दीक्षाकुमारी---"क्या सुधा विजय जैसे पवित्र गुरु के साथ भी इनका निभाव नहीं हुआ ? ओहो ! वर्तमान काल की कैसी महिमा है ?"

इतना कहते ही दीक्षाकुमारी के नेत्रों से अश्रुधारा बह चली और वे दीर्घ निश्वास लेने लगीं। दीक्षाकुमारी की ऐसी स्थिति देखकर वरिष्ठ मुनि विचार करने लगे। कुछ सोचकर उन्होंने मंद स्वर में कहा, "माता ! आपके नेत्रों से अश्रुधारा क्यों बह रही है ? आपको यह बात सुनकर क्यों दुःख हुआ ?"

दीक्षाकुमारी ने साड़ी के पल्ले से आंसू पोंछते हुए कहा, "वृद्ध मुनि ! वर्तमान काल की तुम्हारी स्थिति देखकर मुझे बहुत दुःख हो रहा है। वर्तमान समय में भारत वर्ष में जैन मुनियों में मुनि सुधाविजय श्रेष्ठ गिने जाते हैं। मेरे स्वरूप की संपूर्ण प्रभा इन महानुभाव में मौजूद है। चारित्रधर्म का

शुद्ध स्वरूप साधु शिरोमणि सुधा विजय में ही दिखाई देता है। ऐसे पवित्र गुरु को छोड़कर आपके जैसी अज्ञानी मंडली में आकर मिलने वाले इन साधु को मैं क्या कहूं ?"

इतना कह कर दीक्षाकुमारी ने उन विद्वान मुनि से पूछा, "मुनि ! आपने अपने पवित्र गुरु का त्याग क्यों किया ?"

उन विद्वान मुनि ने धीरे से कहा, "माताजी ! आप तो जानती ही हैं कि जैन सिद्धांत में कर्म प्रकृति को वहुत वलवान कहा गया है। मेरे पूर्व कर्म के योग से ही मुझे उन विद्वान गुरु का त्याग करना पड़ा, यह वार्ता वहुत लंबी है।"

दीक्षाकुमारी—"मुनि ! आपका उत्तर मुझे ठीक नहीं लगा। इस जगत में कर्म की सत्ता वलवान है तथापि आपकी वार्ता संक्षेप में सुनने की मेरी इच्छा है।"

विद्वान मुनि—"दीक्षादेवी ! एक समय किसी गृहस्थ का लड़का अपने माता-पिता की आज्ञा बगैर भाग कर हमारे गुरु सुधा विजय के पास आया। उस लड़के ने अपनी सव बात कह कर मेरे गुरु से कहा कि "महाराज ! मैं संसार की खट-पट से भयत्रस्त होकर आपकी शरण में आया हूं। मुझे दीक्षा देकर इस संसार से मेरा उद्धार करिये।" उस बालक के उपर्युक्त वचन सुनकर मेरे गुरु ने कहा कि भाई तू दीक्षा लेने के योग्य नहीं है 'अभी तेरी उम्र छोटी है' इस संसार के भयंकर विकारों का अभी तुमने अनुभव नहीं किया है, जव तुम्हारी उम्र बढेगी और ये विकार तुममें जाग्रत होंगे, तव तुम्हारी मनोवृत्ति चंचल हुए विना नहीं रहेगी। अतः तेरी यह उम्र दीक्षा लेने की नहीं अपितु पढ़ने की है। फिर तेरी मनोवृत्ति वैराग्य भावना में स्थिर नहीं हुई है। वैराग्य और ज्ञान का स्वरूप अभी तूने नहीं पहचाना है। इसके सिवाय तू अपने प्रथम कर्त्तव्य को भूल गया है। इस अवस्था में तेरा सर्व प्रथम कर्त्तव्य विद्याअभ्यास करने और माता-पिता की सेवा करने का है। तू अपने माता-पिता की आज्ञा विना

यहां आया है। यह तूने बहुत अनुचित काम किया है। अतः हे वत्स ! तू वापस चला जा, मैं तुझे दीक्षा नहीं दे सकता। तेरे जैसे छोटी उम्र के पूर्ण वैराग्य के बिना व अपने कर्तव्य को भूल जाने वाले बालक को दीक्षा देना हमारे धर्म के विरुद्ध है। जो साधु शिष्य लोभ से और गुरु पद की महत्वाकांक्षा से तेरे जैसे अनधिकारी बालक को दीक्षा देते हैं, वे साधु धर्म की और जैन धर्म की पवित्र पद्धति को नहीं जानती, इतना ही नहीं, वे साधु धर्म की निन्दा करवाने वाले, मात्र साधु दिखाई देने वाले पाखंडी हैं।

मेरे गुरु के उपर्युक्त वचन सुनकर वह गृहस्थी का बालक बहुत निराश हुआ और उसके हृदय में बहुत अफसोस हुआ।

"हे महादेवी ! उस समय मैं गुरु के पास बैठा हुआ 'दशवैकालिक सूत्र' की गाथा पर विचार कर रहा था। जब मेरे सत्यवादी गुरु ने उस गृहस्थ पुत्र को उपर्युक्त सत्य और हितकारी वचन कहे, तब उसके मुँह पर ग्लानि आ गई जिसे देखकर मेरे हृदय में दया आ गई। मैंने सोचा, ऐसी उमंग से व्रत लेने आये श्रावक पुत्र को निराश कर उसके हृदय को दुःखी करना उचित नहीं है। गुरुजी ने यह अच्छा नहीं किया। बेचारे बालक को निराश किया, यह ठीक नहीं किया। ऐसे उत्साही श्रावक पुत्र की सहायता करनी चाहिये।" ऐसा सोच कर मैंने अपने मन में निश्चय किया, "अगर गुरुजी इस बालक को दीक्षा न दें तो भी मुझे तो इसे अवश्य दीक्षा देनी चाहिये और इसका इस दुःख रूपी संसार से उद्धार करना चाहिये।" ऐसा निश्चय कर मैंने गुरुजी से विनय पूर्वक कहा, "भगवन् ! आपने बालक को निराश किया, यह ठीक नहीं किया। ऐसे उत्साही बालक को निराश करना उचित नहीं है। आप दयालु होकर ऐसे भद्र जीव का अनादर करें यह आपको शोभा नहीं देता।" मेरे वचन सुनकर उन्होंने कहा—"शिष्य ! तेरे जैसे विनीत शिष्य के मुँह से ऐसे वचन कैसे निकले ? तू भी अभी अल्प-बुद्धि ही है। माता-पिता की आज्ञा बिना

भागकर आये हुए ऐसे अज्ञानी बालक को दीक्षा देना योग्य नहीं है। भद्र! तू 'दशवैकालिक' पढ़ रहा है इसमें क्या लिखा है? उसका विचार कर। साधु धर्म कितना मुश्किल है। साधुओं की क्रिया और प्रवर्तन कैसे हैं, उसका जरा विचार कर। शुद्ध साधु धर्म का पालन किस प्रकार हो सकता है? साधुओं के परिषह कितने कठिन हैं? और वास्तविक साधुता कब प्राप्त होती है? इन सभी बातों का विचार कर तू स्वयं अपने हृदय से पूछ।" "महादेवी! गुरुजी के उपर्युक्त वचन मुझे अच्छे नहीं लगे। तत्काल मेरे मन में क्रोध आ गया और मेरे पूर्व-पाप कर्मों के योग से उन विद्वान-गुरुजी का त्याग करने की दुर्बुद्धि पैदा हुई। तुरंत मैं गुरुजी के पास से उठ कर उपाश्रय के दूसरे भाग में चला गया. वहाँ मैंने उस श्रावक पुत्र को बुलाकर उसे धीरज बंधाया, "भाई! तू चिंता मत कर। यदि मेरे गुरुजी तुझे दीक्षा नहीं देंगे तो मैं स्वयं तुझे दीक्षित करूँगा। कल मैं यहाँ से विहार करूंगा, तू भी मेरे साथ चलना।" मेरे वचन सुनते ही वह बालक बहुत प्रसन्न हुआ और उसने शुद्ध भाव-भक्ति से मेरे चरणों में नमन् किया।

"धर्ममाता! दूसरे दिन प्रातःकाल जल्दी उठकर अंधेरे में ही मैं उस बालक को लेकर चल पड़ा। भली प्रकार सोचे समझे बिना मैंने अपने उपकारी गुरुजी का सहसा त्याग कर दिया। उस ग्राम से थोड़ी दूर आकर एक छोटे शहर के उपाश्रय में मैं ठहरा। थोड़े दिन वहाँ रहकर वहां श्रावकों को अपना भक्त बना धूमधाम से उस बालक को मैंने वहाँ दीक्षित किया और मैं स्वयं उसका गुरु बना।

दीक्षादेवी! उस अपरिपक्व बालक को दीक्षा देकर मैंने उसके साथ दूर देश में विहार किया। मार्ग में गुजरात देश के एक बड़े शहर में आकर चातुर्मास किया। वह बालक साधु जैसे-जैसे युवावस्था को प्राप्त हुआ वैसे-वैसे उसके चित्त में विकार प्रकट होने लगे और अंत में उसे यह कष्ट साध्य साधु धर्म अखरने लगा। मेरी हित-शिक्षा उसे अहितकारी लगने लगी और मेरे आश्रय में रहना उसे परतंत्रता लगने लगी।"

पवित्र माता ! अन्त में वह उच्छृंखल साधु रात में मुझे उपाश्रय में सोता छोड़कर भाग गया। वह कहाँ गया, उसका मुझे पता नहीं लगा। भद्रे ! थोड़े दिन पहले मुझे एक श्रावक के मुँह से मालूम हुआ कि वह संवेगी साधु-वेष को छोड़कर श्वेत वस्त्रधारी गोरजी बन गया है और मंत्र-तंत्र के प्रयोगों द्वारा अज्ञानी स्त्रियों को भ्रमित कर उनके साथ लंपटता कर रहा है। इन समाचारों को सुनकर मुझे बहुत दुःख और पश्चाताप हुआ। अरे ! मुझ पापी ने ऐसे विद्वान गुरुजी का त्याग कर कैसी मूर्खता की है ? मेरे पूर्व कृत कर्म उदय में आये जिससे मुझे ऐसी कुबुद्धि सूझी।

महादेवी ! इस प्रकार मन में पश्चाताप करता हुआ मैं इन वरिष्ठ गुरु के संगठन में शामिल हुआ। उन उपकारी गुरुजी द्वारा मुझे जो 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन कराया गया था, उसका मैं सदैव मनन करता रहता हूं और बारंबार पश्चाताप करता हुआ यहाँ रहता हूं। उन महा उपकारी गुरु सुधा विजय के दर्शन और सेवा की मुझे सतत् इच्छा रहती है पर अपने पूर्व के अपराध का स्मरण करके मैं उनके पास जाने से घबराता हूं। माता ! मुझे ऐसा उपदेश और सलाह दें कि जिससे मैं उन विद्वान गुरुजी के चरणों की सेवा फिर से प्राप्त कर सकूं।

दीक्षादेवी ने अपने मन में विचार किया, "यह साधु हृदय से गुरु भक्त है, इसका उद्धार करना चाहिये।" यह सोचकर दीक्षादेवी ने मधुर स्वर में कहा, "विद्वान मुनि ! तुम्हारा शुद्ध हृदय देखकर मेरे चित्त को संतोष हुआ है। साथ ही तुममें गुरु भक्ति और श्रद्धा का तेज अभी बाकी है, अतः तुम चरित्र धर्म के पात्र हो, ऐसा मुझे विश्वास है। भद्र ! तुम शीघ्र अपने गुरु की शरण में जाओ। तुम्हारे क्षमाशील गुरु दयालु हैं। वे तुम्हारे अपराध को भी मन में लाये बिना तुम पर कृपा कर तुम्हें उपदेश देंगे और अपनी धर्ममय शीतल छाया में रख लेंगे।

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर वरिष्ठ गुरु ने विनय पूर्वक कहा, ,'धर्म माता ! आपने जैसे इस विद्वान मुनि का उद्धार किया, वैसे ही अब हमारा भी उद्धार करिये । हमारे इस पूरे परिवार में यह एक ही साधु विद्वान है, यह भी जब हमारे से अलग हो जाएगा तो हमारा क्या होगा । भद्रे ! हमारे जैसे अज्ञानी साधुओं की कृपा कर मदद करिये ।"

दीक्षाकुमारी ने उनके मन की बात को जानते हुए गंभीर स्वर में कहा, "साधुओं ! तुम्हें अपना उद्धार स्वयं ही करना पड़ेगा । अपनी आत्मा का उद्धार करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है । जब तक मनुष्य अपने उद्धार के कार्य को दूसरे पर आधारित रखता है, तब तक वह अपना उद्धार नहीं कर सकता । 'आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और आत्मा ही आत्मा का मित्र है ।' यह महावाक्य सभी भव्य प्राणियों को स्मरण रखना चाहिये । हे मुनियों ! तो भी तुम्हारे हित के लिये मुझे कहना पड़ रहा है कि यह विद्वान मुनि तुम्हारे संगठन में रह कर अपना हित नहीं कर सकता । तुम अपने आचरण से अधिक दूर हो गये हो और होते जा रहे हो जब कि यह विद्वान अभी अपने आचरण से दूर नहीं हुआ है । उसका हृदय 'दशवैकालिक सूत्र' के पवित्र संस्कारों से अब भी भरा हुआ है । अतः यदि वह अपने गुरुजी की शरण को प्राप्त करेगा तो शीघ्र आत्म-साधना करने में समर्थ हो सकेगा ।"

दीक्षाकुमारी बोल ही रही थी कि बीच में ही वरिष्ठ गुरु ने विनय पूर्वक कहा, "कृपालु माता ! हमारी तरफ ऐसी उपेक्षा करेंगी तो हमारी क्या गति होगी ? हमसे जो-जो दोष हुए हों कृपा कर क्षमा करिये और हमें साधु के सदाचार का उपदेश देकर हमारी भ्रष्ट आत्मा का शीघ्र उद्धार करिये । आप जैसी महान् आत्मा तो सब पर दृष्टि रखने वाली होती है ।

उनके ऐसे वचन सुनकर दीक्षादेवी ने हंसकर कहा, "मुनि ! तुमने उपर्युक्त वचन बहुत जल्दबाजी में कहे हैं । विचार करो,

पवित्र माता ! अन्त में वह उच्छृंखल साधु रात में मुझे उपाश्रय में सोता छोड़कर भाग गया। वह कहाँ गया, उसका मुझे पता नहीं लगा। भद्रे ! थोड़े दिन पहले मुझे एक श्रावक के मुँह से मालूम हुआ कि वह संवेगी साधु-वेष को छोड़कर श्वेत वस्त्रधारी गोरजी बन गया है और मंत्र-तंत्र के प्रयोगों द्वारा अज्ञानी स्त्रियों को भ्रमित कर उनके साथ लंपटता कर रहा है। इन समाचारों को सुनकर मुझे बहुत दुःख और पश्चाताप हुआ। अरे ! मुझ पापी ने ऐसे विद्वान गुरुजी का त्याग कर कैसी मूर्खता की है ? मेरे पूर्व कृत कर्म उदय में आये जिससे मुझे ऐसी कुबुद्धि सूझी।

महादेवी ! इस प्रकार मन में पश्चाताप करता हुआ मैं इन वरिष्ठ गुरु के संगठन में शामिल हुआ। उन उपकारी गुरुजी द्वारा मुझे जो 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन कराया गया था, उसका मैं सदैव मनन करता रहता हूं और बारंबार पश्चाताप करता हुआ यहाँ रहता हूं। उन महा उपकारी गुरु सुधा विजय के दर्शन और सेवा की मुझे सतत् इच्छा रहती है पर अपने पूर्व के अपराध का स्मरण करके मैं उनके पास जाने से घबराता हूं। माता ! मुझे ऐसा उपदेश और सलाह दें कि जिससे मैं उन विद्वान गुरुजी के चरणों की सेवा फिर से प्राप्त कर सकूं।

दीक्षादेवी ने अपने मन में विचार किया, "यह साधु हृदय से गुरु भक्त है, इसका उद्धार करना चाहिये।" यह सोचकर दीक्षादेवी ने मधुर स्वर में कहा, "विद्वान मुनि ! तुम्हारा शुद्ध हृदय देखकर मेरे चित्त को संतोष हुआ है। साथ ही तुममें गुरु भक्ति और श्रद्धा का तेज अभी बाकी है, अतः तुम चरित्र धर्म के पात्र हो, ऐसा मुझे विश्वास है। भद्र ! तुम शीघ्र अपने गुरु की शरण में जाओ। तुम्हारे क्षमाशील गुरु दयालु हैं। वे तुम्हारे अपराध को भी मन में लाये बिना तुम पर कृपा कर तुम्हें उपदेश देंगे और अपनी धर्ममय शीतल छाया में रख लेंगे।

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर वरिष्ठ गुरु ने विनय पूर्वक कहा, 'धर्म माता ! आपने जैसे इस विद्वान मुनि का उद्धार किया, वैसे ही अब हमारा भी उद्धार करिये । हमारे इस पूरे परिवार में यह एक ही साधु विद्वान है, यह भी जब हमारे से अलग हो जाएगा तो हमारा क्या होगा । भद्रे ! हमारे जैसे अज्ञानी साधुओं की कृपा कर मदद करिये ।"

दीक्षाकुमारी ने उनके मन की बात को जानते हुए गंभीर स्वर में कहा, "साधुओं ! तुम्हें अपना उद्धार स्वयं ही करना पड़ेगा । अपनी आत्मा का उद्धार करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है । जब तक मनुष्य अपने उद्धार के कार्य को दूसरे पर आधारित रखता है, तब तक वह अपना उद्धार नहीं कर सकता । 'आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और आत्मा ही आत्मा का मित्र है ।' यह महावाक्य सभी भव्य प्राणियों को स्मरण रखना चाहिये । हे मुनियों ! तो भी तुम्हारे हित के लिये मुझे कहना पड़ रहा है कि यह विद्वान मुनि तुम्हारे संगठन में रह कर अपना हित नहीं कर सकता । तुम अपने आचरण से अधिक दूर हो गये हो और होते जा रहे हो जब कि यह विद्वान अभी अपने आचरण से दूर नहीं हुआ है । उसका हृदय 'दशवैकालिक सूत्र' के पवित्र संस्कारों से अब भी भरा हुआ है । अतः यदि वह अपने गुरुजी की शरण को प्राप्त करेगा तो शीघ्र आत्म-साधना करने में समर्थ हो सकेगा ।"

दीक्षाकुमारी बोल ही रही थी कि बीच में ही वरिष्ठ गुरु ने विनय पूर्वक कहा, "कृपालु माता ! हमारी तरफ ऐसी उपेक्षा करेंगी तो हमारी क्या गति होगी ? हमसे जो-जो दोष हुए हों कृपा कर क्षमा करिये और हमें साधु के सदाचार का उप-देश देकर हमारी भ्रष्ट आत्मा का शीघ्र उद्धार करिये । आप जैसी महान् आत्मा तो सब पर दृष्टि रखने वाली होती है ।

उनके ऐसे वचन सुनकर दीक्षादेवी ने हंसकर कहा, "मुनि ! तुमने उपर्युक्त वचन बहुत जल्दबाजी में कहे हैं । विचार करो,

रागी श्रावक तुम्हारी कितनी ही भक्ति क्यों न करें तो भी क्या तुम्हें उनकी भक्ति स्वीकार करनी चाहिये ? रागांध मनुष्य यदि विषय युक्त काम की योजना गुरु के सम्मुख रखे तो क्या गुरु को वह काम करना चाहिये ? फिर वस्त्र, गंध अलंकार, स्त्री और शैय्या का त्याग करने वाले साधु ही सच्चे साधु हैं, यह बात सत्य है, किंतु तुम तो वैसे भी नहीं हो। तुम्हारे शरीर पर मौजूद ये ऊंची किस्म के वस्त्र, आलमारियों में रखे हुए सुगंधित तेल के ये पात्र और इन नक्काशीदार पाटों पर रखी हुइ शय्याओं से वस्त्र, गंध और शय्या के भागी तो बन ही चुके हो। अब तो सिर्फ अलंकार और स्त्री दो ही वस्तु भोगनी बाकी रही हैं। यदि इसी प्रकार भोग की सामग्री बढ़ाते रहे और तुम्हारे रागी श्रावकों की इच्छाएं पूरी करते रहे तो थोड़े ही समय में तुम भ्रष्टाचारी हो जाओगे।

मुनि ! तुम्हारे साथ रहने वाले इन विद्वान मुनि को पूछ कर देखो कि 'दशवैकालिक सूत्र' में वस्त्र, गंध और अलंकार के बारे में क्या कहा गया है ?" दीक्षा देवी के ऐसे वचन सुनते ही उन विद्वान मुनि ने नीचे की दो गाथाओं का उच्चारण किया—

वत्थ गंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणिय।
अच्छंदा जे न भुजंति, न सेचाइत्ति वुच्चई ॥1॥

जेयकंते पिए भोए, लद्धे वि पिठ्ठि कुव्वई।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥2॥

"जो पुरुष ऊंची किस्म के रेशमी वस्त्र, चंदनादि सुगन्धित पदार्थ, मुकुट आदि अलंकार, अनेक प्रकार की सुन्दर स्त्रियों और पलंग आदि शय्या नहीं मिलने से उनका भोग नहीं करते, वे पुरुष साधु नहीं कहलाते।"

"जो पुरुष मन को आकर्षित करने वाले प्रिय भोगों का प्राप्त होने पर भी त्याग कर देते हैं, वे निश्चय ही साधु कहलाते हैं।"

इस प्रकार उन विद्वान साधु ने जब उपर्युक्त दो गाथाओं का उच्चारण किया तब दीक्षादेवी ने आनन्द पूर्वक कहा, "मुनियों ! सुनो ये दोनों गाथाएं तुम्हें सदा मनन करनी चाहिये। सच्चा साधु किसे कहना चाहिये, इस बारे में ग्रंथकार स्वयंभू सूरि ने इन गाथाओं में भली प्रकार बता दिया है। पहली गाथा में उन्होंने स्पष्ट कहा है जो पुरुष भोगों को प्राप्त नहीं होने से नहीं भोगता वह सच्चा साधु नहीं है। प्राप्त न होने पर न भोगने वाले तो बहुत से गृहस्थ और भिखारी भी हैं, क्या उन्हें भी साधु कहा जाय ? नहीं, जो पुरुष मन को आकर्पित करने वाले प्रिय भोगों के प्राप्त होने पर भी उनका त्याग करता है, वही सच्चा साधु है। ऐसे साधु ही अपने चारित्र बल को सुशोभित करते हैं और अपने आत्म-बल से सद्गति को प्राप्त होते हैं।

हे मुनियों ! तुम्हें इस विषय में गहरा विचार करना चाहिये। ऐसा विचार करने से तुम्हें मेरे स्वरूप की सार्थकता की पहचान होगी।"

दीक्षाकुमारी के ऐसे वचन सुनकर वरिष्ठ गुरु के हृदय में असर हुआ। उन्होंने दीक्षाकुमारी को नमस्कार कर कहा, "हे जगत् उद्धारिणी देवी ! आपके उपदेशक वचनों ने मेरे मन पर बहुत असर किया है। कल यहां से अपने शिष्यों सहित विहार करके इस क्षेत्र का त्याग करने की मेरी इच्छा है। आपके उपदेश का प्रत्येक अक्षर सत्य है। इस नगर के रागी श्रावक हमें अपने धर्म से भ्रष्ट कर रहे हैं। हम जो निर्ग्रन्थ, अनगार और संवेगी साधु हैं, वे यहाँ रहकर सग्रन्थ, सागार और असंवेगी बन रहे हैं। एक स्थान पर अधिक रहने से राग द्वेष बढते हैं और गृहस्थों से अधिक परिचय होने से हमारे चित्त में अनेक प्रकार के क्षोभ उत्पन्न होते हैं जिससे हमारा चारित्र दूषित हुए बिना नहीं रह सकता। महादेवी ! आपका कथन सर्वथा सत्य है। हम अधिक समय तक यहां रहे इसी से सुन्दर अलमारियें, पाट आदि मन को अच्छी लगने वाली

अनेक वस्तुएँ एकत्रित हुई हैं । यदि हमने इन वस्तुओं की उपेक्षा की होती या इस स्थान को शीघ्र छोड़ दिया होता तो ऐसी स्थिति नहीं आती ।" इतना कहकर उन वरिष्ठ मुनि ने दीक्षा-कुमारी के चरणों में वन्दना की और खड़े होकर अभिग्रह लिया कि "आज से हम चातुर्मास के सिवाय बिना कारण किसी भी स्थान पर एक मास से अधिक नहीं ठहरेंगे ।" इतना कहकर उन्होंने दीक्षाकुमारी से विनती की कि "धर्म माता ! इस विद्वान साधु को थोड़े समय के लिये और हमारे साथ रहने दें, जिससे वह मेरे दूसरे शिष्यों को भी 'दशवै-कालिक सूत्र' का अध्ययन करावें । जब हम 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन और मनन भली प्रकार करेंगे तब हमें अपने साधु धर्म की जानकारी भली प्रकार से होगी और फिर हम उसके अनुसार प्रवर्तन कर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकेंगे ।"

वरिष्ठ मुनि के शुद्ध हृदय से प्रकट किये गये उपर्युक्त विचार सुनकर दीक्षाकुमारी भी अपने हृदय में प्रसन्न हुईं । फिर उन साधुओं को उपदेश का अधिकारी समझ कर निम्नलिखित गाथा से उन्हें तुरन्त उपदेश देना प्रारम्भ किया:—

मुनियों ! 'दशवैकालिक सूत्र' के दूसरे अध्याय में एक गाथा सर्वदा तुम्हारे मनन करने योग्य है, उसे सावधानी पूर्वक सुनो:

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सियामणो निस्सरई वहिद्धा ।
न सा महं नावि अहंवितीसे, इच्चेवताओ विणइज्ज रागं ।।

जब कभी तुम्हारे मन में संसार के किसी विकारी प्रसंग का स्मरण होता हो तब तुम्हें उपर्युक्त गाथा का मनन करना चाहिए । इस गाथा का भावार्थ इस प्रकार है—'साधु पहले सोचे कि मुझे छः काय जीवों पर समान दृष्टि रखनी चाहिए । ऐसी समदृष्टि रख कर ही मैंने गुरु के उपदेश से यह संयम मार्ग ग्रहण किया है और द्रव्य वगैरह परिग्रह का त्याग किया है ।

यदि ऐसे साधु को कभी पूर्व भुक्त भोगों का स्मरण भी हो जाए तो वह अपने संयम रूपी घर से बाहर निकल जाता है। अतः जब भी मन में पूर्व भुक्त विषयों का स्मरण हो तभी साधु को सोचना चाहिए कि जिनके स्मरण से या दर्शन से मेरे मन में मोह उत्पन्न होता है, वह स्त्री मेरी नहीं है न मैं उसका पति हूं। सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों को भोगते हैं, कोई किसी का नहीं है। जिस जीव को मैं स्त्री मानता हूं और जो जीव मुझे पति मानती है वह मात्र कर्म के योग से ही है। ऐसा सोचकर विद्वान साधु उस स्त्री पर से व इसी प्रकार दूसरी सभी मोहकारक वस्तुओं पर से राग को दूर करता है। जब तुम्हारे चित्त से राग का एकदम अभाव हो जाएगा तब प्रत्येक वस्तु पर ममत्व नहीं बंधेगा।"

साधुओं! उपर्युक्त गाथा में मनोनिग्रह करने की आभ्यंतर विधि कही गई है। कदाच् तुम उपर्युक्त विधि का पालन न कर सको तो उसकी पुष्टि के लिये मनोनिग्रह की बाह्य विधि को भी उसी स्थान पर दिखाया है। जिस विधि में सर्व इन्द्रियों के विकारों को नष्ट करने वाली तपस्या का उत्तम प्रकार बताया गया है। सुनो—

आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥

मुनियों! मनोनिग्रह के लिये इस बाह्य विधि की भी आवश्यकता है क्योंकि बाह्य विधि के पालन बिना आभ्यंतर विधि सफल नहीं हो सकती। वह बाह्य विधि इस प्रकार है— "हे मुनियों! तपस्या करो, सारे दिन सूर्य की धूप में बैठकर या उनोदरी आदि तप द्वारा अपने शरीर को तपाओ, ऐसा करने से काम आदि विकारों को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिलेगा। इसी प्रकार अपनी कोमलता का त्याग करो क्योंकि शरीर सुकुमाल नहीं होगा तो मन में काम वासना उत्पन्न नहीं होगी और तुम्हें देखने वाली स्त्रियों के मन में काम-वासना

उत्पन्न नहीं होगी। इसी प्रकार के आचरण से तुम पूर्व कृत द्रव्य काम भोगों का उल्लंघन कर सकोगे। जब मन की कामना का उल्लंघन हुआ तब तुम्हारे सब दुःख दूर हो जायेंगे क्योंकि सब दुःखों का मूल काम है। इस प्रकार बाह्य उपायों से काम-वासना पर विजय प्राप्त कर फिर आभ्यंतर कामनाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिये जिससे तुम्हारे राग और द्वेष दूर हो जायेंगे। शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयों पर जो प्रीति है वह राग है और मन में उत्पन्न होने वाले क्रोध आदि विकार द्वेष हैं। इन दोनों को ज्ञानपूर्वक कर्म विपाक को समझ कर दृढ़ता पूर्वक दूर कर देना चाहिये। इस उत्तम प्रकार के आचरण से मन को इस संसार से मुक्ति मिलेगी तथा संसार में परिषह और उपसर्ग का जो संग्राम चल रहा है उसमें भली-भांति विजय प्राप्त कर सुखी बनोगे।

"मुनियों ! इस पवित्र गाथा के स्मरण तथा मनन से तुम अपने मन को भली प्रकार वश में कर सकोगे। मनोनिग्रह ही संयम का मूल है। मनोनिग्रह से इन्द्रियों का निग्रह हो सकता है और तभी चारित्रधारी मुनि वास्तव में संयमी या संवेगी कहलाता है।" दीक्षाकुमारी इतना कहकर चुप हुई तब उनके उपदेश से आर्द्र हृदय वरिष्ठ मुनि व अन्य मुनियों ने तत्काल महादेवी की प्रेम तथा भक्ति से वन्दना की और विनय पूर्वक कहा—"महानुभावा ! आपने हमारा उत्तम उद्धार किया है। राग—द्वेष और मोह रूपी लूटेरे सजधज से हमें लूटने आये थे, उन्होंने थोड़ी लूट भी की है, किन्तु ऐसे विषम समय में आपने आकर हमारा उद्धार किया है। अब हमें इस उपाश्रय की मोह-रूपी भूमि अप्रिय लग रही है। रोगी श्रावकों द्वारा प्रदत्त ऊँची किस्म के वस्त्र, सुगंधी तेल और अन्य सुखदायक साधन अब हमें जरा भी अच्छे नहीं लगते। अब कृपाकर इन विद्वान मुनि को हमारे उद्धार की आज्ञा दीजिये और हम फिर इस मोह पाश में न फँसे ऐसा उपदेश दीजिये।

दीक्षादेवी ने दयापूर्वक कहा, "मुनियों ! तुम्हारे हृदय के शुद्ध परिणामों को देखकर मुझे अत्यंत संतोष हुआ है। अब

थोड़े ही समय में तुम्हारे पुण्य का उदय होने वाला है। अनगारो ! तुम्हारी स्थिति देखकर मुझे दया आती है, अतः मैं इन विद्वान मुनि को एक चातुर्मास तुम्हारे साथ व्यतीत करने की आज्ञा देती हूं। यद्यपि इन जवान मुनि ने 'दशवैकालिक सूत्र' का पूर्ण अध्ययन नहीं किया है, तथापि इनके पवित्र हृदय में गुरु प्रसाद से इस महासूत्र की शीतल छाया पड़ी है, जिससे वे इस सुबोधक सूत्र के पूर्ण अधिकारी बने हैं। साधुओं ! जहाँ तक इन महानुभाव ने 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन किया है, यदि आपके हृदय में वहाँ तक भी इस सूत्र की स्थापना हुई, तो भी तुम अपने संयम और चारित्र को भली प्रकार कृतार्थ कर सकोगे। अब मेरी इच्छा यहाँ से अन्यत्र प्रवास करने की हो रही है, तुम अपने परिणाम उच्चतर रखना।

वरिष्ठ मुनि—'महादेवी ! हमें आपके वचनामृतों से अभी तृप्ति नहीं हुई है। कृपा कर कुछ विशेष उपदेश दें तो हमें बहुत ही लाभ होगा।

दीक्षाकुमारी ने आनन्दपूर्वक कहा—"मुनियों ! सावधानी से सुनो—

'पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोक्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥"

"अगंधन नामक कुल में उत्पन्न सर्प असह्य अग्नि में प्रवेश कर सकते हैं किन्तु स्वयं वमन किये हुए पदार्थ को फिर से खाने की इच्छा नहीं कर सकते।"

हे मुनियों ! इस गाथा का भावार्थ यह है कि जैसे अगंधन जाति के सर्प दंश मारकर त्याग किये हुए विष को फिर से ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखते चाहे उन्हें प्रज्वलित अग्नि में जलना ही क्यों न पड़े, वैसे ही उत्तम गुरु के पास दीक्षा लेकर संयम धारी मुनि त्यागे हुए संसार के भोग पदार्थों को फिर से ग्रहण करने की इच्छा नहीं करते। त्याग किये हुए

भोगों को से फिर भोगना वमन किये हुए पदार्थ को फिर से खाना ही है। वमन किये हुए पदार्थ को खाने से घृणा होती है, वैसी ही घृणा प्रत्येक साधु को भोगे हुए पदार्थों को फिर से भोगने में रखनी चाहिये। सर्प जैसै तिर्यंच प्राणी भी जब वमन किये हुए पदार्थ को फिर से ग्रहण नहीं करते तब बुद्धिमान् मनुष्य तो वमन किये हुए पदार्थ को कैसे खा सकता है ? अर्थात् नहीं खा सकता ।

हे मुनियों ! इस पद्य के भावार्थ को तुम्हें हमेशा मनन करना चाहिये और जब भी तुम्हारी मनोवृत्ति भोग की तरफ आकर्षित हो तभी तुम्हें उपर्युक्त गाथा के भावार्थ को स्मरण करना चाहिये जिससे तुम्हारा चित्त उन भोगों से निवृत होगा और तुम अपने चारित्र का निष्कलंक पालन कर सकोगे। ऐसा विचार कर बहुत से भविप्राणि भोगासक्त नहीं हुए और अपने चारित्र धर्म का अखंड पालन किया। मुनियों ! इसी प्रसंग में रथनेमि और राजमति का दृष्टांत भी जानने योग्य है जो तुमने कथानुयोगद्वार में पढ़ा होगा। जब नेमिकुमार ने राज्य भोग का त्याग कर चारित्र धर्म को स्वीकार किया, तब उनका भाई रथनेमि जो राजमती के सौंदर्य पर मोहित था, उसने सोचा कि अब यदि मैं भाई की पत्नी को सतुष्ट करु तो वह मुझ पर मोहित हो जायगी क्योंकि मेरे भाई नेमिनाथ ने यौवन में ही उसका त्याग कर दिया है। ऐसी दुष्ट धारणा से कामासक्त रथनेमि राजमती की सेवा करने लगा।

राजमती तो सती थी। उसने नेमिकुमार के सिवाय अन्य किसी को पति रूप में ग्रहण नहीं करने का निश्चय किया था। नेमिकुमार के साथ ही वह भी विषय सुख से विरक्त हो गई थी। उस चतुर नारी ने रथनेमि के दिल की बात जान ली थी अतः वह अपने शील की रक्षा करने में विशेष सावधान रहती थी।

एक दिन राजमती ने मद्य और घी मिश्रित श्रीखंड खाया, उसी समय दुष्ट रथनेमि उसके पास पहुंच गया। अपने देवर

को आते देखकर सती राजमती ने तुरन्त मींढल का चूर्ण खा लिया जिससे उसको उल्टी हो गई। फिर राजमती ने अपने देवर रथनेमि से कहा "देवर जी, मेरे द्वारा वमन किये हुए इस श्रीखंड का पान करिये।" यह सुनकर रथनेमि ने घृणा व क्रोध पूर्वक कहा—"ऐसा वमन किया पदार्थ कोई खाता है ?" तब राजमती ने आक्षेप किया—"यदि तू वमन किया हुआ अन्न नहीं खा सकता तो तेरे भाई नेमिनाथ द्वारा स्पर्श-विषय-सुख का भोग करके वमी हुई मुझको प्राप्त करने की इच्छा क्यों करता है ?"

इस प्रसंग में सती राजमती ने अपने दुर्बुद्धि देवर को प्रतिबोध दिया था। उस प्रतिबोध के भावार्थ की गाथा सूत्रकार निम्न प्रकार से कहते हैं:—

"धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीविय कारणा।
वंतं इच्छसि आवेऊं, सेयंते मरणं भवे ॥

'हे अपयश-कामी रथनेमि ! तेरे पुरुषार्थ को धिक्कार है, क्योंकि तू मात्र असंयम से जीने के लिये वमन किये हुए भोग को फिर से भोगने की इच्छा कर रहा है, इससे तो मर जाना अच्छा है।"

अरे दुर्बुद्धि निम्न सुबोध पद के अर्थ का विचार कर:—

वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं ।
नचापि भग्नं चिरसंचितं व्रतं ॥

वरं हि मृत्युः सुविशुद्ध कर्मणा ।
न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥

"धधकती हुई अग्नि में प्रवेश करना अच्छा किन्तु चिरकाल से संचित व्रत को भंग करना नहीं अच्छा। शुद्धकर्म करते हुए मरना अच्छा किन्तु शीलव्रत (ब्रह्मचर्य) का भंगकर के जीना नहीं अच्छा।"

इस प्रकार सती राजमती ने रथनेमि को धर्मोपदेश दिया जिससे रथनेमि को ज्ञान की प्राप्ति हुई उसने चारित्र धर्म को स्वीकार किया। बाद में राजमती ने भी चारित्र धर्म को स्वीकार कर लिया।

एक समय मुनि रथनेमि पर्वत की गुफा में कायोत्सर्ग करके ध्यान मग्न बैठे थे। उसी समय राजमती अपने गुरु को वन्दना करने गई हुई थी। जब गुरु वन्दना मे लौट रही थी तो रास्ते में वर्षा होने लगी अतः वह भी उसी गुफा में चली गई जिसमें मुनि रथनेमि पहले से ही ध्यान मग्न बैठे थे। गुफा में अन्धेरा होने से उसे एक तरफ ध्यान मग्न बैठे रथनेमि दिखाई नहीं दिये। राजमती ने वर्षा से भीगे हुए कपड़े उतार कर गुफा में सुखा दिये। उसी समय बिजली चमकने से रथनेमि ने राजमती के नग्न शरीर को देखा और वह कामातुर होकर राजमती के पास आया। उसको आते हुए देखकर राजमती ने तुरन्त वस्त्र पहन लिये। कामातुर रथनेमि की चित्तवृत्ति को जानकर सती राजमती ने उसे जो उपदेश दिया था, उसे सूत्रकार ने निम्न गाथा में कहा है—

"अहं च भोगारायस्स, तंचसि अन्धगविरिणहरणो।
मा कुले गंधरणा होमो, संजमं निहुओ चर॥"

"रथनेमि! मैं भोजराज राजा उग्रसेन की कन्या हूं और तुम अंधकवृष्टि समुद्र विजय राजा के पुत्र हो। ऐसे उत्तम कुल में जन्म लेकर हम दोनों यदि वमन किये हुए विष जैसे विषयों के रस का पान करेंगे तो गंधक जाति के सर्प के समान अपने-अपने कुलों को कलंकित करेंगे। अतः तुम अपने मन को स्थिर रख कर संयम का दोष रहित पालन करो।"

जइ तं काहिसिभावं, जा जा दिच्छसिनारिओ।
वाया विद्धुव्य हडो, अट्ठि अप्पा भविस्ससि॥

"रथनेमि! तुम जिन-जिन स्त्रियों को देखोगे यदि उन सब पर इसी प्रकार कामासक्त बनोगे तो जल पर पवन से

डोलते हुए घास के तृण की भाँति अस्थिर आत्मा वाले बन जाओगे।"

> तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं।
> अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइयो ॥

"संयमवती साध्वी राजमती के ऐसे प्रेरक वचन सुनकर अंकुश से वशीभूत हाथी की तरह रथनेमि फिर से अपने संयम धर्म में स्थिर हुआ।"

मुनियों ! राजमती और रथनेमि का उपर्युक्त प्रसंग तुम्हें मन में बैठा लेना चाहिये। वमन किये हुए पदार्थ को फिर से भक्षण करने का दृष्टांत संयम (व्रत) से गिरते हुए व्यक्ति को दृढ करने के लिये अचूक है, इसी दृष्टांत से रथनेमि का जीवन कृतार्थ हुआ था। मलिन भाव से भ्रष्ट होने को तैयार रथनेमि को सती राजमती ने भ्रष्टाचार से बचाया था। हे मुनियों ! यह उत्तम दृष्टांत तुम्हें सर्व प्रकार से मनन करने योग्य है। यदि तुम इस बोधदायक दृष्टांत को मनन करोगे तो तुम अपने जीवन को भली प्रकार सुधार सकोगे। इससे वमन किये हुए भोगों को फिर से भोगने की इच्छा नहीं होगी।

इतना कहकर दीक्षादेवी जाने के लिये तैयार हुई। जाते-जाते उन्होंने उच्च स्वर से कहा, "मुनियों ! अब मैं जा रही हूं। 'दशवैकालिक सूत्र' का श्रामण्यपूर्वक नामक यह दूसरा अध्ययन तुम अपने हृदय में स्थापित करना। इन विद्वान मुनि के पास से इस महासूत्र का अध्ययन व पठन करते रहना। उसके पश्चात् इन विद्वान मुनि को इनके गुरु सुधा विजय से मिलन करवा देना। जब ये मुनि संपूर्ण शास्त्रज्ञ हो जायें तब अपने योग्य शिष्यों को इनके पास जैन आगमों के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भेजना, जिससे तुम इस भरत क्षेत्र में धर्म कीर्ति संपादित कर चरित्र धर्म के विजय का ध्वज इस जैन जगत में लहरा कर अंत में मुक्ति मार्ग के पथिक बन सको।"

इतना कह कर दीक्षाकुमारी वहां से अदृश्य हो गई और साधु उस पवित्र देवी की प्रतिमा को इधर-उधर देखने लगे। दीक्षाकुमारी के चले जाने के बाद वरिष्ठ मुनि और उनके शिष्यों को बहुत पश्चाताप हुआ। उनके चित्त में दीक्षादेवी के उपदेश का इतना जोरदार असर हुआ कि वे दूसरे ही दिन उस नगर से विहार कर अन्यत्र जाने के लिये चल पड़े। साथ ही उन्होंने वस्त्र, पुस्तकें, लेखनी आदि विशेष परिग्रह का भी उसी समय त्याग कर दिया।

प्रवास (3)

नदी के सुन्दर तट पर एक सुन्दर नगर दिखाई दे रहा था। इस नगर के बीच में एक विशाल उपाश्रय था। उसमें अमुक साधु निरंतर रहते थे। उस उपाश्रय की भूमि साधुओं के सतत निवास से सुशोभित और स्वच्छ थी। उसकी सुन्दरता ने विरागी साधुओं को रागी बनाया था और संयमी को असंयमी बनाया था। कितने ही मुनि तो प्रति वर्ष वहीं पर चातुर्मास करते और उस भूमि का लाभ लेते।

उपाश्रय के आस-पास गृहस्थ जैनों के भवन थे। जिससे वहाँ ठहरने वाले साधुओं को आहार पानी की विशेष अनुकूलता रहती थी। विविध प्रकार के मिष्ठान्न, सुगंधित चाय, कॉफी और सूखे मेवे आदि से साधु प्रतिलाभित होते थे जिससे अनगार साधु उस उपाश्रय में रहकर सागार जैसे हो जाते थे।

इस अनुकूलता का लाभ मात्र एक संगठन के साधुओं को मिलता था क्योंकि चिरकाल से रागी बने हुए श्रावक उस उपाश्रय में दूसरे साधुओं को घुसने ही नहीं देते थे। इससे दूसरे संगठन के विद्वान, शुद्ध, संयमी और वक्ता साधुओं का लाभ उस नगर की प्रजा को नहीं मिल पाता था। इससे कुछ निष्पक्ष श्रावकों के मन को चोट भी लगती थी और संघ में विद्वेष बढ़ता था।

पवित्र दीक्षाकुमारी उस नगर की सीमा में उतरी। वह नगर एक न्यायी और उत्तम राजा की राजधानी होने से सर्व प्रकार से सुशोभित व सुखी था। राजा की प्रजा पर और प्रजा की राजा पर प्रीति थी। प्रत्येक नागरिक को राज्य की तरफ

से हर प्रकार की मदद मिलती अतः वहाँ की राज भक्त प्रजा सर्वदा राजा की शुभ चिंतक रहती। ऐसा सुन्दर नगर देखते-देखते दीक्षाकुमारी नगर के चौराहे पर आयी। यह देखती हुई महादेवी आगे बढी। यहाँ मार्ग में चिंतित और आश्रय की खोज करते एक महामुनि उसे दिखाई दिये। मुनि की प्रसन्न और शांत मुद्रा देख दीक्षाकुमारी को भी आनद हुआ। पर मुँह पर चिंता के भाव देखकर उन्होंने खिन्न होकर कहा. "महाराज आप कौन हैं? कहां जा रहे हैं? आपकी मुख मुद्रा पर ग्लानि क्यों है?"

मुनि ने आनंदपूर्वक कहा, "महानुभावा! पहले तो मैं आपके बारे में जानना चाहता हूं। फिर भी पहले आपने पूछा है. इसलिये मैं अपना वृत्तांत सुनाता हूं।" मैं एक जैन मुनि हूं। यात्रा करते हुए इस देश में पहुंच गया हूं। आज लंबा बिहार कर विश्रांति लेने के लिये यहां आया पर ठहरने के लिये कोई स्थान मिला नहीं। अतः स्थान का पता लगाने के लिये यहाँ इधर-उधर फिर रहा हूं। दीक्षाकुमारी ने साश्चर्य कहा— "मुनिराज! यह क्या कह रहे हैं? यह नगर तो जैन धर्म की राजधानी जैसा दिखाई दे रहा है, फिर भी क्या आपके जैसे पवित्र मुनि को ठहरने का स्थान नहीं मिलता? महाराज! यह सुनकर मुझे तो आश्चर्य होता है। आप किसी श्रावक गृहस्थ से मिले या नहीं?"

मुनि ने सखेद कहा, "माता! यहां साधुओं के ठहरने के लिये एक सुन्दर उपाश्रय है, पर उसमें मुझे स्थान नहीं मिल सका।" दीक्षाकुमारी ने पूछा उसका क्या कारण है! मुनि ने कहा, "देवी! वर्तमान काल विपरीत है। इस भयंकर समय ने हमारे चारित्र धर्म पर विशेष हमला करना शुरु किया है। श्रावक गृहस्थ पक्षपाती हो गये हैं। मुनि उपाश्रयों को अपना घर बनाते जा रहे हैं। घर की ममता का त्याग करने वाले मुनि उपाश्रय पर ममत्व करने लगे हैं। इससे मेरे जैसे अपरिचित अनगार को रहने का स्थान नहीं मिल पाता।" मुनि ने सखेद कहा,

"देवी ! इस नगर में जो एक विशाल उपाश्रय है। मैं किसी श्रावक को पूछकर वहां ठहरने के लिये गया और थककर वहां विश्राम किया, इतने में ही दो गृहस्थ श्रावक मेरे पास आये और मुझे सापेक्ष कहा, "मुनि आप इस उपाश्रय में क्यों उतरे हैं ? यह उपाश्रय तो हमारे साधुओं के लिये है। किसी दूसरे संगठन के मु.न को यहां ठहरने का स्थान नहीं मिलता। फिर आज हमारे पूज्य मुनि महाराज यहां आने वाले हैं, अतः आप यहां से चले जाइये।"

उस गृहस्थ के ऐसे वचन सुनकर मैं तो आश्चर्य में पड़ गया और हृदय में विचार करने लगा, "ओह ! क्या इस देश में ऐसा मोह और ऐसी रागात्मक दशा है। जैन वहुल ऐसे इस नगर में जब ऐसी भेद बुद्धि और ममत्व हो तो फिर दूसरे स्थानों में भी ऐसा ही होता हो तो कौन से आश्चर्य की बात है ? ऐसा विचार कर मैं कुछ भी बोला नहीं और वहां से उठकर चला आया।"

"धर्ममाता ! अब मैं अपने ठहरने के लिये किसी स्थान की खोज में हूं। अभी तक मुझे कोई स्थान मिला नहीं है, इससे विहार की थकान से थका हुआ मैं इस नगर में इधर-उधर भटक रहा हूं।" माता ! मुझे ऐसा लग रहा है कि इस नगर के श्रावक मुझे आहार-पानी भी नहीं देंगे क्योंकि अमुक संगठन के प्रति राग-ग्रस्त उन लोगों के मन में ऐसे दुराग्रह भी होंगे ही।"

मुनि के ऐसे वचन सुनकर दीक्षाकुमारी को विशेष चिंता हुई और उन्होंने शोकाकुल होकर कहा. "मुनिराज ! क्या इस नगर की जैन प्रजा ऐसी स्थिति में पहुंच गई है। क्या कोई भी भव्य श्रावक इस नगर में नहीं रहता होगा ? यदि यह बात सत्य हो तो फिर जैनपुरी जैसे दिखते इस नगर को यमपुरी ही समझना चाहिये।"

इस प्रकार दीक्षाकुमारी और मुनि में बातचीत हो रही थी, इतने में ही दो श्रावक वहां आ पहुंचे और मुनि को आग्रह

पूर्वक एक दूसरे स्थानक में ठहराया, जहाँ मुनि ने आहार-पानी लेकर विश्राम किया।

फिर पवित्र और दयालु दीक्षादेवी वहाँ से चलकर नगर के विशाल उपाश्रय में पहुंची। वहां उन्होंने उपाश्रय को पहले की तरह अलंकृत देखा और उसमें कई साधुओं को गृहस्थ की तरह वहाँ बसा हुआ पाया। यह देखकर दीक्षा-कुमारी विचार में पड़ गई, "ओह! वर्तमान काल का कैसा उल्टा प्रभाव है। उपाश्रय घर बन गये हैं और साधु गृहस्थ। रागी श्रावक अपने गुरुओं का अध:पतन कर रहे हैं और लोभी साधु अपने आचरण से भ्रष्ट होते जा रहे हैं। उनके हृदय में गच्छ और अपने संगठन की भेद बुद्धि दृढ़ता से जमी हुई है। ऐसे साधुओं के उद्धार की आवश्यकता है और उसी के लिये मैंने भारतवर्ष में अवतरण किया है।"

ऐसा विचार कर दीक्षाकुमारी उपाश्रय के एक भाग में आकर प्रकट हुई और हंसकर कहा, "वृद्ध मुनि आप विद्वान हैं और आपके साधु भी विद्या के उपासक हैं, यह मुझे मालूम है, पर आपके चारित्र गुण में जो कमी आ गई है; वह आपको अभी मालूम नहीं हुई है, मुझे ऐसा लग रहा है। कई मुनि पर उपदेश में तो पंडित होते हैं, पर अपने में रहे हुए दोष को वे नहीं पहचान सकते। कभी ज्ञानावर्णी कर्म का क्षय हुआ हो तो सब विद्या तो प्राप्त हो जाती है, पर उसमें चारित्र गुण की पूर्णता तो प्राप्त नहीं हो सकती। कई साधु विद्वान तो होते हैं पर चारित्र गुण से रहित होते हैं। जहां विद्या हो वहाँ चारित्र होना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। कई साधु तो विद्या के घमंड में चारित्र को दूषित करने वाले होते हैं। ज्ञान के अभिमान से तन कर वे अंधे की तरह अपने सदा-चार के मार्ग को नहीं देख पाते। हे वृद्ध मुनि! आप जैसे विद्वान हैं वैसे संयमी नहीं। यदि आप वास्तव में संयम का पालन करने वाले हैं तो फिर इस नगर में चिरकाल से क्यों बसे हैं? इतना ही नहीं, पर यहाँ के श्रावकों को अपने परिचय से

रागी बनाकर अन्य विद्वान साधुओं का अपमान क्यों करवा रहे हो ? तुम्हारे राग में अंधे बने हुए श्रावक इस उपाश्रय पर तुम्हारी ही सत्ता रखने के इच्छुक हैं और तुम्हें भी उसमें दृढ़ आसक्त बनाते हैं। हे वृद्ध मुनि ! आप तो अब वृद्धावस्था को प्राप्त हुए हैं अतः आपकी आत्मिक उन्नति अब अन्य प्रकार से संभव नहीं, पर यदि आप अपने इन युवा और बालक शिष्यों को अपनी जैसी अनुचित वृत्ति वाले नहीं बनाना चाहते हो तो उसके लिये प्रयत्न करो। जो स्वयं डूबे और दूसरों को भी डुबावे, वह अधम गुरु कहलाता है, इस बात को ध्यान में रखें।"

"वरिष्ठ मुनि ! आप विद्वान हैं, आपने आर्हत शास्त्रों का वाचन किया है और दूसरों को कराया है। आपके जैसे शास्त्र सम्पन्न मुनि को मुझे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। आप खुद अपने हृदय में जानते होंगे कि यति धर्म कैसा दुःसाध्य है और मुनियों के आचार कैसे दुःसाध्य हैं ? फिर भी आप अपने आचार मार्ग को दूषित करते हैं और जानते हुए भी उल्टे मार्ग पर चलते हैं, यह कैसी उल्टी बात है ? पहले तो आपको इस नगर की और इस उपाश्रय की ममता नहीं रखनी चाहिये। आपके विशेष परिचय से श्रावक आपके रागी (आसक्त) बनते हैं जिससे वे आपके प्रति दुराग्रह रखने लगते हैं। इन श्रावकों का दुराग्रह आपके यतिधर्म को दूषित कर देता है। हे विद्वान मुनि ! दीर्घ दृष्टि से विचार करोगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि आप अपने सनातन मुनि मार्ग को दूषित कर रहे हैं। आप विद्वान और जैन आगम के जानकार हैं, आपके उपदेश का लाभ भारतवर्ष की सब प्रजा को मिलना चाहिये। देश-देश में विहार कर अनेक भव्य जीवों का उद्धार करना चाहिये। यदि आपके चातुर्मास एक ही क्षेत्र में न होकर अलग-अलग क्षेत्रों में हों तो कितनी जैन प्रजा को लाभ मिले। फिर आपके ये कुछ शिष्य जो विद्वान बने हैं, उन्हें भी जत्थाबंध आपके पास नहीं रखना चाहिये। उन्हें विविध क्षेत्रों में विहार कराकर धर्म का प्रचार करवाना चाहिये। यदि

पूर्वक एक दूसरे स्थानक में ठहराया, जहाँ मुनि ने आहार-पानी लेकर विश्राम किया।

फिर पवित्र और दयालु दीक्षादेवी वहाँ से चलकर नगर के विशाल उपाश्रय में पहुंची। वहां उन्होंने उपाश्रय को पहले की तरह अलंकृत देखा और उसमें कई साधुओं को गृहस्थ की तरह वहाँ बसा हुआ पाया। यह देखकर दीक्षा-कुमारी विचार में पड़ गई, "ओह! वर्तमान काल का कैसा उल्टा प्रभाव है। उपाश्रय घर बन गये हैं और साधु गृहस्थ। रागी श्रावक अपने गुरुओं का अधःपतन कर रहे हैं और लोभी साधु अपने आचरण से भ्रष्ट होते जा रहे हैं। उनके हृदय में गच्छ और अपने संगठन की भेद बुद्धि दृढ़ता से जमी हुई है। ऐसे साधुओं के उद्धार की आवश्यकता है और उसी के लिये मैंने भारतवर्ष में अवतरण किया है।"

ऐसा विचार कर दीक्षाकुमारी उपाश्रय के एक भाग में आकर प्रकट हुई और हंसकर कहा, "वृद्ध मुनि आप विद्वान हैं और आपके साधु भी विद्या के उपासक हैं, यह मुझे मालूम है, पर आपके चारित्र गुण में जो कमी आ गई है; वह आपको अभी मालूम नहीं हुई है, मुझे ऐसा लग रहा है। कई मुनि पर उपदेश में तो पंडित होते हैं, पर अपने में रहे हुए दोष को वे नहीं पहचान सकते। कभी ज्ञानावर्णी कर्म का क्षय हुआ हो तो सब विद्या तो प्राप्त हो जाती है, पर उसमें चारित्र गुण की पूर्णता तो प्राप्त नहीं हो सकती। कई साधु विद्वान तो होते हैं पर चारित्र गुण से रहित होते हैं। जहां विद्या हो वहाँ चारित्र होना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। कई साधु तो विद्या के घमंड में चारित्र को दूषित करने वाले होते हैं। ज्ञान के अभिमान से तन कर वे अंधे की तरह अपने सदा-चार के मार्ग को नहीं देख पाते। हे वृद्ध मुनि! आप जैसे विद्वान हैं वैसे संयमी नहीं। यदि आप वास्तव में संयम का पालन करने वाले हैं तो फिर इस नगर में चिरकाल से क्यों बसे हैं? इतना ही नहीं, पर यहाँ के श्रावकों को अपने परिचय से

रागी बनाकर अन्य विद्वान साधुओं का अपमान क्यों करवा रहे हो ? तुम्हारे राग में अंधे बने हुए श्रावक इस उपाश्रय पर तुम्हारी ही सत्ता रखने के इच्छुक हैं और तुम्हें भी उसमें दृढ़ आसक्त बनाते हैं। हे वृद्ध मुनि ! आप तो अब वृद्धावस्था को प्राप्त हुए हैं अतः आपकी आत्मिक उन्नति अब अन्य प्रकार से संभव नहीं, पर यदि आप अपने इन युवा और बालक शिष्यों को अपनी जैसी अनुचित वृत्ति वाले नहीं बनाना चाहते हो तो उसके लिये प्रयत्न करो। जो स्वयं डूबे और दूसरों को भी डुबावे, वह अधम गुरु कहलाता है, इस बात को ध्यान में रखें।"

"वरिष्ठ मुनि ! आप विद्वान हैं, आपने आर्हत शास्त्रों का वाचन किया है और दूसरों को कराया है। आपके जैसे शास्त्र सम्पन्न मुनि को मुझे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। आप खुद अपने हृदय में जानते होंगे कि यति धर्म कैसा दुःसाध्य है और मुनियों के आचार कैसे दुःसाध्य हैं ? फिर भी आप अपने आचार मार्ग को दूषित करते हैं और जानते हुए भी उल्टे मार्ग पर चलते हैं, यह कैसी उल्टी बात है ? पहले तो आपको इस नगर की और इस उपाश्रय की ममता नहीं रखनी चाहिये। आपके विशेष परिचय से श्रावक आपके रागी (आसक्त) बनते हैं जिससे वे आपके प्रति दुराग्रह रखने लगते हैं। इन श्रावकों का दुराग्रह आपके यतिधर्म को दूषित कर देता है। हे विद्वान मुनि ! दीर्घ दृष्टि से विचार करोगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि आप अपने सनातन मुनि मार्ग को दूषित कर रहे हैं। आप विद्वान और जैन आगम के जानकार हैं, आपके उपदेश का लाभ भारतवर्ष की सब प्रजा को मिलना चाहिये। देश-देश में विहार कर अनेक भव्य जीवों का उद्धार करना चाहिये। यदि आपके चातुर्मास एक ही क्षेत्र में न होकर अलग-अलग क्षेत्रों में हों तो कितनी जैन प्रजा को लाभ मिले। फिर आपके ये कुछ शिष्य जो विद्वान बने हैं, उन्हें भी जत्थाबंध आपके पास नहीं रखना चाहिये। उन्हें विविध क्षेत्रों में विहार कराकर धर्म का प्रचार करवाना चाहिये। यदि

दीक्षाकुमारी के वचन सुनकर वे वरिष्ठ मुनि भयभीत हुए और कांपते हुए कहा "महादेवी ! क्षमा करो। आपका कहना यथार्थ है। आप दया धर्म की दयालु माता हैं। आपकी कृपा से ही हमारा निभाव हो रहा है। हम अपने आचार को भूल गये हैं। सिर्फ झूठा आडंबर कर हम अपने मुनि धर्म का दिखावा कर रहे हैं। धर्म माता ! अब आप हमारा उद्धार करने की कृपा करें और हम में धर्म का प्रकाश प्रकटाकर हमारे हृदय के अंधकार को दूर करें। हे माता ! आपके प्रभाव से ही इस संसार में हमारी पूजा होती है, हमारा बहुमान होता है और सत्कार होता है।"

पन्यासजी के विनीत वचन सुनकर दीक्षाकुमारी प्रसन्न हुईं। उनके निर्मल चित्त में लगा कि अब यह मुनि ठिकाने पर आ गये हैं, अब इनको शिक्षा देना ठीक रहेगा। ऐसा सोच कर पवित्र दीक्षाकुमारी ने मृदुल हास्य पूर्वक कहा, "पन्यासजी ! आपने 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन किया है, उसके तीसरे अध्याय सावधान होकर सुनो—

"संजमे सुट्ठियप्पाणं, विमुक्कोण ताइणं।
तेसिमेय मणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं॥"

'जिसकी आत्मा संयम में अच्छी तरह रमी हुई है, जो बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से मुक्त हैं, जो अपने और अन्य के रक्षक हैं और जो निर्ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह ममत्व स्वरूप ग्रन्थि से रहित हैं, ऐसे महर्षियों को निम्नोक्त आचरण नहीं करना चाहिये—

"उद्देसियं कीयगडं, नियागमिहिम, णि य।
राइभत्ते सिणाणी य, गंधमल्ले य वीयणे॥

"साधु के उद्देश्य से आहार बनाना, उसके लिये खरीद कर लाना, आमंत्रित घर से आहार ग्रहण करना, दूसरे गाँव से साधु के लिये लाना, रात्रि भोजन करना स्नान आदि करना,

सुगंधित पदार्थों का प्रयोग करना, सुगंधित पुष्पों की माला पहनना और पंखे से हवा करना—यह साधुओं के आचरण करने योग्य नहीं है।"

इन दो गाथाओं को कह कर दीक्षाकुमारी ने मुनि से पूछा 'पन्यासजी ! कहिये उपर्युक्त दो गथाएँ आपके विचार के लिये कितनी उपयोगी हैं ? इन गाथाओं का उद्देश्य क्या है, यह तो आपको मालूम ही होगा ?"

पन्यासजी ने नम्रता से कहा—"महादेवी ! मैं जानता हूं या नहीं, आप कृपा कर मुझे इनका विवेचन सुनाइये।" दीक्षा-कुमारी ने सोत्साह कहा "आप और आपके साधु ध्यानपूर्वक सुनें—

प्रथम तो प्रत्येक चारित्रधारी मुनि को धीरज धारण करना चाहिये। आचार के ज्ञान बिना इस गुण को धारण करना मुश्किल है। मुनि का आचार दो प्रकार का है। एक प्रधानाचार और दूसरा क्षुल्लकाचार। इस तीसरे अध्ययन में क्षुल्लकाचार का वर्णन है, इसी से इस अध्ययन का नाम क्षुल्लकाचार कथा रखा गया है। साधुओं को कैसा आचरण नहीं करना चाहिये, यह पहली गाथा में बताकर दूसरी गाथा में उन न करने योग्य आचरणों का वर्णन किया गया है। हे मुनियों ! आपको पहली गाथा पर गहन विचार करना है। पहले तो साधु कैसे हों ? इसको प्रकटाने के लिये पांच विशेषणों का प्रयोग किया गया है। जिसकी आत्मा संयम में रमी हुई है वही सच्चा साधु है, क्योंकि साधुओं को 70 प्रकार का संयम पालन करना चाहिये। आप जैसे विद्वान साधु तो उसे भली प्रकार जानते होंगे। जब आपकी आत्मा संयम में स्थित हो जाय तभी आप बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से मुक्त हो सकते हैं। ऐसी स्थिति को विप्रमुक्त कहते हैं जो दूसरा विशेषण है। फिर आपको स्व-पर रक्षक कहा है, जो आपके लिये बहुत ही उत्तम प्रकार का विशे-षण है। प्रत्येक बुद्ध, तीर्थंकर और स्थविर इन तीनों को स्व-पर

रक्षक कहा गया है। इनमें प्रत्येक बुद्ध मात्र अपना रक्षरण करता है तीर्थंकर केवली होने से अन्य को सम्यक्त्व आदि देकर पर रक्षरण करते हैं क्योंकि उन्हें अपना रक्षरण करने की आवश्यकता नहीं होती। पर जो स्थविर हैं वे मुक्त होते हैं और दूसरों को भी मुक्त कराते हैं अत: वे वास्तविक स्व-पर रक्षक हैं। हे मुनियों! इन विशेषरणों का प्रयोग आपके लिये ही हुआ है। आप विचार करें कि आप में यह गुरण, कितनी मात्रा में है। जब आप स्वयं अपने आचररण से भ्रष्ट बन और दूसरों को भी अपने आचररण से भ्रष्ट होने की प्रेररणा दें, तब आपको स्व-पर रक्षक कैसे कहा जाय? इस विषय में अधिक क्या कहूं, आपको स्वयं अपने हृदय में समझना चाहिये।"

उसके पश्चात् साधु को निर्ग्रंथ विशेषरण दिया गया है। यह एक ही विशेषरण आपके उत्तम गुरण को सूचित करता है। जिनमें परिग्रह की ममता न हो वे निर्ग्रंथ कहलाते हैं। आपमें यह कैसी ममता है, जरा विचार करें। आपके इस उपाश्रय में कितना परिग्रह इकट्ठा हो रहा है। कतारबद्ध अल्मारियें, उत्तम प्रकार के लिखने के डेस्क, कलमें, अप्रसाक्त स्याही से भरे हुए दवात और विविध भाँति के कागज, यह सब आपके निर्ग्रंथ पद को समाप्त करते हैं। कदाचित् इन सब को ज्ञान के साधन समझकर आप इन्हें उपग्रह न मानें पर जो उच्च प्रकार की कंबलें, धूंसे सरवती मलमलें और रेशमी चादरों की गठड़ियें भरी पड़ी हैं, क्या उन्हें भी परिग्रह नहीं कहेंगे?

हे साधुओं! ऊपर कहे विशेषरणों से युक्त ही सच्चे मुनि हैं और उनके लिये ही 'दशवैकालिक सूत्र' में अन-आचरणीय कार्यों की शिक्षा दी गई है। क्योंकि जो सच्चे मुनि नहीं हैं उनके लिये तो आचरणीय और अनाचरणीय जैसा कोई भेद है ही नहीं. उनके लिये तो सब अनाचरणीय ही हैं। हे मुनियों! आपके लिये क्या-क्या अनाचरणीय अर्थात् आचरण करने योग्य नहीं है, उसे अब सावधानी पूर्वक सुनें।

सर्वप्रथम मुनि को उद्देशिक अनाचरणीय है। जो विशेष वस्तु मुनि के लिये तैयार करके रखी हो उसे उद्देशिक कहते हैं। ऐसी वस्तु का दान मुनि को ग्रहण नहीं करना चाहिये।

हे अनगारों ! इस विषय में मुझे आपको विशेष कहना है कि वर्तमान काल में आपके रागी श्रावक आपको अधिक दोषी वनाते हैं। आपके प्रति अपनी भक्ति और प्रीति दिखाने के लिये कई वस्तुएं वे खास आपके लिये ही तैयार करवा कर रखते हैं, फिर उस वात को छिपाकर वड़े प्रेम से वे आपको वह वस्तु प्रदान करते हैं। यह वड़ा उद्देशिक दोष आधुनिक समय में प्रवर्तित हुआ है। हे मुनियों ! आप तर्क करेंगे कि इसमें हमारा क्या दोष ? इसमें तो श्रावक ही दोषी हैं। पर आपका यह तर्क आपको दोष मुक्त नहीं कर सकता क्योंकि आप एक स्थान पर अधिक समय तक रह कर श्रावकों से परिचित वनते हैं जिससे वे आपमें रागासक्त हो जाते हैं, इसी से वे आपको अपनी भक्ति दिखाने के लिए उद्देशिक दोष लगाते हैं।

दूसरा दोष क्रीत कृत है। जो वस्तु साधु के लिये खरीद कर रखे और फिर साधु को दान में दे उसे क्रीतकृत दोष कहते हैं। आजकल यह दोष तो क्षण-क्षण में घटित होता होगा। विद्वान साधु इस दोष को जानते हुए भी वोलने की चतुराई से अपनी इच्छा प्रकट कर देता है, फिर रागी श्रावक उनकी वह इच्छा पूरी करने के लिये वह वस्तु खरीद कर रखते हैं, फिर उन्हें अर्पण करते हैं। हे मुनियों ! सच कहना वर्तमान में इस परिचित नगर में आपको यह दोष लगता है कि नहीं ?

उस सयम एक सत्यवादी वालक मुनि ने विनयपूर्वक कहा, "देवी ! आप जो कह रही हैं वह सत्य है, कल ही ऐसा एक प्रसंग वन गया था।"

वात कही वह यथार्थ है और वह आपके अनाचार को सिद्ध करती है। ज्ञानी साधु पुरुष को अपने अवगुण स्वीकार करने चाहिये क्योंकि अपने दोष को ढकने वाले पुरुष प्रतिदिन विशेष दोष के पात्र वनते जाते हैं।

हे मुनियों ! नियाग नामक तृतीय अनाचरणीय है। जो निमंत्रण दे उसके घर से आहार लेना और जो निमंत्रण न दे उसके यहां से आहार न लेना, ऐसी प्रवृत्ति को नियाग कहते हैं। इस नियाग दोष से साधुओं का आचार विल्कुल नष्ट होता है। वर्तमान समय में कितने ही रागी श्रावक अपने गुरुओं को इस दोष में विशेष रूप से आकर्षित करते हैं और रागी साधु उस दोष में पड़ते है। थोड़े दिन पहले एक नगर में साधुओं के इस अनाचार को मैंने अपनी आंखों से देखा है। अनेक श्रावकों को अपने घर अच्छी विकृति पैदा करने वाली वस्तुओं का योग होने पर, साधुओं के उपाश्रय पर आकर उन्हें ग्रहण करने की विनती करते हुए देखा है और तव मैंने उनको अच्छी तरह से शिक्षा दी है।

हे विद्वान मुनियों ! आपको यह नियाग दोष न लगे, इस विषय में आप सावधान रहें और दोष को उत्पन्न करने वाले श्रावकों को ऐसी शिक्षा दें कि जिससे वे आपको इस दोष से पतित न करें।

चौथा अभ्याहृत नामक अनाचरणीय है। दूसरे गाँव से आये हुए पुरुष अपने साथ साधुओं के लिये जो पदार्थ लावें उसे ग्रहण करना अभ्याहृत दोष कहलाता है। इस दोष से भी साधुओं को दूर रहना चाहिये। आजकल रागी श्रावक अपने गुरु की भक्ति के लिये यह दोष विशेष रूप से उत्पन्न करते हैं। कुछ साधु भी ऐसी वस्तुएँ पार्सल द्वारा मंगवाते हैं। अनेक प्रकार की भेंटें, पार्सलें और रजिस्ट्रियें साधुओं के नाम से आती हैं। हे मुनियों ! आप भी इस अभ्याहृत के भागी हुए होंगे क्योंकि आप लंवे समय से इस स्थान पर रहते हैं। कदाचित् आप इस

दोष से वचने के लिए किसी गृहस्थ श्रावक के मार्फत विदेशी पदार्थ मंगाते होंगे, पर उससे आपका यह दोष दूर नहीं हो सकता। क्योंकि यह दोष दूसरी भाँति भी लागू पड़ता है। चाहे जिस तरीके से किया हो पर यदि उसका उद्देश्य एक ही है तो वह किसी प्रकार निर्दोष नहीं कहा जा सकता। हे मुनियों! आप इस अभ्याहृत नामक दोष का आचरण नहीं करें, क्योंकि यह अनाचार आपके साधु धर्म को नष्ट करता है।

पाँचवां रात्रि भोजन अनाचरणीय है। इसका तो कोई नाम धारी साधु भी आचरण करता नहीं। अतः इसके बारे में कुछ विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

छट्ठा स्नान नामक अनाचरणीय है। स्नान दो प्रकार से होता है, एक देश-स्नान और दूसरा सर्व-स्नान। मुँह वगैरह अच्छी तरह धोना देश-स्नान और पानी में डूब कर पूरे शरीर को धोना सर्व-स्नान कहलाता है। इसमें से देश-स्नान हो तो उसका भी आपको त्याग करना चाहिये क्योंकि ऐसा स्नान भी शरीर को अलंकृत करने में गिना जाता है।

सातवां गंध नामक अनाचरणीय है। शरीर पर सुगंधित पदार्थ लगाने को गंध अनाचरित दोष कहते हैं। आजकल कितने ही साधु सुख के लिए कई प्रकार के कपूर आदि सुगंधित तेल मंगवाते हैं और रागी श्रावक गुरु भक्ति के लिये वैसे तेल लाकर देते हैं और अपने हाथ से साधुओं के शरीर पर मालिश करते हैं। हे मुनियों! आप में भी यह अनाचार होगा ऐसा मुझे अनुमान से लगता है। कारण कि आपके इस उपाश्रय के एक भाग में अनेक प्रकार की शीशियें पड़ी हैं और उनमें से सुगंध भी आ रही है। फिर आप में से कई साधुओं के शरीर पर जो चमक और कोमलता दिखाई दे रही है, यह सुगंधी तेल की मालिश का ही प्रभाव है। हे चरित्रधारियों! सच-सच कहें, मेरा यह अनुमान ठीक है या नहीं?"

पन्यासजी मंद स्वर में बोले, "महादेवी ! आपका अनुमान यथार्थ है। रागी श्रावक हमेशा रात्रि में आकर हमारे पैर दबाते हैं और कभी-कभी सुगंधी तेल की मालिश भी करते हैं। यह क्रिया हमारे आचरण के विरुद्ध है, यह तो हमें स्वीकार करना ही चाहिये।"

अठवां माल्य नामक अनाचरणीय है। सुगंधी पुष्पों की माला पहनना माल्य अनाचरित दोष कहलाता है। मेरी धारणा है कि यह अनाचार तो अभी प्रवर्तित नहीं है।

फिर नोवां व्यंजन नामक अनाचरणीय है। जब शरीर का गर्मी लगे तब पंखा झलना व्यंजन अनाचरित दोष कहलाता है। इस अनाचार की प्रवृत्ति देखने में नहीं आती, यह संतोष की बात है।

हे मुनियों ! इसके सिवाय भी दूसरे कई अनाचरणीय हैं, जो इस प्रसंग में बताये गये हैं, वह सावधानी पूर्वक सुनें। दशवां संनिधि नामक अनाचरित है। अपने उपाश्रय में घी, गुड़ आदि का संग्रह करना संनिधि अनाचरित कहाता है। इस अनाचार से आत्मा दुर्गति के नजदीक जाती है अतः इसका नाम संनिधि रखा गया है। भोजन के लिये गृहस्थ के घर के पात्र लेना यह ग्यारवां गृह्यमत्र अनाचरित है। राजा द्वारा अर्पित आहार ग्रहण करना बारहवां राजपिंड अनाचरित है। जहाँ बुलाकर भोजन दिया जाता हो, ऐसी दानशाला या सदाव्रत के स्थान में भोजन ग्रहण करना तेरहवां किमिच्छक नामक अनाचरित है। अस्थि, मांस और त्वचा को सुख देने के लिये मालिश करवाना चौदहवां संवाहन नामक अनाचरित है। मुनियों ! इस आनाचार की प्रवृत्ति आप में अधिक चालू है। रात्रि का प्रतिक्रमण होने के बाद रागी श्रावक आपके पैर दबाने को तैयार रहते हैं। कई श्रावक आपके शरीर पर विविध प्रकार के तेल की मालिश करते हैं। यह आपका बड़ा से बड़ा अनाचार है। इस संवाहन अनाचार ने आपके चरित्र को

दूषित कर रखा है। अतः अब से इस अनाचार को दूर करें और अपने मलिन हुए चरित्र को फिर से उज्जवल बनावें।

पन्द्रहवां दंतप्रधावन नामक अनाचरित है। उंगली आदि से दातुन करना तथा मुँह को अच्छी तरह से धोना दंतप्रधावन अनाचरित कहाता है। यह अनाचार तो आप में नहीं होगा, ऐसा लगता है। फिर भी गुप्त रूप से भी यदि यह अनाचार आप लोगों में प्रविष्ठ हुआ हो तो उसका त्याग कर दें जिससे आप शुद्ध धर्म के आराधक कहलायें।

सोलहवां संप्रश्न नामक अनाचरित है। किसी गृहस्थ श्रावक की कुशलता पूछना अथवा अपने शरीर की शोभा के लिये किसी श्रावक से यह पूछना कि "मैं कैसा लगता हूं," यह संप्रश्न अनाचरित कहाता है। हे संवेगी साधुओं! यह दोष आप में है, ऐसा मेरा विश्वास है। जब कोई जाने-पहिचाने गृहस्थ श्रावक आपकी वंदना करने आते हैं, तब आप उनसे ऐसे ही प्रश्न पूछते हैं। अथवा जिस नगर या गाँव में आप पहले कभी गये थे, उस नगर या गाँव की कोई श्राविका या श्रावक जब पहले के राग भक्ति के वश आपको वंदन करने आते हैं तब आप उनसे ऐसी ही बात पूछा करते हैं। कहिये पन्यासजी! यह बात सच्ची है या झूठी?" पन्यासजी ने नम्रता से कहा, "महादेवी! आपका कहना सत्य है, कई बार ऐसे प्रसंग भी बन जाते हैं।"

इस समय नम्रविजय नामक एक सरल प्रवृत्ति के शिष्य बोल पड़े, "धर्ममाता! आपका कहना अक्षरस: सत्य है। मैं स्वयं ही इस दोष का पात्र हूं। थोड़े दिन पहले ही मैंने इस अनाचार का त्याग किया है।

दीक्षाकुमारी ने आग्रह पूर्वक पूछा, "मुनि! आपने किस प्रकार त्याग किया है और किस कारण से किया है?"

नम्रविजय ने नम्रता से कहा, "आज से दस दिन पहले वल्लभीपुर का एक श्रावक अपने कुटुम्ब के साथ सिद्धाचल

पर्वत की यात्रा के लिये गया था, वहाँ से वापसी पर इस नगर में मेरे गुरुजी को और मुझे वन्दना करने आया था। गत वर्ष मैंने पन्यासजी के साथ वल्लभीपुर में चातुर्मास किया था। तब उस गृहस्थ श्रावक के साथ हमारी पहचान हुई थी, इसी से वह विशेष कर हमको वन्दना करने के लिये ही यहाँ आया था। जब वह अपनी स्त्री के साथ भाव पूर्वक वंदना कर बैठ गया तब मैंने यह संप्रश्न नामक अनाचरित प्रकट किया था। उस श्रावक का नाम धर्मचन्द्र और उसकी स्त्री का नाम उजम था। उसके मणि नामक एक युवा पुत्री थी। वह बहुत बुद्धिमान थी और श्रावक-धर्म के आवश्यक ग्रंथों की जानकार थी। मैंने पहले पूछा. भाई धर्मचन्द्र, खुश तो हो न? वल्लभीपुर में दूसरे श्रावक क्या कर रहे हैं? प्रेमजी व उसका भाई वेलचन्द कहाँ है? वे बेचारे बहुत भले श्रावक हैं। झूठा भाई को इस वर्ष कैसा विक्रय है? रामजी और गिरधर परीक्षा में पास हुए या नहीं? दामजी सेठ की बहिन अजवाली क्या पढ़ रही है? जैकोर पार्वती और जीवी ये तीनों विधवा बहिनें क्या कर रही हैं? जीवी की इच्छा दीक्षा लेने की है और उसकी भावना भी अच्छी है। पर उसकी मां पोती के मोह वश उसे अंतराय दे रही है। वृद्धा काशी बाई क्या कर रही है? वल्लभीपुर में उसकी बहुत चर्चा है वह बाई साधुओं की बहुत सेवा करती है, अपने घर में जो कीमती चीज हो, वह पहले साधुओं को देती है।"

इतना पूछने के बाद मैंने धर्मचन्द्र से पूछा कि उसकी पुत्री मणि कहां है? उसे यात्रा में साथ क्यों नहीं लाया? मेरा प्रश्न सुनते ही धर्मचन्द्र व उसकी पत्नि रोने लग गये। उनके नेत्रों से अश्रु धारा बहने लगी। तब मैंने आग्रह पूर्वक पूछा कि श्रावकजी रो क्यों रहे हो? क्या मणि के शरीर को कोई हानि हुई है? मेरा यह प्रश्न सुनते ही धर्मचन्द्र ने रोते-रोते कहा, "साहब मेरा तो जीवन ही बिगड़ गया। मुझ अन्धे की एक आंख अचानक फूट गई। आज-से चार माह पहले मणि मृत्यु को प्राप्त हो गई। महाराजजी, वह चतुर पुत्री मेरे चित्त में से

भुलाई नहीं जाती। आपकी यह श्राविका तो उसके लिये बहुत विलाप करती है। आज चार माह हो गये, यह पेट भर कर भोजन नहीं करती अंत में इसके मन को शांति देने के लिये मैं यात्रा करने निकला और उसी प्रसंग में आपको वन्दना करने भी यहाँ आया। इस मोह ग्रस्त श्राविका को ज्ञान देकर समझाइये।

धर्मचंद्र के उपर्युक्त वचन सुनकर और उजम श्राविका का रुदन देखकर मेरे नेत्रों में भी आंसू आ गये और मैं भी रोने लगा। हम सब का भारी कोलाहल सुन कर पन्यासजी हमारे पास आये और हम सबको समझाया। उस समय पन्यासजी ने मुझे विशेष रूप से शिक्षा दी कि मैं साधु होकर कैसे रो रहा हूं? साधुओं को तो ऐसा मोह नहीं रखना चाहिये। उस वक्त मैंने रोते हुए कहा, "गुरुजी, आप जो बात कह रहे हैं यह सच्ची है, पर मणि वास्तव में बहुत योग्य बालिका थी, वह बहुत बुद्धिमान थी। जब कभी वह मेरे पास भक्तामर स्त्रोत का पाठ करती तब उसके बारीक शुद्ध उच्चारण, कंठमाधुर्य और छंद के वृत्त और ढाल का जो आनन्द आता, वह अवर्णनीय होता। उसके शरीर और स्वर का सौंदर्य मिलता था। वह बालिका इस सेठ के घर में रत्न थी।

मेरे वचन सुनकर पन्यासजी ने कहा, "भद्र! तू जो कह रहा है वह सत्य है, मुझे भी उस बालिका के गुण याद आते हैं, पर क्या करें? कर्म की सत्ता के आगे अपना कुछ चलता नहीं। फिर हम साधुओं को तो ऐसा मोह रखना नहीं चाहिये।" इस प्रकार कह कर जब पन्यासजी चले गये तब मुझे मन में विचार आया, "ओह! मैंने कैसी भूल की। यह धर्मचंद्र सेठ कौन? उसकी स्त्री उजम कौन? उसकी मणि कौन और मैं कौन? उनके साथ मेरा क्या संबंध? कहाँ वे और कहाँ मैं? चारित्रधारी होकर एक सामान्य मोहग्रस्त मनुष्य की तरह रोने लग गया, यह मेरी कैसी मूर्खता है? फिर वल्लभीपुर के अन्य श्रावकों के परिचय से मुझ में कैसा राग उत्पन्न हुआ? मैंने कितने आग्रह

से उनका कुशल समाचार पूछा ? यह मोह मुझ में कहाँ से आया ? मैं कौन हूं ? मेरा स्वरूप क्या है ? और मेरी स्थिति कैसी होनी चाहिये ? इस सब का विचार किये बिना मैं मोह के वशीभूत हो गया ।" यह सोचकर मैंने उसी समय अपने मन में निश्चय किया कि अब से मैं किसी श्रावक या श्राविका के साथ विशेष परिचय नहीं रखूंगा । हे महादेवी ! तब से मैं इस नियम का पालन कर रहा हूं । इस समय आप जब संप्रश्न नामक अनाचरित की व्याख्या कर रही थी, तब मुझे वह बात याद आ गई जो मैंने आपको निवेदित किया है ।"

मुनि नम्र विजय के उपर्युक्त वचन सुनकर दीक्षाकुमारी ने प्रेम से कहा, "मुनिवर ! आपका वृत्तांत सुनकर मुझे बहुत खुशी हुई । अधिक खुशी की बात तो यह कि आपने अपने वृत्तांत को मेरे सामने प्रकट कर दिया । यह संप्रश्न दोष कैसा बलवान है और इससे मुनियों के चरित्र की कितनी हानि होती है, यह बात आपके वृत्तांत से भली प्रकार जानी जा सकती है । वर्तमान समय में साधुओं में यह दोष प्रबलता से फैल रहा है जिससे जैन मुनियों और श्रावक गृहस्थों के बीच बड़ी मात्रा में पत्र व्यवहार चल रहा है । हर वर्ष हजारों पोस्ट की टिकटें मुनियों के लिये खरीदी जाती हैं और मुनि उन्हें आहार-पानी की तरह बड़ी मात्रा में ग्रहण करते हैं । कोई-कोई वरिष्ठ और संघनायक मुनि तो इस तरह पत्र व्यवहार करते हैं जैसे व्यापार की पेढ़ी चला रहे हों । यह सब किसका प्रभाव है ? यदि विचार करेंगे तो मालूम होगा कि यह सब प्रभाव संप्रश्न नामक अनाचरित दोष का है ।

हे मुनियों ! अब आप इस दोष से मुक्त होने का प्रयत्न करें जिससे आप अपने चरित्र को चरितार्थ करने में समर्थ हो सकें ।

सत्तरहवां देहप्रलोकन नामक अनाचरणीय है । दर्पण वगैरह में अपने शरीर की सुन्दरता को देखना देहप्रलोकन अनाचरित कहाता है । वर्तमान में अभी तक तो यह दोष आप में प्रकट नहीं हुआ है, इतना मुझे संतोष है, और आशा रखती हूं कि भविष्य में भी यह दोष आप में प्रकट न हो ।

उद्देशिक वगैरह पहले के नौ अनाचरितों में आरंभ का प्रवर्तन होने से दोष रूप हैं और बाद के सनिधि वगैरह आठ अनाचरितों में परिग्रह और प्राणातिपात आदि होने से दोष रूप हैं।

अट्ठाहरवाँ अष्टापद नामक अनाचरित है। किसी भी प्रकार का जुआ खेलना अष्टापद कहाता है। साधुओं को तो कभी भी ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये। उन्नीसवां नालिका नामक अनाचरित है। जुए में पासा अपनी इच्छानुसार न पड़े तो नालिका की कला से इच्छानुसार पासा डालने की क्रिया को नालिका अनाचरित कहते हैं। इसमें चौपड़ और शतरंज आदि का समावेश होता है। यह प्रवृत्ति आप में नहीं है, इससे मुझे संतोष है।

बीसवां छत्र धारण नामक अनाचरित है। रोगादिकारण बिना सिर पर छत्री रखना साधु के लिये अनुचित है। वर्तमान में यह क्रिया नहीं दिखती अतः संतोष का विषय है। इक्कीसवाँ चैकित्स्य नामक अनाचरित्र है। अपने लिये या दूसरों के लिये सावद्य वैद्य क्रिया करना चैकित्स्य कहाता है साधु को ऐसी क्रिया नहीं करनी चाहिये। यद्यपि यह दुराचार सावद्य रूप में प्रवर्तित नहीं है, तो भी मेरी जानकारी में आया है कि कई शरीर-रक्षा में लुब्ध मुनि इस मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, जो अच्छी बात नहीं है।

बावीसवां उपानह नामक अनाचरित है। अपने पैरों में जूते पहनना उपानह कहाता है। अधिकांश में यह प्रवर्तन दिखाई नहीं देता।

तेवीसवां ज्योति समारंभ नामक अनाचरित है। किसी कार्य के लिये साधु अग्नि का आरंभ करे, उसे ज्योति समारंभ कहते हैं। यह प्रवृत्ति निन्दनीय होने से आप लोगों में अप्रचलित है, यह संतोष की बात है। ये अष्टापद आदि छः अनाचरित बहुत क्षुद्र होने से दोष रूप हैं।

चौबीसवां शय्यातर पिंडनामक अनाचरित है। जो गृहस्थ साधु को सोने का स्थान देकर अपने कर्म हल्के करता है, वह श्रावक शय्यातर कहलाता है। उस गृहस्थ के घर से आहार लेना शैय्यातर पिंड कहाता है। इस दोष के लिये साधुओं को कई वार उपालंभ देना पड़ता है। मेरे जानने में आया है कि कई बार एक ही स्थान पर अधिक रहने से यह दोष साधुओं को दूषित करता है। कई वार साधु लोग शैय्यातर का आडंवर करते हैं और उसके लिये एक घर का त्याग करते हैं पर यह प्रवृत्ति शुद्ध रूप से होती हो इसमें संदेह है, क्योंकि कई वार उसमें चाहिये उतनी शुद्धता नहीं रहती। हे साधुओं ! आप इसमें शक्य शुद्धता रखें और इस दोष में लिप्त न हों।

पच्चीसवां आसंदी और छब्बीसवां पर्यंक इन दोनों अनाचरितों का साधुओं को त्याग करना चाहिये। उच्च कोटि के चटाई आदि आसनों पर बैठने को आसंदी कहते हैं और पलंग, माँचा, खाट, डोली वगैरह को काम में लाने को पर्यंक कहते हैं। आजकल आसंदी अनाचरित की प्रवृत्ति होने लगी है। सुन्दर नक्काशीदार चटाइयें और चौके आदि मुनियों के काम आते हैं। वैसे ही पर्यंक अनाचरित का प्रचार भी कई स्थानों पर देखने में आ रहा है। मुनियों के नायक पन्यास, गणी, आचार्य और प्रवर्त्तक पद को धारण करने वाले मुनियों के आगे उच्च कोटि के पाटे और भांति-भांति के आसन रखे हुए मिलेंगे। हे गुणधारी मुनियों ! तुम्हारे इसी स्थान में इस दोष की प्रबलता दिखाई दे रही है। अतः अब से आप लोग इस दोष का त्याग करें और अपने सर्वोतम गुण चरित्र की रक्षा करें।

सत्ताइसवां गृहांतरशय्या नामक अनाचरित है। दो घरों के बीच में सोना या उपाश्रय से किसी अन्य के घर में जा कर सोना इसे गृहांतरशय्या कहते हैं। इस दोष की प्रवृत्ति विशेष तो दिखाई नहीं देती, पर यदि कभी गुप्त रूप से भी यह दोष लगा हो तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना।

अट्ठाइसवां गात्रोद्वर्त्तन नामक अनाचरित है। शरीर का मैल दूर करने के लिये शरीर पर मालिश (पीठी) करना गात्रो-

दुराचार का सेवन करते हैं। ऐसे अधम मुनि अपने सदाचार से भ्रष्ट होते हैं और चिंतामणिरत्न जैसे उत्तम चारित्र को इस दोष से मलिन करते हैं। हे मुनियों ! यदि आपको चारित्र गुण का सच्चा लाभ प्राप्त करना है और अपने संवेगी जीवन को सार्थक करना है न इस दुराचार का सेवन न करें। उनतीसवां अनाचार है गृहस्थ की वैयावच्च करना अर्थात् उसकी सेवा-शुश्रूषा करना, उसे आहारादि लाकर देना।

तीसवां आजीववृत्तिता नामक अनाचरित है। अपनी जाति और कुल को प्रकट कर जो अपनी पेट भराई करता है उसे आजीववृत्तिता कहते हैं। कितने ही प्रख्यात घराने और कुल के लोग जब दीक्षा ग्रहण करते हैं तब उनमें प्रायः यह दोष देखा जाता है। इस दोष का आपको सर्वथा त्याग करना चाहिये।

इकतीसवाँ तप्तानिवृत्तिभोजित्व नामक अनाचरित है। तीन बार उबले बिना जैसे तैसे गरम किये हुए अप्रासुक जल को ग्रहण करना तप्तानिवृत्तिभोजित्व कहाता है। इस अनाचार से आपको सदा दूर रहना चाहिये।

बत्तीसवां आतुरस्मरण नामक अनाचरित है। भूख, तृषा, सर्दी, गर्मी वगैरह से पीड़ित होने पर पूर्व में भोगे हुए सुख की अवस्था का स्मरण करना आतुरस्मरण कहाता है। वैसे ही यदि कोई रागी श्रावक या उसका संबंधी किसी रोग से पीड़ित हो और उसे उपाश्रय में आश्रय दिया जाय तो यह भी इसी अनाचरित में गिना जाता है। यह दोष बहुत से अपक्व बुद्धि के मुनियों में प्रवर्तित है। मैं समझती हूं कि आपके मुनि मंडल में भी यह दोष प्रकट होता होगा।

इस समय देव विजय नामक एक मुनि ने विनय से कहा, 'धर्ममाता ! आप दयालु माता के सामने मुझे सत्य प्रकट करना चाहिये। एक समय मैं स्वयं भी इस दोष में लिप्त हो गया था।''

दीक्षाकुमारी ने आग्रहपूर्वक पूछा, "हे मुनि ! तुम्हारा यह अनुभव प्रकट करो जिससे इन अन्य साधुओं के हृदय में उसका अच्छा असर हो ।"

दीक्षादेवी के ऐसे वचन सुनकर मुनि देव विजय ने कहा, "धर्मेश्वरी ! एक समय मैं अपने गुरु से आज्ञा लेकर यात्रा पर निकला । मेरे साथ एक छोटे साधु भी थे । हम दोनों यहाँ से विहार कर आगे चले तो रास्ते में एक अनजान गांव में पहुंच गये । उस समय दोपहर हो गई थी । हमें बहुत भूख-प्यास लगी थी । गांव में पूछने पर मालूम हुआ कि वहां किसी श्रावक का घर नहीं है । फिर हम गांव के चौक में जाकर बैठ गये । उस समय एक ब्राह्मण हमारे पास आया जिससे हमने पूछा कि कहीं गरम पानी मिल सकता है क्या ? उसने कहा कि उसके घर पर गरम पानी है । फिर छोटे साधु को मैंने वहां से पानी लाने के लिये भेजा । वह जैसा-तैसा गरम पानी लेकर आया जिसे ठंडा करके हमने पिया । पर कुछ स्वादिष्ट नहीं लगा । फिर भूख की पीड़ा से हम दोनों गाँव के कुछ अच्छे घरों में आहार प्राप्ति के लिये निकले । पर किसी ने हमें आहार नहीं दिया । अन्त में एक कायस्थ वणिक के घर मे ज्वार की रोटी मिली । वह लूखी-सूखी रोटी लेकर हम वापिस चौक पर आये और एक वस्त्र का पर्दा बनाकर आहार करने बैठे, पर वह लूखा आहार हमें जरा भी नहीं भाया ।

हे माता ! उस समय हमें, पहले जो हमने बढ़िया आहार पानी ग्रहण किया था उसका स्मरण हो गया । इतना ही नहीं गृहस्थपन में मैंने जो सुख-विलास भोगे उन सबकी याद आ गई । मैंने अपने मन में सोचा कि ओहो इस शरीर ने जो सुख प्राप्त किये हैं उन सुखों का वर्णन भी नहीं हो सकता । मैं एक गृहस्थ श्रावक का पुत्र था । मेरे पिता के घर में भरपूर समृद्धि थी । विविध प्रकार के खाने–पीने के पदार्थ इच्छानुसार मिलते थे । उन सब का त्याग कर मैंने यह कष्टदायक जैन दीक्षा ग्रहण की । यह कितने साहस का काम है ? खैर, दीक्षा ग्रहण

की वह तो ठीक पर ऐसी कष्टपद यात्रा के लिये क्यों निकला ? जिस नगर में मेरे रागी श्रावक मुझे भक्तिभाव से मानते थे और तन, मन, धन से मेरी सेवा करते थे, इतना ही नहीं पर उच्च कोटि के आहार पानी मुझे प्रेम से प्रदत्त करते थे, ऐसे सुखदायक स्थान को छोड़कर साहस कर मैं ऐसी कठिन यात्रा पर निकला, यह मेरी कैसी मूर्खता है ?"

"हे महादेवी ! इस प्रकार मैंने उस समय इस आतुरस्मरण नामक अनाचरण का सेवन किया था। ऐसा ही एक अन्य प्रसंग भी हुआ था। प्रेमचंद नामक एक मेरा मासी का पुत्र भाई (श्रावक) बीमार हुआ था। उसकी आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी। एक बार वह इस नगर में मेरी सहायता के लिये आया और उसने अपनी सब स्थिति से मुझे अवगत किया। उस समय गृहस्थपन के संबंध के कारण मुझे उस पर दया आ गई। फिर मेरे किसी रागी श्रावक के घर उसे रखने का प्रबन्ध किया। और उसकी दवाई वगैरह के लिये एक अच्छे वैद्य को बुलाकर उसके संरक्षण में प्रेमचंद को रखा। फिर उसे स्वस्थ कर एक वर्ष के खुराक का खर्च दिलाकर मैंने उसे वापस उसके गाँव भेज दिया।"

"धर्ममाता ! इस प्रकार मैंने दोनों तरह आतुरस्मरण अनाचरण का सेवन किया है। आज आप के मुख से यह बात जानकर मुझे बहुत पश्चाताप हो रहा है। अब से मैं कभी भी इस अनाचरण का सेवन नहीं करूँगा। माता ! जिस प्रकार मैंने अपना यह दुराचार आपके समक्ष प्रकट किया, उसी प्रकार यदि दूसरे साधु भी अपने दोषों को प्रकट करें तो मेरी भांति उनको भी बहुत लाभ प्राप्त हो।" इस समय पन्यासजी जरा नाराज होकर बोले, "देव विजय ! तू अपनी बात कर न, बीच में दूसरों को क्यों घसीटता है। अधिक भलमनसाहत बताने की आवश्यकता नहीं है।"

पन्यासजी के उपर्युक्त अरुचिपूर्ण वचन सुनकर दीक्षाकुमारी ने आक्षेप किया, "पन्यासजी ! बस करो, इस पवित्र

साधु पर आक्षेप कर उसका निरादर न करें। ऐसे सच बोलने वाले मुनि को तो धन्यवाद देना चाहिये। इस पर से ऐसा लगता है कि आपके शिष्यों में कई एक छुपे दुराचारी होंगे और उन दुराचारियों, को आपकी तरफ से उत्तेजन मिलता होगा। मुनिराज! आपके जैसे विद्वान मुनि को ऐसा नहीं करना चाहिये। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपका पन्यास पद अकृतार्थ हो जाएगा। फिर यदि आप जैसे वरिष्ठ मुनि ऐसा आचरण करेंगे तो अन्य मुनि आपका अनुकरण किये विना नहीं रहेंगे।"

दीक्षाकुमारी के ऐसे वचन सुनकर पन्यासजी शान्त हुए और उन्होंने नम्रता से कहा, "धर्म जननी! क्षमा करें, आप दयालु देवी को हमारे अपराधों को नहीं देखना चाहिये।"

पन्यासजी के इन वचनों से शान्त हुई दीक्षाकुमारी ने अपना उपदेश आगे चलाया, "हे मुनियो! तेतीसवां अनिवृत्ता-मूलक नामक अनाचरित है। चौतीसवां अनिवृत्त श्रृंगवेर नामक अनाचरित है। पैंतीसवां अनिवृत्त इक्षुखण्ड नामक अनाचरित है। अपक्व मूला, अदरक और गन्ने का उपयोग करना—उपरोक्त तीनों प्रकार के अनाचरित कहलाते हैं। छत्तीसवां कंदानाचरित और सैंतीसवां मूलानाचरित है। सचित कंद मूल का उपयोग करने से ये दोनों दोष लगते हैं। अड़तीसवां आम्रफल अनाचरित अर्थात् कच्चे फल का उपयोग करना दोष पूर्ण है। उन्चालीसवां बीज अनाचरित अर्थात् हरे तिल वगैरह उपयोग करना दोप पूर्ण है। संचल, सैंधव, नमक, समुद्रक्षार, फंसुक्षार, रोमकक्षार और काला नमक इन सात प्रकार के सचित्त क्षारों का उपयोग करना उस-उस नाम का अनाचरित कहलाता है। अतः इन सातों को मिलाकर छियालीस अनाचरित हुए, ये सब अनाचार उत्तम अनगारों को दूषित करते हैं अतः आपको इन सबका त्याग करना चाहिये। सैंतालीसवां धूपन नामक अनाचरित है। अपने वस्त्रों को सुगंधित करने के लिये उन्हें धूप (अगरवत्ती)

देना धूपन दोष है । अड़तालीसवां वमन नामक अनाचरित है । मीढ़े के फल को खाकर उल्टी करना वमन अनाचरित कहलाता है । उन्पचासवां वस्तिकर्म अनाचरित है । किसी रोग का नाश करने लिये गुदा में स्नेह गुटिका वगैरह की पिचकारी लगाने को वस्तिकर्म कहते हैं । पचासवाँ विरेचन अनाचरित है । मल शुद्धि के लिये जुलाव की औषधि का सेवन करना विरेचन कहाता है । इकावनवां अंजन अनाचरित है । शरीर की शोभा के लिये काजल वगैरह लगाने को अंजन कहते हैं । बावनवां दन्तवर्ण नामक अनाचरित है । दन्तमंजन से दातुन करना दन्तवर्ण अनाचरित कहाता है । त्रेपनवां गात्राभ्यंग नामक अनाचरित है । शरीर का अभ्यंग (श्रृंगार) करना गात्राभ्यंग कहलाता है । चौपनवां गात्रविभूषण यानि शरीर पर अलंकार धारण करना गात्रविभूषण अनाचरित कहलाता है ।

हे मुनियो ! इन सब दोषों का आपको त्याग करना चाहिये । चाहे कैसा भी प्रसंग आ जावे तो भी आपको इन दुराचारों का सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये । मुझे जानकर संतोष है कि 33 से 54 तक के सब दोषों का प्रवर्तन वर्तमान समय में आप लोगों में नहीं है ।

हे मुनियो ! इन 54 अनाचारों का सेवन नहीं करने वाले और अपने चारित्र धर्म का पालन करने वाले मुनि ही इस संसार में वास्तविक अनगार व निर्ग्रंथ कहलाते हैं । इस विषय पर दशवैकालिक सूत्र में निम्न गाथा कही गई है—

"सव्वमेयणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं ।
सजमंमिय अजुत्ताणं, लहुभूय विहारिणं ।।"

"जो बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से रहित, संयम से युक्त, और वायु की तरह प्रतिबन्ध रहित विहार करने वाले हैं, ऐसे महर्षियों को उपर्युक्त 54 प्रकार के अनाचरितों से सर्वदा बचना चाहिये ।"

कहने का आशय यह है कि जो निर्ग्रंथ, संयमी और अप्रतिबद्ध विचरण करने वाले मुनि होते हैं, उनके लिये ही उपर्युक्त दोष बताये गये हैं और ऐसे मुनि ही दोषों का त्याग कर सकते हैं, अन्यों से ऐसा त्याग नहीं हो सकता ।

दीक्षाकुमारी ने आगे कहा, "साधुओ ! पहले तो आपको स्वयं अपने लक्षण जानने चाहिये । जब तक आप अपने स्वरूप को नहीं पहचानेंगे, तब तक आप अपने आचरण को नहीं सुधार सकेंगे ।"

पन्यासजी–"धर्ममाता ! हमारा स्वरूप क्या है, यह आप हमें बतायें तो बड़ी कृपा होगी ।"

दीक्षाकुमारी ने कटाक्ष किया, "वरिष्ठ मुनि ! आप स्वयं विद्वान हैं और 'दशवैकालिक सूत्र' के जानकार हैं, क्या आप अपने स्वरूप को भी नहीं जानते ? 'पंचासवपरिण्णाया' आदि गाथायें जरा बोलिये तो ।"

दीक्षाकुमारी के कहने से पन्यासजी ने निम्न गाथा कही—

"पंचासव परिण्णाया, तिगुत्ता छसुसंजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ।।"

यह गाथा बोलकर पन्यासजी ने दीक्षाकुमारी से विनती की कि महादेवी इस गाथा की व्याख्या आप ही करने की कृपा करें ।

पन्यासजी के वचन सुनकर दीक्षाकुमारी ने कहा, "मुनियो ! सुनो, आपको कैसा होना चाहिये और आपके कौन से गुण आपके चरित्र की प्रशंसा करवाते हैं यह बात इस में बताई गई है ।

जो हिंसा आदि पाँच आश्रवों का सम्पूर्ण जीवन के लिये त्याग करते है, जो मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्त इन

देना धूपन दोष है । अड़तालीसवां वमन नामक अनाचरित है । मीढ़े के फल को खाकर उल्टी करना वमन अनाचरित कहलाता है । उन्पचासवां वस्तिकर्म अनाचरित है । किसी रोग का नाश करने लिये गुदा में स्नेह गुटिका वगैरह की पिचकारी लगाने को वस्तिकर्म कहते हैं । पचासवाँ विरेचन अनाचरित है । मल शुद्धि के लिये जुलाव की औषधि का सेवन करना विरेचन कहाता है । इकावनवां अंजन अनाचरित है । शरीर की शोभा के लिये काजल वगैरह लगाने को अंजन कहते हैं । बावनवां दन्तवर्ण नामक अनाचरित है । दन्तमंजन से दातुन करना दन्तवर्ण अनाचरित कहाता है । त्रेपनवां गात्राभ्यंग नामक अनाचरित है । शरीर का अभ्यंग (श्रृंगार) करना गात्राभ्यंग कहलाता है । चौपनवां गात्रविभूषण यानि शरीर पर अलंकार धारण करना गात्रविभूषण अनाचरित कहलाता है ।

हे मुनियो ! इन सब दोषों का आपको त्याग करना चाहिये । चाहे कैसा भी प्रसंग आ जावे तो भी आपको इन दुराचारों का सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये । मुझे जानकर संतोष है कि 33 से 54 तक के सब दोषों का प्रवर्तन वर्तमान समय में आप लोगों में नहीं है ।

हे मुनियो ! इन 54 अनाचारों का सेवन नहीं करने वाले और अपने चारित्र धर्म का पालन करने वाले मुनि ही इस संसार में वास्तविक अनगार व निर्ग्रंथ कहलाते हैं । इस विषय पर दशवैकालिक सूत्र में निम्न गाथा कही गई है—

"सव्वमेयणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं ।
सजमंमिय अजुत्ताणं, लहुभूय विहारिणं ।।"

"जो बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से रहित, संयम से युक्त, और वायु की तरह प्रतिबन्ध रहित विहार करने वाले हैं, ऐसे महर्षियों को उपर्युक्त 54 प्रकार के अनाचरितों से सर्वदा बचना चाहिये ।"

कहने का आशय यह है कि जो निर्ग्रंथ, संयमी और अप्रतिबद्ध विचरण करने वाले मुनि होते हैं, उनके लिये ही उपर्युक्त दोष बताये गये हैं और ऐसे मुनि ही दोषों का त्याग कर सकते हैं, अन्यों से ऐसा त्याग नहीं हो सकता।

दीक्षाकुमारी ने आगे कहा, "साधुओ ! पहले तो आपको स्वयं अपने लक्षण जानने चाहिये। जब तक आप अपने स्वरूप को नहीं पहचानेंगे, तब तक आप अपने आचरण को नहीं सुधार सकेंगे।"

पन्यासजी-"धर्ममाता ! हमारा स्वरूप क्या है, यह आप हमें बतायें तो बड़ी कृपा होगी।"

दीक्षाकुमारी ने कटाक्ष किया, "वरिष्ठ मुनि ! आप स्वयं विद्वान हैं और 'दशवैकालिक सूत्र' के जानकार हैं, क्या आप अपने स्वरूप को भी नहीं जानते ? 'पंचासवपरिण्णाया' आदि गाथायें जरा बोलिये तो।"

दीक्षाकुमारी के कहने से पन्यासजी ने निम्न गाथा कही—

"पंचासव परिण्णाया, तिगुत्ता छसुसंजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥"

यह गाथा बोलकर पन्यासजी ने दीक्षाकुमारी से विनती की कि महादेवी इस गाथा की व्याख्या आप ही करने की कृपा करें।

पन्यासजी के वचन सुनकर दीक्षाकुमारी ने कहा, "मुनियो ! सुनो, आपको कैसा होना चाहिये और आपके कौन से गुण आपके चरित्र की प्रशंसा करवाते हैं यह बात इस में बताई गई है।

जो हिंसा आदि पाँच आश्रवों का सम्पूर्ण जीवन के लिये त्याग करते है, जो मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्त इन

तीनों गुप्तियों के धारण करने वाले हैं, जो छः जीव निकाय पर दया करने वाले हैं, जो आंख, नाक, कान, जिह्वा और स्पर्श इन पांच इन्द्रियों को वश में रखने वाले—जितेन्द्रिय हैं, जो धीर हैं अर्थात् सात प्रकार के भय से रहित हैं और जो संयम के विषय में उपयोग रखने वाले हैं, वे सच्चे निर्ग्रंथ साधु कहलाते हैं।

हे मुनियो ! आपको अपने स्वरूप पर अभिमान होना चाहिये। फिर आपको किस लिये उद्योग करना है, इसका भी आपको ज्ञान होना चाहिये। 'दशवैकालिक सूत्र' में लिखा है कि हमारे जैन मुनि भूख, प्यास वगैरह 22 परिषह को जीतने वाले हैं, मोह को दूर करने वाले, इन्द्रियों को जीतने वाले और सर्व दुःख रूप आठ कर्मों का क्षय करने के लिये सतत् उद्यम करने वाले हैं।

मैं निश्चय पूर्वक कह रही हूं। सुनो, प्रथम तो आप परिषह को सहन नहीं कर सकते। यदि आप में परिषह सहने की शक्ति होती तो किस लिये एक ही सुखदायक स्थान पर पड़े रहते। आपको तो सर्वदा विचरण करते रहना चाहिये। भारतवर्ष में बहुत से ऊसर क्षेत्र हैं, उनमें कष्ट सहन कर विचरण करना चाहिये और वहां के श्रावकों का उपकार करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि आपमें यह पहला लक्षण भी नहीं है।

दूसरा आप मोह रहित भी नहीं हैं। यदि आपने मोह को दूर किया होता तो फिर आप इस नगर, इस सुन्दर उपाश्रय और यहां के रागी श्रावकों के परिचय को क्यों नहीं छोड़ते ? यह आपकी मोह दशा को सूचित करता है।

तीसरा आप इन्द्रियों को जीतने वाले हैं या नहीं यह तो आप स्वयं ही विचार करें। कदाचित् काम इन्द्रिय को जीतने वाले हो सकते हैं पर अन्य इन्द्रियों को जीतने वाले तो नहीं ही हैं। आपको अच्छी-अच्छी वस्तुएँ नेत्र द्वारा देखनी पसन्द

हैं, मीठे-मीठे राग और गायन कान ने सुनना अच्छा लगता है, उच्च प्रकार का आहार-पानी-खाना-पीना पसंद है, और स्पर्श इन्द्रिय को सुख देने के लिये कोमल हाथों से पैर दबवाना और शरीर पर मालिश करवाना पसंद है। यह सब देखते हुए आपमें जितेन्द्रियपन कहाँ रहा ? जब आप जितेन्द्रिय, मोह को जीतने वाले और परिषहों को सहन करने वाले नहीं हैं, तब आप आठ कर्मों का क्षय करने के लिये उद्योग कैसे करेंगे ?"

दीक्षाकुमारी के वचन सुनकर पन्यासजी आदि सभी साधु निस्तेज हो गये और अपने दोषों के लिये हृदय में पश्चाताप करने लगे। थोड़ी देर बाद पन्यासजी ने विनय पूर्वक कहा, "महादेवी। आपके वचन यथार्थ हैं। आपके कथनानुसार हम वास्तव में शुद्ध जैन मुनि नहीं हैं, ऐसा सिद्ध होता है। महा-माता ! अब उसके बाद की गाथा का उपदेश देने की कृपा करें।"

दीक्षाकुमारी ने सोत्साह कहा, "मुनियो ! उपर्युक्त गाथा में जो मुनियो के गुण बताये गये हैं, उसके अनुसार आचरण करने वाले मुनियो को क्या फल मिलता है, वह आप सुनें। जो मुनि उद्देशिक आदि कठिनाई से छोड़ने योग्य अनाचारों को त्याग कर यथार्थ मुनि धर्म का पालन करते हैं और दुःसह परिषहों को सहन कर भली प्रकार स्वधर्म का पालन करते हैं, वे सौधर्म वगैरह देवलोक में जाते हैं और कई कर्म रूप रज से मुक्त होकर इस लोक में हो सिद्ध बनते हैं।"

इस समय धर्म विजय नामक एक मुनि ने प्रश्न किया, "महामाता ! आपने कहा कि जो मुनि अपने धर्म का शुद्धता से पालन करते हैं वे देवलोक में जाते हैं, वे देवलोक में जाकर क्या करते हैं, अन्त में उनका क्या होता है ?" दीक्षाकुमारी ने प्रेम से कहा, "मुनि ! आपने जो प्रश्न किया, उसी विषय में महामुनि शय्यंभव स्वामी ने निम्न गाथा कही है—

"खवित्ता पुव्व कम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिणिव्वुडेत्तिबेमि ॥

वो साधु देवलोक के सुख भोग कर फिर वहाँ से इस लोक में जन्म लेते हैं। फिर संयम और तप द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष मार्ग को प्राप्त होते हैं तथा छः काय-जीवों का पालन करते हुए सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

हे मुनियो ! देवलोक में गये हुए साधु वहां देवलोक की मर्यादा के अनुसार रहते हैं फिर वहाँ से निकल कर वापस मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं, वहां 70 प्रकार के संयम को ग्रहण कर 12 प्रकार की तपस्या करते हैं। उससे पूर्वभव के कर्मों का नाश कर, काय जीवों का पालन करते हुए मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं। इस पर से आपको समझना चाहिये कि पाँच महाव्रत धारण करने वाले आप लोग कितनी उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। चारित्र का कैसा परम प्रभाव है, उसकी कैसी महत्ता है कि जिसका आराधन करने वाले आप लोग शीघ्र मोक्षमार्ग को प्राप्त करने वाले बन सकते हैं। ऐसे चरित्र को धारण कर आप उसकी तरफ उपेक्षा रखें यह कैसी बुरी बात है ? मुनियो ! आपने घर द्वार छोड़कर, सम्बन्धियों का त्याग कर मेरे इस स्वरूप (दीक्षा) को ग्रहण किया है, फिर यदि आप उसका दुरुपयोग करें तो आपसे अधिक अल्प बुद्धि और किसे कहा जाय ? अब अपने मानसिक विचारों को शुद्ध करें और इस निर्मल चारित्र को प्रशंसित करवाने का प्रयत्न करें। बार-बार ऐसा अवसर नहीं आयेगा। आप तो जानते ही हैं कि यह भरत क्षेत्र, मनुष्य जन्म, श्रावक कुल, जैन धर्म और चारित्र प्राप्त करना कितना दुर्लभ है ? कभी इन सबके मिलने पर भी यदि स्वस्थ शरीर न मिला हो तो ये सब क्या काम के ! आपको तो वह भी प्राप्त है। आपके शरीर हृष्ट पुष्ट हैं और सब प्रकार की शरीरिक शक्ति दिखाई देती है। फिर भी आप प्रमादवश अपने चारित्र धर्म की उपेक्षा करें, यह कैसी भूल है, अब भी समय है, आप अपने कर्त्तव्य को याद करें और उसमें पूर्णरूप से सावधान बनें, जिससे आपको बहुत लाभ होगा। मुनियो ! मैं अपना कर्त्तव्य पूरा कर अब यहां से जा रही हूं, आप मेरे उपदेश को नहीं

भूलेंगे ऐसी आशा है। दशवैकालिक सूत्र' का 'क्षुल्लकाचार कथा' नामक तीसरा अध्ययन रत्न की भांति आपके मन-मंदिर में स्थापित होना चाहिये, और सर्वदा उसका मनन करते रहिये। विशेष मुझे कहते हुए हर्ष होता है कि आपके ये वरिष्ठ गुरु पन्यासजी एक विद्वान मुनि हैं। ऐसे विद्वान गुरु का आपको जो साथ मिला है, वह आपके धार्मिक उदय का बहुत बड़ा योग है। इनके समक्ष 'दशवैकालिक सूत्र' का संपूर्ण अध्ययन करें। जिस प्रकार आर्हत धर्म का उदय हो, जैन धर्म की पवित्र भावना के प्रभाव की प्रशंसा हो और भारत की चारों दिशाओं में जैन धर्म को उज्ज्वल कीर्ति जैसी है वैसी ही कायम रहे, इसका प्रयत्न करिये। आर्हत धर्म और श्रावक संघ की सत् कीर्ति का आधार आपके ऊपर ही है। तथास्तु।"

वरिष्ठ गुरु पन्यासजी का हृदय ज्ञान से भूषित था पर मानसिक संस्कार में मंद था। दीक्षाकुमारी के उपदेश ने उनके हृदय में असर किया पर संस्कार के बल बिना वह असर स्थिरता को प्राप्त नहीं कर सका, अतः वे वरिष्ठ मुनि अपने हृदय में विचार करने लगे, 'अहा ! दिव्य स्वरूप दीक्षाकुमारी ने जो कुछ कहा वह यथार्थ है, वर्तमान काल में सब साधुओं की स्थिति ऐसी ही हो गई है, पर इसमें साधुओं की अपेक्षा अधिक दोष वर्तमान काल का है। जब समय ही बदल गया तब बिचारे साधु क्या करें ? श्रावक भी कालानुसार वर्तन करने लगे हैं, कई क्षेत्रों में श्रावकों की स्थिति बदल गई है वे ऊपर से तो अच्छी भावना का प्रदर्शन करते हैं, पर अन्दर से कुछ और ही होते हैं। इससे जो अच्छे क्षेत्र होते हैं जहां श्रावकों में गुरु तथा धर्म पर अच्छी श्रद्धा होती है, ऐसे क्षेत्रों में ही साधुओं को अधिक रहना पड़ता है। दीक्षाकुमारी वर्तमान काल के प्रभाव से अनभिज्ञ है, वे तो पूर्व के उत्तम काल के प्रभाव को देख रही हैं, पर वर्तमान में देश-काल कितना बदल गया है, इसका विचार उनके हृदय में नहीं आता। यदि वे वर्तमान काल के स्वरूप को यथार्थ समझती होतीं, तो उनके मुंह से साधुओं के लिये ऐसे कठोर शब्द नहीं निकलते।"

ऐसा विचार कर पन्यासजी ने अपने मन में उत्पन्न हुए अच्छे विचारों को शिथिल कर दिया जिससे अपनी प्रवृत्ति में सुधार करने की जो थोड़ी इच्छा हुई थी वह भी शान्त हो गई।

थोड़ी देर बाद उन्होंने अपने शिष्यों को संक्षेप में कहा, "शिष्यों ! दीक्षादेवी हमको यथार्थ बोध देकर चली गई हैं, उनके प्रत्येक वचन अक्षरशः पालन करने योग्य हैं तथापि अपने को देश-काल के अनुसार प्रवर्तन करना चाहिये क्योंकि वर्तमान काल कैसा चल रहा है इस विषय में जैसा अनुभव हमको है, वैसा उस पवित्र देवी को कहाँ से हो सकता है ? वह महादेवी सर्वदा उत्सर्पिणी काल को ही देखती है पर यह समय काल का है। इस काल में चतुर्विध संघ की स्थिति ही अलग हो अवसर्पिणी गई है। साधु–साध्वी, श्रावक और श्राविका अलग स्वरूप की धारणा कर रहे हैं। जैसे श्रावक-श्राविकाएँ होंगे वैसे ही साधु-साध्वियों को होना पड़ेगा, तथापि अभी तो अपने को इस श्रद्धालु नगर को छोड़ना ही पड़ेगा। इस नगर के विशेष परिचय से अपने को जितनी हानि हुई है, उतना ही लाभ भी हुआ है। हे शिष्यों ! आपने जो इतना अभ्यास किया है, वह इस क्षेत्र का ही प्रताप है। एक स्थान पर रहे बिना विद्या अध्ययन नहीं हो सकता, इसके अलावा ज्ञान के साधन पुस्तकें, कागज लेखनी, स्याही आदि जो प्राप्त हुए हैं वे चिर काल से यहाँ रहने से ही प्राप्त हुए हैं। अभी तो इन महादेवी के वचनों को मान देने के लिये अपने को यहां से बिहार कर अन्य स्थान में विचरण करना चाहिये, फिर आगे क्या होगा जो देखा जाएगा।

इस प्रकार कह कर वे पन्यासजी दूसरे ही दिन अपने शिष्यों सहित वहां से विहार कर गये। उनके कितने ही प्रबुद्ध शिष्यों का हृदय संस्कारी था अतः उन्होंने अपने मन में दीक्षा-देवी के उपदेश के अनुसार चलने का निश्चय किया।

● ● ●

प्रवास (4)

वसंत ऋतु का आरंभ हो चुका था इसी समय पवित्र धर्ममाता दीक्षाकुमारी वसंत की शोभा का अवलोकन करती हुई मार्ग में चल रही थी। उसी समय दो मुनि विहार करते हुए जा रहे थे। उनके साथ दूसरे दो व्यक्ति सिर पर गठड़ी रखे चल रहे थे। विहार करते हुए मुनि जब थक जाते तब रास्ते में किसी छायादार वृक्ष के नीचे बैठ जाते और वे दोनों व्यक्ति गठड़ियों को नीचे रखकर मुनियों के पैर दबाने लगते।

इस प्रकार सुख-विहार करते दोनों मुनियो को देखकर दीक्षाकुमारी आकाश से नीचे उतरी और उनके सामने निम्न गाथा बोलने लगी—

"आमे घड़े निहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ।
इय सिद्धंत रहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ॥"

थोड़ी देर बाद ही उस गाथा की व्याख्या हिन्दी में प्रकट हुई—

"जैसे कच्चे घड़े में डाला हुआ जल उस घड़े को नष्ट करता है, वैसे ही सिद्धान्त का रहस्य यदि किसी अल्प बुद्धि वाले को बताया जाय तो उसी का नाश कर देता है, अर्थात् वह अपने निश्चित लक्ष्य की तरफ नहीं बढ़ सकता।"

"जैसे कच्चे घड़े में पानी डालने से वह घड़ा ही गलकर समाप्त हो जाता है वैसे ही यदि अयोग्य मुनि को सिद्धान्त का रहस्य समझाया जाय तो वह उसे नुकसान पहुंचाता है। आपने जैन आगमों का भली प्रकार वाचन किया है और स्वयं

उनका अध्ययन किया है तथा दूसरों को भी उसका अध्यापन कराया है। आपकी अपक्व बुद्धि में उसका उपयोग नहीं रहा, यदि उसका सच्चा उपयोग रहता तो ऐसा सुख-विहार क्यों करते? जैन मुनि कितने कठिन परिषहों को सहन कर विचरण करते हैं, उन्हें अपने विहार के समय साथ में कैसा परिग्रह रखना चाहिये, यह जानते हुए भी आपकी यह प्रवृत्ति कितनी विरुद्ध है, इसका विचार करो। इतने अधिक परिग्रह की गठड़ियें साथ में रखना और उन्हें ढोने के लिये मजदूर रखना, यह क्या मुनियों का आचार कहलाता है? वर्तमान काल में आप लोगों में ऐसे अनाचार की प्रवृत्ति देखकर मुझे बहुत ही अफसोस होता है। हे साधुओ! जरा विचार करो, आपका प्राचीन आचरण कैसा था? आपके पूर्वज किस प्रकार परिषह सहन करते थे? और कैसा निर्दोष विहार करते थे? उस प्राचीन समय को याद कर आप अपने इस वर्तमान आचरण को धिक्कारिये। आपके जैसे आगम के रहस्य को जानने वाले मुनि जब ऐसे दुराचार का सेवन करें, तब फिर सदाचार का सत्कार कौन करेगा? फिर जब आप थक जाते हैं तब आपको पैर दबवाने पड़ते हैं। क्षण-क्षण पर पैर दबवाते हुए और मजदूरों द्वारा अपने परिग्रह के बोझ की ढुलाई करवाते हुए आपके विहार को देखकर अन्य धर्मावलम्बी आपकी निन्दा करेंगे! आपके पूर्वज जैन अनगारों ने जो धर्मकीर्ति आज तक इस भारत भूमि पर फैलाई है, उनका यशोगान जो भारतीय प्रजा आज तक भी कर रही है, उनकी कीर्ति को कलंकित करने के लिये आप उद्यत हैं। मुनियो! ऐसी प्रवृत्ति में जैसे आप दोष पात्र हैं वैसे ही आपके रागी श्रावक भी दोष पात्र हैं, जो कि रागासक्त होकर अपने अनगार गुरुओं को गृहस्थ दशा की ओर प्रेरित करते हैं और उनके साधु धर्म को खण्डित करने को तत्पर होते हैं, वे वास्तव में धिक्कार के पात्र हैं। आपको सब प्रकार की मदद करने की इच्छा से वे स्वार्थी श्रावक स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाने को तैयार रहते हैं। यदि वे अपने कर्त्तव्य को भली प्रकार समझते होते

तो आपको ऐसे दुराचार में क्यों घसीटते ? आपके परिग्रह के बोझ को उठाने के लिये मजदूरों की व्यवस्था वे किस लिये करते ?

'हे पंडित मूर्ख मुनियो ! मेरा यह कटु भाषण आपको अप्रिय जरूर लगेगा पर आपके अन्तर को लगन को यह उत्तेजित करेगा । आपको क्षमा धारण कर सही प्रवृत्ति करनी चाहिये । मैं आपके हित के लिये ही कह रही हूं फिर भी यदि आप उन्मत्त होकर मेरे उपदेश को मान्य नहीं करेंगे, तो फिर मैं आपको उचित दण्ड दूंगी । जो आपके स्वरूप को नुकसान पहुंचायेगा ।"

दीक्षाकुमारी के ऐसे वचन सुनकर मुनि लज्जा से नम्र हो गये और ग्लानि से भर उठे । थोड़ी देर बाद उनमें से एक मुनि ने दीनतापूर्वक कहा, "माता ! शान्त होइये । आपकी कृपा से ही हमारा निर्वाह होता है, यदि आप अपने स्वरूप को वापस ले लेंगी तो हम निस्तेज और निर्वीर्य हो जायेंगे । धर्ममाता ! क्षमा कर हमें उपदेश दीजिये कि हम अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट न हों ।"

मुनियों के ऐसे नम्र वचन सुनकर दीक्षादेवी शान्त हुई और उनके दयालु दिल में मुनियो के प्रति दया भाव उत्पन्न हुआ । उन्होंने पूछा, "मुनियो ! क्या आप 'दशवैकालिक सूत्र' जानते हो ?"

मुनि—"महादेवी ! आपकी कृपा से हम अपनी बुद्धि अनुसार जानते हैं ।"

दीक्षा—उसके चौथे अध्ययन का क्या नाम है ?

मुनि—उसका नाम षट् जीव निकाय अध्ययन है ।

दीक्षा—उसमें किस विषय का वर्णन है ?

मुनि—उसमें छः काय जीवों का वर्णन है और उनकी रक्षा के बारे में बताया गया है ।

दीक्षाकुमारी ने उत्साह पूर्वक कहा, "मुनियो ! सर्वप्रथम आपको छः काय जीवों की सर्वदा रक्षा करनी चाहिये। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छः प्रकार के जीवों को अभयदान देकर इन्हें बचाना, यह साधु का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसमें से जो पृथ्वीकाय जीव हैं, इसके बारे में आपको बहुत सूक्ष्म ज्ञान रखना चाहिये शायद आपको शंका हो कि पृथ्वी में जीव कैसा हो सकता है? तो आपको इस शंका को दूर करना चाहिये क्योंकि ज्ञानी भगवान ने पृथ्वी को सचित्त कहा है अर्थात उसमें जीव का लक्षण चैतन्य रहा हुआ है। पृथ्वी में एक जीव नहीं अनेक जीव हैं। वे जीव अंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण अवगाहना में रहे हुए हैं। फिर वे अलग-अलग भी हैं। इस समय एक मुनि ने हाथ जोड़कर कहा, "महानुभावा ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मुझे यहां एक शंका उत्पन्न हुई है, उसके बारे में पूछू ?" दीक्षाकुमारी के आज्ञा देने पर मुनि ने कहा, "हे दयालु माता ! आपके कथनानुसार यह सचित्त पृथ्वी जीव पिंड रूप है। इस पृथ्वी पर जब साधु मलोत्सर्ग क्रिया करेगा तब पृथ्वीकाय जीवों का नाश जरूर होगा और यह क्रिया पृथ्वी पर करने के आलावा दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर साधु अहिंसक कैसे रहेगा ? फिर प्राणातिपात विरमण नामक साधु का जो प्रधान धर्म है उसका तो नाश होगा ही।"

मुनि की इस शंका को सुनकर दीक्षाकुमारी ने कहा मुनि ! आपकी यह शंका वास्तविक है। इसके लिये शास्त्रकारों ने वहीं पर स्पष्टीकरण भी कर दिया है। जो पृथ्वी शस्त्रों से परिणित की हुई है वह अचित्त है और जो परिणित नहीं है वह सचित्त है। अतः जो पृथ्वी हल आदि शस्त्रों से परिणित होने से अचित्त हो चुकी है, उस पर मल-मूत्र का त्याग करने से हिंसा नहीं होती और इसीलिये साधु के अहिंसा धर्म का लोप नहीं होता।

दूसरे मुनि ने शंका की—"महादेवी ! यद्यपि हमें 'शस्त्र शब्द का अर्थ हमारी अल्पबुद्धि के अनुसार ज्ञात है तथापि आपके मुख से सुनने की इच्छा है. अत: आप समझाने की कृपा करें।"

दीक्षादेवी ने प्रेम पूर्वक कहा "जो जिसका नाश करे वह उसका शस्त्र कहलाता है। संसार में भी तलवार आदि शरीर का शस्त्र प्रसिद्ध है। यहां पर पृथ्वी के शस्त्र का विचार करना है। पृथ्वी के शस्त्र तीन प्रकार के हैं। एक स्वकाय शस्त्र, दूसरा परकाय शस्त्र और तीसरा स्वकाय-परकाय शस्त्र। इसमें काली मिट्टी सफेद मिट्टी का स्वकाय शस्त्र है। जल तेज वगैरह पृथ्वी के परकाय शस्त्र हैं। जैसे काली मिट्टी सफेद मिट्टी जल में मिल कर जल को काले रंग का कर देती है। अत: काली मिट्टी सफेद मिट्टी सहित जल की स्वपरकाय शस्त्र कहलाती है। इस प्रकार शस्त्र परिणीत पृथ्वी अचित्त है। इसी प्रकार, जल वायु तेजस् आदि कायों को भी समझना चाहिये।"

हे मुनियो ! इस प्रकार छः काय जीव की हिंसा जिससे होती है ऐसे आरम्भ को साधु नहीं करते, न दूसरों से कराते हैं और न ही उसका अनमोदन करते हैं। जैन मुनि चारित्र को ग्रहण करते समय ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं कि जहाँ तक मेरे शरीर में प्राण है, वहाँ तक तीन प्रकार के दण्ड को मन, वचन, काया से न करूंगा, न कराऊंगा, न उसका अनुमोदन करूंगा।" ऐसी प्रतिज्ञा लेकर ही वे पांच महाव्रतों को स्वीकार करते हैं।

हे मुनियो ! इस छ: जीवनिकाय अध्ययन में पाँच महाव्रतों का जो वर्णन किया गया है उसे आप जानते ही होंगे। इसलिये उस पर विवेचन करने की मेरी इच्छा नहीं है। आप विद्वान हैं इसलिये आपके सभी व्रत निर्दोष होने चाहिये तथापि उनमें से एक व्रत का लोप होते हुए देखकर मुझे कहना पड़ता है। आपका जो अपरिग्रह नामक व्रत है वह दूषित होता हुआ मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। क्योंकि आप ये परिग्रह की गठड़ियें बाँधकर मजदूरों द्वारा उनको ढुलवाकर विहार कर

रहे हैं। जो वस्तुएं आपके निर्वाह के लिये अति आवश्यक हों उतनी ही वस्तुए आपको अपने साथ रखनी चाहिये, उसके सिवाय अधिक वस्तुओं को साथ रखकर उनको मजदूरों द्वारा ढुलवाना निश्चय ही मुनि धर्म के विरुद्ध है।

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर अतिशय लज्जित मुनियो ने विनय पूर्वक कहा, 'महाशया ! क्षमा करो, आपके वचन यथार्थ हैं। हम अपने धर्म से भ्रष्ट हुए हैं। भविष्य में ऐसे दुराचार का सेवन नहीं करेंगे। आपने हमारे ऊपर बहुत बड़ा उपकार किया है। यदि आप के प्रत्यक्ष दर्शन न हुए होते तो हम कभी भी अपने इस दुराचार को दूर नहीं कर सकते थे। हमारे रागी श्रावक हमें साधु धर्म से भ्रष्ट करने को तत्पर हैं और हम जानते हुए भी भ्रष्ट होने को उद्यत हैं। महादेवी यह वर्तमान काल का ही प्रभाव है। जितने भी विद्या और ज्ञान से विभूषित अग्रणी मुनि कहलाते हैं, वे अधिकांश धर्महीन दृष्टि गोचर होते हैं और जो अल्पबुद्धि वाले और अविद्वान साधु हैं, उनमें फिर भी थोड़े बहुत अंश में धम दिखाई देता है। अत: इस अवसर्पिणी काल का ही यह विशेष प्रभाव है कि जहां अल्पज्ञता है वहां धर्म है और जहां विशेषज्ञता है वहाँ अधर्म है। सादे और अविद्वान मुनियों के हृदय में अपने चारित्र के लिये जैसा आदर मान है वैसा आदर आडम्बर वाले विद्वान साधुओं के हृदय में चारित्र के प्रति दिखाई नहीं देता। हे चरित्रेश्वरी ! अब कृपा कर हमें उपदेश दें। आपके मुख से निसृत उत्तम उपदेश से ही हमारे चारित्र जीवन का उद्धार होगा।"

मुनियों के ऐसे वचन सुनकर दीक्षाकुमारी प्रसन्न हो गई और मधुर ध्वनि से बोली, "ऋषियो ! आपके यह वचन सुनकर मेरा हृदय संतुष्ट हुआ। अब आप अपने कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से जागृत हुए हैं, ऐसा आपके वचनों से मुझे प्रतीत होता है। अब मुझे आपको 'दशवैकालिक सूत्र' के चौथे अध्ययन में वर्णित धर्म का उपदेश देना चाहिये। यद्यपि आपने

इस महा सूत्र का अध्ययन किया है, तथापि आप उसके रहस्य को नहीं समझ सके हैं, ऐसा मुझे कहना पड़ रहा है। मुनियो ! सुनो, जिस प्रकार उसमें षट्जीवनिकाय की रक्षा करने और पांच महाव्रत धारण करने का आपका मुनि धर्म का वर्णन है, उसी प्रकार उन छः काया की यत्ना करने को भी मुनि धर्म कहा गया है। पांच महाव्रत जैसे ही एक छठा व्रत भी है जो रात्रि भोजन के नाम से वर्णित है, वह तो आप भली प्रकार जानते ही होंगे, अतः उस विषय पर अधिक कहने की मेरी इच्छा नहीं है। फिर भी यत्ना धर्म के बारे में आपसे संक्षेप में कहती हूं, उसे ध्यान से सुनिये—

प्रथम पृथ्वीकाय जीव की विराधना न हो, उसके लिये आपको हमेशा सावधान रहना चाहिये। खान और नदी तट की मिट्टी बड़ा पत्थर, छोटा पत्थर, सचित्त मिट्टी की उड़ती रज से मलिन हुए शरीर, वस्त्र या पात्र को हाथ, पांव, लकड़ी, कील, अंगुली, लकड़ी या लोहे की सलाई से रगड़ना नहीं, एक स्थान से दूसरे स्थान पर पटकना नहीं, भेदन करना नहीं। वैसे ही यह सब दूसरों से न करवाना न उसका अनुमोदन करना चाहिये। हे मुनियो ! कितने ही प्रमादी साधु इस विषय में चाहिये जितना उपयोग नहीं रखते जिससे वे अपने आचार से भ्रष्ट होते हैं।

द्वितीय अप काय जीव की यत्ना के लिये भी आपको सावधान रहना चाहिये। बावड़ी, कुआ, तालाव, नदी, झरने का पानी, बर्फ का पानी, बादल का पानी, ओस का पानी, घास पर रहा हुआ पानी या वर्षा का पानी, यह सब प्रकार का पानी शरीर या वस्त्र से स्पर्श नहीं करना, न पीना, न झटकना, और न तपाना ही चाहिये। वैसे ही न तो यह सब दूसरों से करवाना चाहिये और न ही उसका अनमोदन करना चाहिये। मुनियो ! इस प्रवृत्ति के बारे में मुझे अधिकांश में संतोष है। फिर भी कभी प्रमादवश भी इस दुराचार का सेवन न करें।

रहे हैं। जो वस्तुएं आपके निर्वाह के लिये अति आवश्यक हों उतनी ही वस्तुए आपको अपने साथ रखनी चाहिये, उसके सिवाय अधिक वस्तुओं को साथ रखकर उनको मजदूरों द्वारा ढुलवाना निश्चय ही मुनि धर्म के विरुद्ध है।

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर अतिशय लज्जित मुनियो ने विनय पूर्वक कहा, 'महाशया ! क्षमा करो, आपके वचन यथार्थ हैं। हम अपने धर्म से भ्रष्ट हुए हैं। भविष्य में ऐसे दुराचार का सेवन नहीं करेंगे। आपने हमारे ऊपर बहुत बड़ा उपकार किया है। यदि आप के प्रत्यक्ष दर्शन न हुए होते तो हम कभी भी अपने इस दुराचार को दूर नहीं कर सकते थे। हमारे रागी श्रावक हमें साधु धर्म से भ्रष्ट करने को तत्पर हैं और हम जानते हुए भी भ्रष्ट होने को उद्यत हैं। महादेवी यह वर्तमान काल का ही प्रभाव है। जितने भी विद्या और ज्ञान से विभूपित अग्रणी मुनि कहलाते हैं, वे अधिकांश धर्महीन दृष्टि गोचर होते हैं और जो अल्पबुद्धि वाले और अविद्वान साधु हैं, उनमें फिर भी थोड़े बहुत अंश में धम दिखाई देता है। अतः इस अवसर्पिणी काल का ही यह विशेष प्रभाव है कि जहां अल्पज्ञता है वहां धर्म है और जहां विशेषज्ञता है वहाँ अधर्म है। सादे और अविद्वान मुनियों के हृदय में अपने चारित्र के लिये जैसा आदर मान है वैसा आदर आडम्बर वाले विद्वान साधुओं के हृदय में चारित्र के प्रति दिखाई नहीं देता। हे चरित्रेश्वरी ! अब कृपा कर हमें उपदेश दें। आपके मुख से निसृत उत्तम उपदेश से ही हमारे चारित्र जीवन का उद्धार होगा।"

मुनियों के ऐसे वचन सुनकर दीक्षाकुमारी प्रसन्न हो गई और मधुर ध्वनि से बोली, "ऋषियो ! आपके यह वचन सुनकर मेरा हृदय संतुष्ट हुआ। अब आप अपने कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से जागृत हुए हैं, ऐसा आपके वचनों से मुझे प्रतीत होता है। अब मुझे आपको 'दशवैकालिक सूत्र' के चौथे अध्ययन में वर्णित धर्म का उपदेश देना चाहिये। यद्यपि आपने

इस महा सूत्र का अध्ययन किया है, तथापि आप उसके रहस्य को नहीं समझ सके हैं, ऐसा मुझे कहना पड़ रहा है। मुनियो! सुनो, जिस प्रकार उसमें षट्जीवनिकाय की रक्षा करने और पांच महाव्रत धारण करने का आपका मुनि धर्म का वर्णन है, उसी प्रकार उन छःकाया की यत्ना करने को भी मुनि धर्म कहा गया है। पांच महाव्रत जैसे ही एक छठा व्रत भी है जो रात्रि भोजन के नाम से वर्णित है, वह तो आप भली प्रकार जानते ही होंगे, अतः उस विषय पर अधिक कहने की मेरी इच्छा नहीं है। फिर भी यत्ना धर्म के बारे में आपसे संक्षेप में कहती हूं, उसे ध्यान से सुनिये—

प्रथम पृथ्वीकाय जीव की विराधना न हो, उसके लिये आपको हमेशा सावधान रहना चाहिये। खान और नदी तट की मिट्टी बड़ा पत्थर, छोटा पत्थर, सचित्त मिट्टी की उड़ती रज से मलिन हुए शरीर, वस्त्र या पात्र को हाथ, पांव, लकड़ी, कील, अंगुली, लकड़ी या लोहे की सलाई से रगड़ना नहीं, एक स्थान से दूसरे स्थान पर पटकना नहीं, भेदन करना नहीं। वैसे ही यह सब दूसरों से न करवाना न उसका अनुमोदन करना चाहिये। हे मुनियो! कितने ही प्रमादी साधु इस विषय में चाहिये जितना उपयोग नहीं रखते जिससे वे अपने आचार से भ्रष्ट होते हैं।

द्वितीय अप काय जीव की यत्ना के लिये भी आपको सावधान रहना चाहिये। बावड़ी, कुआ, तालाव, नदी, झरने का पानी, बर्फ का पानी, बादल का पानी, ओस का पानी, घास पर रहा हुआ पानी या वर्षा का पानी, यह सब प्रकार का पानी शरीर या वस्त्र से स्पर्श नहीं करना, न पीना, न झटकना, और न तपाना ही चाहिये। वैसे ही न तो यह सब दूसरों से करवाना चाहिये और न ही उसका अनमोदन करना चाहिये। मुनियो! इस प्रवृत्ति के बारे में मुझे अधिकांश में संतोष है, फिर भी कभी प्रमादवश भी इस दुराचार का सेवन न करें।

हे मुनियो ! इस प्रकार आपको छः काय जीवों की यत्ना (प्रयत्न पूर्वक रक्षा) करनी चाहिये । कभी भी इस विषय में प्रमादी नहीं होना चाहिये । कितने ही साधु प्रमाद के वश इस यत्ना की पवित्र क्रिया के प्रति उदास रहते हैं, वे प्रमादी साधु अपने धर्म से भ्रष्ट होते हैं । अतः आप लोगों को इस अनाचार से दूर रहना चाहिये । जो आप अपने चारित्र गुण को प्रकाशित करना चाहते हों तो आपको इस उपदेश को अपने हृदय में स्थापित करना चाहिये, इतना ही नहीं पर सम्पूर्ण जीवन में इन नियमों से भ्रष्ट न हों, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ।

मुनियो ! आपको हमेशा इर्यापथिक से विचरण करना है । जो मुनि बिना इर्यापथिक से विचरण करते हैं, वे एकेंद्रिय, बेइन्द्रिय आदि जीवों का नाश करने से ज्ञानावर्णी आदि पाप कर्मों का बन्धन करते हैं, जो कि कड़वे फल को देने वाले हैं । जो मुनि बिना यत्ना के बैठ कर हाथ-पांव को इधर-उधर घुमाते रहते हैं, वे द्विइन्द्रिय जीवों का नाश करते हैं जिससे ज्ञानावर्णीय आदि पाप-कर्म का बन्धन होता है । इसी प्रकार अयत्ना से सोने, आहार करने आदि से भी बेइन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले साधु को कटु फल देने वाले ज्ञानावर्णी पाप कर्म का बन्ध होता है ।

हे मुनियो ! आप इस यत्ना के लिये सावधान रहें और अपने चारित्र को दूषित नहीं करें । अब मुझे आपको विशेष रूप से यह कहना है कि कितने ही मुनि भाषा के व्यवहार का उपयोग नहीं रखते, जिससे ऐसा-वैसा बोलते रहते हैं, उनको भी सावधान रहना चाहिये । क्योंकि गृहस्थी की निष्ठुर क्रूर भाषा बोलने से एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा संभव है जिससे पाप कर्म का बंध होता है । साधुओ ! इस विषय में वर्तमान काल में विपरीत प्रवृत्ति चल रही है, अतः इसमें आपको उपयोग रखना चाहिये । चलते, बैठते, खड़े होते, सोते, खाते, और बोलते इन छः प्रकार की क्रियाओं को मुनि को बहुत साव-

धानी से करना चाहिये। जो इन क्रियाओं में प्रमाद हो जाय तो पाप कर्म का बंध होता है।

मुनिवरो! पहले के समय में इन छः क्रियाओं के विषय में ही प्रचार किया जाता था। प्राचीन काल में विद्वान् शिष्य अपने गुरु से इस प्रकार के प्रश्न ही पूछा करते थे। महानुभाव शय्यंभव मुनि के मुख से भी ऐसे ही उद्‌गार निकले हैं—

'कहं चरे कहं चिट्ठे, कहं आमे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई।।'

"मुनि कैसे चलें, कैसे खड़े रहें, कैसे बैठें कैसे सोयें, कैसे भोजन करें, और कैसे बोलें कि जिससे उनको पाप कर्म का बंध न हो।"

इन उद्‌गारों का विचार करिये। इन छः क्रियाओं में मुनि को कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये, ऐसे मुनि के आचार को प्रमाद से भूलकर स्वतन्त्रता से प्रवृत्ति करने वाले अनगार कितने दोष पात्र बनते हैं? उनकी यह प्रवृत्ति उन्हें उनके धर्म से भ्रष्ट करती है। उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में शय्यंभव मुनि के मुख से निम्नोक्त उद्‌गार निकलें हैं—

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे जयं सए।
जयं भुंजंतो सासंतो, पावं कम्मं न बंधई।"

"मुनि यत्नपूर्वक चलें, यत्न से बैठें, यत्न से खड़े रहें, यत्न से सोयें, यत्न से आहार करें और यत्नपूर्वक बोलें तो पाप कर्म का बंध नहीं होता।"

हे मुनिवरो! उपर्युक्त कथन से आप समझ गये होंगे कि मुनिधर्म अथवा चारित्र धर्म का रहस्य यत्ना ही है। यत्ना के प्रभाव से ही अनेक मुनि मुक्ति मार्ग के पथिक बने हैं। यदि आपको सब प्रकार से पाप कर्म के बंध को रोकना हो, पाप की व्यर्थ की आय को बंद करना हो और पाप के प्रसंग से ही दूर

रहना हो, तो आपको सभी प्राणियों को अपने समान जानना चाहिये उनके प्रति वीतराग के उपदेशानुसार प्रवृत्ति करते हुए प्राणातिपात आदि आस्रव द्वारों को रोकना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से ही आपके ज्ञानावरणादि पाप कर्म का वन्ध नहीं होगा।

मुनियो ! मेरे इस दया धर्म के उपदेश से आप ऐसा नहीं समझ लेना कि साधु मात्र दया पालने से कृतार्थ हो जाते हैं, उनको और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। जैसे दया पालना आपका मुख्य कर्त्तव्य है, वैसे ही ज्ञानाभ्यास करने से आपका चारित्र अलंकृत होगा क्योंकि ज्ञानाभ्यास आपका सच्चा आभूषण है। अतः आपको सदा ज्ञानाभ्यास करना चाहिये। इस विषय में मुनि शय्यंभव सूरि अपने उद्‌गार निम्न गाथा में कहते हैं—

"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्‌ठई सव्व संजए।
अन्नाणी किं काही, किंवा नाही सेअ पावगं ॥"

इस गाथा का भावार्थ आपको सर्वदा मनन करना चाहिये। साधु को पहले ज्ञान संपादन करना चाहिये, फिर दया का पालन करना चाहिये, क्योंकि ज्ञान से जीव-अजीव आदि के वारे में जानकारी होती है अतः उसके वाद ही उनकी दया पाली जा सकती है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान पूर्वक ही दया का पालन हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान पूर्वक दया पालने वाला साधु सर्व प्रकार से संयमी वनता है। जो मुनि इसके विपरीत जीव-अजीव के ज्ञान से रहित हो, वह क्या कर सकता है ? क्योंकि ज्ञान रहित मुनि तो अंधे के समान है, किस कार्य में प्रवृत्ति करना और किससे निवृत्त होना, यह तो वह अज्ञानी जानता ही नहीं। यदि वह अज्ञानी साधु कभी कुछ कार्य में प्रवृत्त हो तो भी यह पुण्य है या पाप, इसकी जानकारी उसे कैसे हो सकती है ? अतः हे मुनियो ! आपको ज्ञानाभ्यास तो सर्वदा करना ही चाहिये। ज्ञानाभ्यास कैसे उपयोगी है,

उसका श्रवण-मनन कैसा उपयोगी है, इस विषय पर मुनि शय्यंभव सूरि ने निम्नोक्त स्मरणीय गाथा कही है—

'सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयंप्पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समासरे ।।'

सिद्धांत को सुनकर ही कल्याण की जानकारी हो सकती है सिद्धांत को सुनकर ही पाप की जानकारी हो सकती है, सिद्धांत को सुनकर ही श्रेयस्कर और अश्रेयस्कर (पाप और पुण्य) दोनों की जानकारी होती है, इस जानकारी से ही कल्याण की ओर प्रवृत्ति होती है । इसके साथ ही ज्ञान रहित मुनि को कैसी अवस्था होती है, इस विषय में भी उन महानुभाव ने दूसरी गाथा कही है—

"जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणेइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संयमं ।।

जो मुनि जीव को भी नहीं जानता और अजीव को भी नहीं जानता अर्थात् जो जीव-अजीव के भेद को नहीं समझता, वह संयम का पालन कैसे कर सकता है ?

मुनियो ! इस गाथा के भावार्थ से यह सूचित होता है कि सिद्धांत के ज्ञान विना संयम का ज्ञान नहीं हो सकता । जो जीव को, अजीव को और जीवाजीव (मिश्रित) को जानता है, वही संयम का पालन कर सकता है ।

हे मुनियो ! यदि आपको अपना संयम शुद्धता से पालन करना हो, अपने निर्मल चारित्र को प्रकाशित करना हो और इस मानव जीवन को, जिसमें भी विशेषकर इस मुनि जीवन को, सार्थक करना हो तो आप पहले सिद्धांत का ज्ञान संपादन करें ।

ज्ञान का बहुत बड़ा फल है । यह अपने आराधक को सिद्धावस्था तक पहुंचाता है और इस संसार के दुःखदायक

कर्म बंध से मुक्त कराता है। इसी विषय में महामुनि शय्यंभव-सूरि ने अपने सुविचार "दशवैकालिक सूत्र' की गाथाओं में वर्णित किये हैं, जिनका भावार्थ निम्नोक्त है, जो आप ध्यान-पूर्वक सुनें—

जब आप जीव-अजीव को जानेंगे अर्थात् सब प्रकार के जीवों की देव, तिर्यंच और नारक आदि गतियों की जानकारी होगी तो इन चार गतियों में जाने के कारण को जानने की इच्छा भी होगी। तब इन चार गतियों के कारण रूप, पाप, पुण्य, बंध और मोक्ष को भी जानेंगे। जब आपको इन गतियों के कारण की जानकारी होगी तब आप को यह भी मालूम पड़ेगा कि देव और मनुष्य के भोग कैसे नाशवान् हैं। जब यह बात आपके हृदय के भीतर पैठ जायगी तब आप दिल से इन भोगों की क्षणिकता को महसूस करेंगे। फिर अपने मन में बसे राग-द्वेष आदि और बाहर के स्त्री-पुत्र आदि से विराग उत्पन्न होगा और तभी आप उनके संयोग को त्यागने का निश्चय करेंगे।

जब आप बाह्य और आभ्यंतर भोग के संयोग का त्याग करेंगे तभी आप द्रव्य और भाव से सच्चे साधु बन सकेंगे।

हे मुनियो! जब आप वास्तविक अनगार बनेंगे तब आपको उत्कृष्ट संवर रूप धर्म का स्पर्श होगा। उसके स्पर्श से आप अपने कर्म रज को दूर कर सकेंगे। यहां कर्म को जो रज की उपमा दी गई है, उसका कारण यह है कि जैसे रज (मैल) किसी भी वस्तु को ढक देती है, वैसे ही कर्म रूपी रज दुख वगैरह से आत्मा को ढक देती है। जब आप में से यह कर्म रज दूर होगी तब आप सर्वलोक में व्याप्त केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि ज्ञानावर्णीय और दर्शनावर्णीय कर्म के अभाव में आपको शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शन की प्राप्ति होगी। जब आपको शुद्ध ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति होगी तब आप केवल ज्ञानी बनकर चौदह रज्जू रूप लोक और अनन्त अलोक को देख सकेंगे।

हे मुनियो ! आप विद्वान हैं, अतः चौदह रज्जू लोक को तो जानते ही होंगे, अतः इस विषय में मैं अधिक नहीं कहूंगी।

इतने में ही एक मुनि बोल पड़े, "महादेवी ! हमने बहुत बार चौदह रज्जू लोक के स्वरूप को पढ़ा है, पर इस समय वह क्रमशः याद नहीं आ रहा है, अतः आप हमें समझा ही दें तो बड़ी कृपा होगी।"

दीक्षाकुमारी ने शांत होकर कहा—"मुनियो ! इस चौदह रज्जू लोक के तीन भाग हैं, स्वर्ग, मृत्यु और पाताल। वे तीनों मिलकर चौदह रज्जू लोक प्रमाण होते हैं। सर्व प्रथम तो आपको रज्जू शब्द का अर्थ समझना चाहिये। यदि कोई देव कौतुक पूर्वक एक हजार मन का लोहे का गोला सौधर्म देवलोक से पृथ्वी पर फेंके तो उसे जमीन पर गिरने में छः मास, छः दिन और छः मुहुर्त जितना समय लगेगा, इसे एक रज्जू कहते हैं। ऐसी रज्जू तीन प्रकार की है, ऊर्ध्व रज्जू, अधोरज्जू और तिर्यग रज्जू। इनमें से प्रथम ऊर्ध्वा रज्जू मनुष्य लोक से सौधर्म देवलोक तक है। दूसरी ऊर्ध्वा रज्जू महेन्द्र देवलोक से चौथे देवलोक तक है। तीसरी ऊर्ध्वा रज्जू चौथे देवलोक से छठे लांतक देवलोक तक है। चौथी ऊर्ध्वा रज्जू लांतक देवलोक से सहस्त्रवार देवलोक तक है। पांचवी ऊर्ध्व रज्जू सहस्त्रवार देवलोक से अच्युत देवलोक तक है। छठी ऊर्ध्व रज्जू नवग्रै-वेयक देवलोक तक है और सातवीं नवग्रैवेयक से सिद्धशिला तक है।"

दूसरी प्रकार की अधो रज्जू नरक भूमि को लागू होती है। नरक की एक-एक भूमि एक-एक रज्जू प्रमाण में है। उनको एक साथ गिनने से अधोरज्जू भी सात होती हैं। ये दोनों मिल-कर चौदह रज्जू होती हैं. इसलिये यह लोक चौदह रज्जू प्रमाण कहा जाता है। तिर्यंच की रज्जू भी इसी प्रकार जाननी चाहिये। हे मुनि ! आपने तो सिर्फ तिर्यंच की रज्जू बताई थी, सिर्फ उससे चौदह रज्जू प्रमाण लोक नहीं बनता। ऐसे चौदह

रज्जू प्रमाण लोक को केवल ज्ञानी हथेली में पड़े आँवले की तरह देखते हैं। उसी प्रकार अनंत अलोक को भी जानते हैं।

हे मुनियो ! जब आप ऐसा लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त करेंगे तब मन, वचन और काया के योग व्यापार को रोक कर भवोपग्राही कर्मों के क्षय के लिये शैलेसी ध्यान को प्राप्त करेंगे। जिस ध्यान में शैल-पर्वत की भांति निश्चलता प्राप्त की जाती है अनुक्रम से ऐसी स्थिति को प्राप्त करने पर जैन योगी अन्त में कैसी स्थिति को प्राप्त होता है, इस बारे में शय्यंभव स्वामी निम्न गाथा कहते हैं—

"जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥"

जब वह कर्म रूपी रज रहित हो भवोपग्राही कर्मों का क्षय कर सिद्ध पद को प्राप्त करता है, तब वह चौदह रज्जू लोक के मस्तक पर स्थित सिद्ध क्षेत्र में पहुंच कर शाश्वत हो जाता है अर्थात् कर्म रूप बीज के अभाव में जन्म-मरण आदि से रहित होकर नित्य सिद्धपद को प्राप्त करता है।

मुनियो ! ध्यान दीजिये, ज्ञान का प्रभाव कितना चमत्कारी है। जीव-अजीव आदि पदार्थों का ज्ञान कहाँ तक पहुँचाता है,

जिनमें उपर्युक्त योग्यता हो, उनके लिये ही यह सुलभ है। पर जो इसके सच्चे अधिकारी न बने हों, उनके लिये यह दुर्लभ है। इस विषय में महात्मा शय्यंभव स्वामी इसी स्थान पर कहते हैं—

'सुहसायगस्स समणस्स, सायाउगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणा पहोअस्स दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥'

जो मुनि सुखास्वादक हों अर्थात् शब्द, रूप रस, गंध, और स्पर्श इन पांच विषयों से उत्पन्न होने वाले सुख का हमेशा उपभोग करने वाला हो, शाताकुल अर्थात् भविष्य में सुख की प्राप्ति के लिये जो चिंतातुर रहता हो, सूत्र में वर्णित समय

अन्त में सूत्रकार ने इस चोथे 'षट्जीवनिकाय' नामक अध्ययन की समाप्ति करते हुए निम्नोक्त दो गाथायें कही हैं—

'पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो अ, खंती अ बंभचेरं च ।।

इच्चेअं छज्जीवणिअं, समदिट्ठि सयाजए ।
दुल्लहं लहित्तु सामन्नं, कम्मुणा न विराहिज्जासि त्तिबेमि ।।

मुनियो ! इन दोनों गाथाओं का भावार्थ यह है कि जिस व्यक्ति को बारह प्रकार का तप, सत्तर प्रकार का संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, ऐसा व्यक्ति यदि ढलती उम्र में दीक्षा-ग्रहण करे तब भी वह संयम की विराधना किये बिना सन्मार्ग पर चलकर शीघ्र ही देवलोक को जाता है। अतः सम्यक् दृष्टि जीव इस दुर्लभ चारित्र को प्राप्त कर षट्जीवनिकाय अध्ययन में कही गई यत्ना को मन, वचन, काया से पालन करे, प्रमाद वश उनकी विराधना न करे।

हे अनगारो ! इस प्रकार इस अध्ययन का फिर से मनन करना और उसके अनुसार प्रवृत्ति कर अपने चारित्रयुक्त जीवन का सुधार करिये। इतना कहकर अब मेरी यहां से जाने की इच्छा है।

दीक्षाकुमारी के वचन सुनकर उन मुनियों ने गद्‌गद् कंठ से कहा—"हे धर्ममाता ! अभी हमें कुछ उपदेश दीजिये। आपके मुँह से उपदेशामृत सुनते हुए हमें तृप्ति नहीं होती।"

दीक्षाकुमारी ने हेतु गर्भित वचन कहे—"मुनियो ! इस जगत में कितने ही व्यक्ति सिर्फ भावना रखते हैं, पर उनके हृदय में कुछ और ही होता है। आपको यदि मेरी वाणी पर प्रेम हो तो उसे सुनकर जिस प्रकार आप प्रसन्न हुए हैं, उसी प्रकार उस पर प्रवृत्ति कर प्रसन्न होइये। जब तक सिर्फ वाणी में प्रवृत्ति होगी और उसकी क्रिया में प्रवृत्त नहीं किया जायगा, वहां तक यह सिर्फ नकली भावना दिखाना ही है।

बहुत से अल्पबुद्धि व्यक्ति इस प्रकार ही इस संसार को धोखा देते हैं। अतः आप ऐसा नहीं करेंगे। उपदेश सुनने में आपने जैसा प्रेम दिखाया है, वैसा ही प्रेम उनको प्रवृत्त करने में दिखायेंगे और वर्तमान समय में आप जिस सुख विहार का सेवन कर रहे हैं, वैसा सुख-विहार अब आप फिर से नहीं करेंगे। भविष्य में आप ऐसे दुराचार को अवश्य दूर कर देंगे, ऐसी आशा है।

इतना कहकर दीक्षाकुमारी उस स्थान से अदृश्य हो गई। जैसे बिजली चमक कर चली जाती है, वैसे ही वह आकाश मार्ग में लुप्त हो गई।

उस वक्त दोनों मुनियों ने साथ में खड़े होकर फिर से ऐसा सुख-विहार न करने की प्रतिज्ञा ली। फिर उन मजदूरों की तरफ देखकर उनके पास से-अपना सामान लेकर उन्हें छुट्टी दी और दोनों मुनि वहां से विहार कर आगे चले।

दोनों मुनि थोड़े चले होंगे कि उन्हें सामने से आते हुए दो-चार श्रावक मिले। दूर से ही उन्होंने मुनियों को देखा और जल्दी-जल्दी दौड़कर आये तथा उनको घेर कर खड़े हो गये। उनमें से एक-दो श्रावक उनके पास से सामान की गठड़ियें लेने लगे। तब मुनियों ने आक्षेप पूर्वक कहा,—अधर्मी श्रावको ! दूर रहो। तुम रागांध हो। तुम्हारी गुरुभक्ति सापेक्ष है। तुम्हारे राग के कारण हम अपने धर्म से भ्रष्ट होते हैं। तुम हमारे मुनिवर्ग को धर्म से पतित करने वाले और चारित्र से विचलित करने वाले हो। जाओ, वापिस लौट जाओ, फिर से ऐसी गुरुभक्ति मत करना।

मुनियों के ऐसे वचन सुनकर वे श्रावक चकित हुए। उन्होंने सोचा, इन मुनियों को इतना सारा बोझ स्वयं उठाना पड़ा है, इसलिये वे हम पर नाराज हैं। ऐसा सोचकर उनमें से एक श्रावक बोला,—साहब ! क्षमा करें, जिस ग्राम से आपका विहार हुआ है, उस गांव के श्रावक अविवेकी लगते

हैं, उन्होंने सोचा ही नहीं होगा कि महाराज श्री मे इतना सारा बोझ कैसे उठेगा, संघ को क्या कमी पड़ गई थी कि आपके साथ उन्होंने एक दो मजदूरों को नहीं भेजा ? फिर पत्र में वे लिखते हैं, कि 'यहाँ से दोनों मुनियों ने विहार किया है, उनको सुख पहुंचे ऐसी सब व्यवस्था हमने कर दी है। आप उनकी अगवाणी के लिये सामने जाना और जितनी बन सके उतनी गुरुभक्ति करना।' इस प्रकार की लिखावट में तो विवेक है, पर उनकी प्रवृत्ति में तो विवेक दिखाई नहीं देता। साहब माफ करें' गांव के श्रावकों में विवेक नहीं होता।

उन श्रावकों के वचन सुनकर उनमें से एक मुनि ने उच्च स्वर में कहा, सेठो ! हमको ऐसा विवेक नहीं चाहिये। तुमने ऐसा विवेक दिखाकर हमको धर्म भ्रष्ट कर दिया है। उन श्रावकों ने हमारा बोझ उठाने के लिये दो मजदूर साथ में भेजे थे। उनको हमने अभी-अभी वापस भेजा है। एक महादेवी की कृपा से अब हम अपने धर्म में जागृत हुए हैं। हमारी अंधी आँखे खुल गई हैं। हे स्वार्थी श्रावको ! तुमने रागवश हमारे मुनि वर्ग के धर्म का नाश कर दिया है। मुनियों को आग्रह पूर्वक आधाकर्मी आहार प्रदान करना, रात में सुगन्धी तेल से मुनियों की मालिश करना, उनके पैर दबाना भांति-भाँति की परिग्रही वस्तुएँ लाकर आग्रह पूर्वक प्रदान करना, उच्च कोटि के कपड़े और सुशोभित पुठ्ठे उन्हें आग्रह पूर्वक अर्पित करना, थोक बंध कागज, कलम, पेंसिल, लिफाफे, पोस्टकार्ड, पूंजनियें आदि लाकर उन्हें देने का अनुनय करना, आदि अनेक प्रकार की प्रवृत्ति से आप हमारे मुनि धर्म का नाश करने वाले बने हैं। हे अविचारी श्रावको ! अब तो कुछ विचार करो। भविष्य में किसी भी साधु पर ऐसा राग नहीं करें। हमारी भक्ति करने का आपका धर्म है। मुनि बहुमान देना और उनकी सेवा में तत्पर रहना, यह श्रावक का कर्त्तव्य है। यह बात सत्य है, फिर भी आपको ऐसी भक्ति करनी चाहिये कि जिससे हम अपने धर्म से भ्रष्ट न हों। इसके अतिरिक्त आपको पक्षपात भी नहीं करना चाहिये। अमुक साधु पर राग और अमुक साधु

पर द्वेष, ऐसा विपरीत प्रवर्तन भी नहीं करना चाहिये। 'सब मुनि वीरप्रभु के शिष्य हैं, सब समान चारित्र के धारक और चतुर्विध संघ में अग्रणी हैं। ऐसी शुद्ध बुद्धि रख कर आपको प्रवृत्ति करनी चाहिये।

मुनियों के उपर्युक्त वचन सुनकर वे श्रावक समझ गये। उनके हृदय में अपने कर्त्तव्य का वास्तविक भान प्रकट हुआ। फिर शांत और चुप होकर वे उन मुनियों के साथ चले आये।

उसके पश्चात् दीक्षाकुमारी के पवित्र उपदेश से वे दोनों मुनि अपने धर्म में तत्पर रहने लगे और अपना निर्दोष मुनि धर्म और चारित्र का पालन करते हुए विचरने लगे।

◆ ◆ ◆

प्रवास (5)

दोपहार का समय हो रहा था, लोग अपने काम से निवृत्त हो भोजन करने की तैयारी कर रहे थे। मुनि गोचरी की तैयारी कर रहे थे। रसना इन्द्रिय (जीव) के अधीन बने गृहस्थ रसवंती (मिठाई) की बाट देख रहे थे। क्षुधा पीड़ित मनुष्य बार-बार रसोई के समाचार पूछ रहे थे। इस समय पवित्र दीक्षाकुमारी एक विशाल नगर में घूम रही थी। अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिये जैन उपाश्रय की पवित्र भूमि ढूँढ रही थी। इतने में ही एक जैन मुनि उन्हें दिखाई दिये। वे मुनि उपाश्रय के द्वार पर आकुल-व्याकुल खड़े थे। उनकी ऐसी स्थिति देखकर दीक्षाकुमारी उनके समक्ष प्रकट हुई और कहा, "मुनिराज !आप व्याकुल क्यों हैं ?"

दीक्षाकुमारी को अपने समक्ष देखकर वे मुनि आश्चर्य चकित हो गये। उनकी दिव्य मूर्ति देखकर मुनि विचार करने लगे कि यह कौन है ? महादेवी ने हँसते हुए कहा "मुनि ! क्षोभ न करें, जो सत्य बात हो वह कहें। मैं कौन हूं यह बात मैं बाद में बतलाऊंगी।"

मुनि ने धैर्य पूर्वक कहा, "महाभागा ! मैं कभी भी झूठ नहीं बोलता। गोचरी का समय हो चुका है, अतः आहार-पानी लाने के लिये मेरा मन व्याकुल हो रहा है।" दीक्षाकुमारी ने टोका, "इसमें व्याकुल होने का क्या कारण है ?" मुनि बोले, "देवी ! इस नगर में दो तीन उपाश्रय हैं। प्रत्येक उपाश्रय में अलग-अलग संघ के साधु रहते हैं। वे जल्दी-जल्दी अच्छे-अच्छे घरों से गोचरी (भिक्षा) ले आते हैं। बाद में अन्य साधुओं को मनोवांछित आहार नहीं मिल पाता। अतः हमको

जल्दी जाने की आवश्यकता होती है। देर करने से आवश्यकता अनुसार गोचरी नहीं मिलती। आज समय अधिक हो गया है जिससे मेरा मन व्याकुल हो रहा है।"

दीक्षाकुमारी ने सहास्य पूछा, "मुनिराज! आपके इस उपाश्रय में कितने साधु हैं?" मुनि बोले, "महादेवी! इस उपाश्रय में दो मंजिल हैं। ऊपर की मंजिल पर दूसरे संगठन के साधु रहते हैं। नीचे की मंजिल में हम दो साधु ही हैं।"

"आप दोनों साधु गुरु-शिष्य हैं या गुरु-भ्राता?" दीक्षा-कुमारी ने पूछा। मुनि बोले "हम दोनों गुरु-भ्राता हैं, मेरे से बड़े वे ऊपर बैठे हैं, मैं लघु भ्राता आहार लेने जा रहा हूं।' दीक्षाकुमारी ने पूछा, 'आप ने कहाँ तक ज्ञानाभ्यास किया है?' मुनि बोले "देवी। किसी ज्ञानांतराय के योग से मैं कुछ भी अभ्यास न कर सका। मेरे गुरु भ्राता बहुत विद्वान हैं और सूत्र तथा टीका के जानकार हैं।"

दीक्षाकुमारी—"जब ऐसा योग है तब आप अभ्यास क्यों नहीं करते?"

मुनि—"मुझे अभ्यास करने का समय ही नहीं मिलता। वैसे ही वरिष्ठ गुरु भ्राता को भी अभ्यास करवाने का समय नहीं मिल पाता। अतः मैं अभ्यास नहीं कर सकता।"

दीक्षाकुमारी—"आपको और आपके गुरु भाई को इतना क्या काम है कि आपको अभ्यास करने-कराने का समय भी नहीं मिल पाता।"

मुनि—"मेरे गुरु भाई के पास हमेशा बड़े-बड़े गृहस्थ श्रावक आते रहते हैं, उनके साथ उन्हें बहुत देर तक बातचीत करनी पड़ती है। इसके सिवाय बहुत सा पत्र-व्यवहार भी उन्हें ही करना पड़ता है।"

दीक्षाकुमारी—"अभ्यास ही स्वाध्याय है, उसको छोड़ कर गृहस्थ से बीतचीत और पत्र-व्यवहार में समय व्यतीत करना

तो मुनि धर्म के विरुद्ध है। आपके गुरु भाई ऐसा विरुद्ध काम क्यों करते हैं ?"

मुनि—"वे कहते हैं कि वे जो कुछ भी कर रहे हैं, वह धर्म के विरुद्ध नहीं है।"

दीक्षाकुमारी—"यदि वे ऐसा करते हैं तो यह उनकी बड़ी भारी भूल है। यह भूल मुझे सुधारनी पड़ेगी। कहिये, आपके गुरु भाई कहाँ हैं ? मुझे उनसे मिलना है।"

मुनि—"वे नीचे की मंजिल पर बैठे-बैठे पत्रों के उत्तर लिख रहे हैं। आप स्वयं जाकर मिल लीजिये। गोचरी का समय हो गया है इससे मैं और नहीं रुक सकता।"

दीक्षाकुमारी—"आपको साथ में आना पड़ेगा क्योंकि मुझे जो कुछ कहना है, उसे सुनकर आपको भी फायदा होगा।"

मुनि—"देवी। आप ठीक कह रही हैं, पर यदि मैं गोचरी लिये बिना वापस गया तो वे मेरे ऊपर नाराज होंगे।"

दीक्षाकुमारी—"इस बारे में न डरें। मैं साथ हूं अत: वे आप पर नाराज नहीं होंगे।"

दीक्षाकुमारी ने अपने हाथ से मुनि को सहारा देकर जहाँ उनके गुरु भ्राता बैठे थे वहाँ दौड़ कर ले आई। फिर वह अदृश्य हो गई। जिससे वे उसे देख न सके। मुनि को पात्रों के साथ वापस आया देख उन्होंने पूछा, "क्यों आहार-पानी ले आये ?"

मुनि ने उत्तर दिया ! "मैं आहार लेने गया ही नहीं। इस विषय में इन महादेवी को पूछिये।" गुरु भ्राता ने कहा, "महादेवी कौन है और कहाँ है ? तुम वापस क्यों आये ? मुझे बहुत भूख लग रही है। चाहे कोई भी आवे, तुम्हें आहार-पानी लाने में देरी नहीं करनी चाहिये। तुम जानते हो कि सवेरे मुझे कितना काम रहता है। दो घंटे तो पत्र-व्यवहार में

ही चले जाते हैं। इसके सिवाय बातचीत करने आये हुए गृहस्थों के साथ सलाह-मशविरा भी करना पड़ता है। भविष्य में कभी ऐसा मत करना। जल्दी जाओ, गोचरी ले आओ। दस मिनट में मेरे पास गोचरी आनी चाहिये।"

गुरु भ्राता के ऐसे वचन सुनकर मुनि ने दीक्षाकुमारी के सामने देखा। इतने में दीक्षाकुमारी ने निम्न गाथा कही—

"संपत्ते भिक्ख कालंमी, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥"

"जब भिक्षा का समय हो जाय तब साधु को असंभ्रांत रहकर अर्थात् आकुल-व्याकुलता को छोड़कर, आहार की इच्छा या शब्दादि से आसक्ति रखे बिना अनुक्रम से आहार-पानी को ढूंढना चाहिये।"

हे मुनि ! अब प्रमाद को दूर कर प्रवृत्ति करें। अब जैसे-तैसे चलाने से नहीं चलेगा। आप आगार (घर) का त्याग कर अनगार बने हैं, तब फिर वापस सागार (गृहस्थी) क्यों बन रहे हैं ? आपके जैसे विद्वान मुनि जब चारित्र धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति करें, तब दूसरे निरक्षर मुनियों का क्या दोष ? मुझे तो ऐसा लग रहा है कि जो अल्पाभ्यासी हैं वे तो बेचारे फिर भी डर कर चलते हैं और अपने चारित्र धर्म को ठीक ढंग से पालते हैं, पर आजकल तो विद्वान मुनि विशेष प्रमादी दिखाई देते हैं। उनकी प्रवृत्ति व्यवहारी मार्ग में बढी है और स्वधर्म की तरफ घटी है। हे प्रमादी मुनि ! आप हृदय से विचार करें, आपने किसलिये चारित्र लिया है ? आपको चारित्र लेकर क्या करना चाहिये ! आपके चारित्र का जैन प्रजा को क्या लाभ मिल रहा है ? यदि आप इस विषय पर गहरा विचार करेंगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि आप धर्म के लिये कुछ भी उपयोगी नहीं हो रहे हैं। आपका सारा समय बेकार की विरुद्ध प्रवृत्तियों में बर्बाद होता है। दिन का पहला प्रहर जो ज्ञान के अध्ययन-अध्यापन में बीतना चाहिये, वह गृहस्थों के साथ

निकम्मी खटपट की बातें करने में, पत्र-व्यवहार में चला जाता है। फिर दूसरा प्रहर आहार-पानी के आनंद में और सोने के सुख में बीत जाता है। तीसरा प्रहर गृहस्थों से मिलने में और समाचार पत्र पढ़ने में चला जाता है। चौथा प्रहर फिर आहार-पानी और पगचंपी कराने में चला जाता है। दोनों समय करने योग्य स्वाध्याय और ध्यान तो आप अल्प समय में गड़बड़ गोटाले में निबटा देते हैं। प्रतिक्रमण की क्रिया तो आप क्षण मात्र में खेल की तरह कर लेते हैं। इतना करते हुए यदि आप की कोमल (नाजुक) तबियत जरा सी भी बिगड़ जाय तो आप सब कुछ आवश्यक क्रियाओं का त्याग कर औषधोपचार की धींगामस्ती में लग जाते हैं। हे प्रमादी मुनि! जरा सोचिये, आपका चरित्र है कहाँ? आपकी ऐसी प्रवृत्ति को देखकर मेरे मन में आपके प्रति बहुत तिरस्कार पैदा होता है। ज्ञान की अराधना और तत्व ज्ञान का विचार आप कभी करते भी हैं? आपके जैसे प्रमादी मुनि तो अवश्य ही दंडनीय हैं। जब तक आपको मेरा सख्त दंड नहीं मिलेगा तब तक आपका प्रमाद नहीं जायगा, आपके आँखों पर पड़ा अज्ञान व अन्धकार का पर्दा नहीं हटेगा।

दीक्षाकुमारी के ऐसे उग्र वचन सुनकर वे मुनि हृदय में भयभीत हुए! उनका सुकोमल शरीर कंपकंपाने लगा। फिर उन विद्वान मुनि ने दोनों हाथ जोड़कर कहा, "धर्ममाता! क्षमा करें। विपरीत समय चल रहा है, अतः मुनि भी इस विपरीत काल के भोग बन गये हैं, आपके कहे हुए प्रत्येक वचन यथार्थ हैं। हम प्रमाद के वश में होकर चारित्र को दूषित कर रहे हैं। हमें योग्य शिक्षा देकर सरल बनाइये।"

इस प्रकार जब उस मुनि ने नम्रता प्रदर्शित की तब दीक्षा-कुमारी ने शांत होकर कहा, "मुनि! आप में विनय देखकर मुझे संतोष है। मुझे लग रहा है कि अब आप अपने स्वरूप को समझने लगे हैं। इस बुद्धि को कायम रखें और हमेशा प्रमाद से दूर रहें। आप कौन हैं और आपका कर्त्तव्य क्या है, यह आपको

ही चले जाते हैं। इसके सिवाय बातचीत करने आये हुए गृहस्थों के साथ सलाह-मशविरा भी करना पड़ता है। भविष्य में कभी ऐसा मत करना। जल्दी जाओ, गोचरी ले आओ। दस मिनट में मेरे पास गोचरी आनी चाहिये।"

गुरु भ्राता के ऐसे वचन सुनकर मुनि ने दीक्षाकुमारी के सामने देखा। इतने में दीक्षाकुमारी ने निम्न गाथा कही—

"संपत्ते भिक्ख कालंमी, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥"

"जब भिक्षा का समय हो जाय तब साधु को असंभ्रांत रहकर अर्थात् आकुल-व्याकुलता को छोड़कर, आहार की इच्छा या शब्दादि से आसक्ति रखे विना अनुक्रम से आहार-पानी को ढूँढना चाहिये।"

हे मुनि! अब प्रमाद को दूर कर प्रवृत्ति करें। अब जैसे-तैसे चलाने मे नहीं चलेगा। आप आगार (घर) का त्याग कर अनगार बने हैं, तब फिर वापस सागार (गृहस्थी) क्यों बन रहे हैं? आपके जैसे विद्वान मुनि जब चारित्र धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति करें, तब दूसरे निरक्षर मुनियों का क्या दोष? मुझे तो ऐसा लग रहा है कि जो अल्पाभ्यासी हैं वे तो बेचारे फिर भी डर कर चलते हैं और अपने चारित्र धर्म को ठीक ढंग से पालते हैं, पर आजकल तो विद्वान मुनि विशेष प्रमादी दिखाई देते हैं। उनकी प्रवृत्ति व्यवहारी मार्ग में बढी है और स्वधर्म की तरफ घटी है। हे प्रमादी मुनि! आप हृदय से विचार करें, आपने किसलिये चारित्र लिया है? आपको चारित्र लेकर क्या करना चाहिये! आपके चारित्र का जैन प्रजा को क्या लाभ मिल रहा है? यदि आप इस विषय पर गहरा विचार करेंगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि आप धर्म के लिये कुछ भी उपयोगी नहीं हो रहे हैं। आपका सारा समय बेकार की विरुद्ध प्रवृत्तियों में बर्बाद होता है। दिन का पहला प्रहर जो ज्ञान के अध्ययन-अध्यापन में बीतना चाहिये, वह गृहस्थों के साथ

निकम्मी खटपट की बातें करने में, पत्र-व्यवहार में चला जाता है। फिर दूसरा प्रहर आहार-पानी के आनंद में और सोने के सुख में बीत जाता है। तीसरा प्रहर गृहस्थों से मिलने में और समाचार पत्र पढ़ने में चला जाता है। चौथा प्रहर फिर आहार-पानी और पगचंपी कराने में चला जाता है। दोनों समय करने योग्य स्वाध्याय और ध्यान तो आप अल्प समय में गड़बड़ गोटाले में निबटा देते हैं। प्रतिक्रमण की क्रिया तो आप क्षण मात्र में खेल की तरह कर लेते हैं। इतना करते हुए यदि आप की कोमल (नाजुक) तबियत जरा सी भी बिगड़ जाय तो आप सब कुछ आवश्यक क्रियाओं का त्याग कर औषधोपचार की धींगामस्ती में लग जाते हैं। हे प्रमादी मुनि! जरा सोचिये, आपका चरित्र है कहाँ ? आपकी ऐसी प्रवृत्ति को देखकर मेरे मन में आपके प्रति बहुत तिरस्कार पैदा होता है। ज्ञान की अराधना और तत्व ज्ञान का विचार आप कभी करते भी हैं ? आपके जैसे प्रमादी मुनि तो अवश्य ही दंडनीय जब तक आपको मेरा सख्त दंड नहीं मिलेगा तब तक आपका हैं। प्रमाद नहीं जायगा, आपके आँखों पर पड़ा अज्ञान व अन्धकार का पर्दा नहीं हटेगा।

दीक्षाकुमारी के ऐसे उग्र वचन सुनकर वे मुनि हृदय में भयभीत हुए ! उनका सुकोमल शरीर कंपकंपाने लगा। फिर उन विद्वान मुनि ने दोनों हाथ जोड़कर कहा, "धर्ममाता ! क्षमा करें। विपरीत समय चल रहा है, अतः मुनि भी इस विपरीत काल के भोग बन गये हैं, आपके कहे हुए प्रत्येक वचन यथार्थ हैं। हम प्रमाद के वश में होकर चारित्र को दूषित कर रहे हैं। हमें योग्य शिक्षा देकर सरल बनाइये।"

इस प्रकार जब उस मुनि ने नम्रता प्रदर्शित की तब दीक्षा-कुमारी ने शांत होकर कहा, "मुनि ! आप में विनय देखकर मुझे संतोष है। मुझे लग रहा है कि अब आप अपने स्वरूप को समझने लगे हैं। इस बुद्धि को कायम रखें और हमेशा प्रमाद से दूर रहें। आप कौन हैं और आपका कर्त्तव्य क्या है, यह आपको

ही चले जाते हैं। इसके सिवाय बातचीत करने आये हुए गृहस्थों के साथ सलाह-मशविरा भी करना पड़ता है। भविष्य में कभी ऐसा मत करना। जल्दी जाओ, गोचरी ले आओ। दस मिनट में मेरे पास गोचरी आनी चाहिये।"

गुरु भ्राता के ऐसे वचन सुनकर मुनि ने दीक्षाकुमारी के सामने देखा। इतने में दीक्षाकुमारी ने निम्न गाथा कही—

"संपत्ते भिक्ख कालंमी, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥"

"जब भिक्षा का समय हो जाय तब साधु को असंभ्रांत रहकर अर्थात् आकुल-व्याकुलता को छोड़कर, आहार की इच्छा या शब्दादि से आसक्ति रखे बिना अनुक्रम से आहार-पानी को ढूंढना चाहिये।"

हे मुनि! अब प्रमाद को दूर कर प्रवृत्ति करें। अब जैसे-तैसे चलाने मे नहीं चलेगा। आप आगार (घर) का त्याग कर अनगार बने हैं, तब फिर वापस सागार (गृहस्थी) क्यों बन रहे हैं? आपके जैसे विद्वान मुनि जब चारित्र धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति करें, तब दूसरे निरक्षर मुनियों का क्या दोष? मुझे तो ऐसा लग रहा है कि जो अल्पाभ्यासी हैं वे तो बेचारे फिर भी डर कर चलते हैं और अपने चारित्र धर्म को ठीक ढंग से पालते हैं, पर आजकल तो विद्वान मुनि विशेष प्रमादी दिखाई देते हैं। उनकी प्रवृत्ति व्यवहारी मार्ग में बढी है और स्वधर्म की तरफ घटी है। हे प्रमादी मुनि! आप हृदय से विचार करें, आपने किसलिये चारित्र लिया है? आपको चारित्र लेकर क्या करना चाहिये! आपके चारित्र का जैन प्रजा को क्या लाभ मिल रहा है? यदि आप इस विषय पर गहरा विचार करेंगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि आप धर्म के लिये कुछ भी उपयोगी नहीं हो रहे हैं। आपका सारा समय बेकार की विरुद्ध प्रवृत्तियों में बर्बाद होता है। दिन का पहला प्रहर जो ज्ञान के अध्ययन-अध्यापन में बीतना चाहिये, वह गृहस्थों के साथ

निकम्मी खटपट की बातें करने में, पत्र-व्यवहार में चला जाता है। फिर दूसरा प्रहर आहार-पानी के आनंद में और सोने के सुख में बीत जाता है। तीसरा प्रहर गृहस्थों से मिलने में और समाचार पत्र पढ़ने में चला जाता है। चौथा प्रहर फिर आहार-पानी और पगचंपी कराने में चला जाता है। दोनों समय करने योग्य स्वाध्याय और ध्यान तो आप अल्प समय में गड़बड़ गोटाले में निबटा देते हैं। प्रतिक्रमण की क्रिया तो आप क्षण मात्र में खेल की तरह कर लेते हैं। इतना करते हुए यदि आप की कोमल (नाजुक) तबियत जरा सी भी बिगड़ जाय तो आप सब कुछ आवश्यक क्रियाओं का त्याग कर औषधोपचार की धींगामस्ती में लग जाते हैं। हे प्रमादी मुनि! जरा सोचिये, आपका चरित्र है कहाँ? आपकी ऐसी प्रवृत्ति को देखकर मेरे मन में आपके प्रति बहुत तिरस्कार पैदा होता है। ज्ञान की अराधना और तत्व ज्ञान का विचार आप कभी करते भी हैं? आपके जैसे प्रमादी मुनि तो अवश्य ही दंडनीय जब तक आपको मेरा सख्त दंड नहीं मिलेगा तब तक आपका हैं। प्रमाद नहीं जायगा, आपके आँखों पर पड़ा अज्ञान व अन्धकार का पर्दा नहीं हटेगा।

दीक्षाकुमारी के ऐसे उग्र वचन सुनकर वे मुनि हृदय में भयभीत हुए! उनका सुकोमल शरीर कंपकंपाने लगा। फिर उन विद्वान मुनि ने दोनों हाथ जोड़कर कहा, "धर्ममाता! क्षमा करें। विपरीत समय चल रहा है, अतः मुनि भी इस विपरीत काल के भोग बन गये हैं, आपके कहे हुए प्रत्येक वचन यथार्थ हैं। हम प्रमाद के वश में होकर चारित्र को दूषित कर रहे हैं। हमें योग्य शिक्षा देकर सरल बनाइये।"

इस प्रकार जब उस मुनि ने नम्रता प्रदर्शित की तब दीक्षा-कुमारी ने शांत होकर कहा, "मुनि! आप में विनय देखकर मुझे संतोष है। मुझे लग रहा है कि अब आप अपने स्वरूप को समझने लगे हैं। इस बुद्धि को कायम रखें और हमेशा प्रमाद से दूर रहें। आप कौन हैं और आपका कर्त्तव्य क्या है, यह आपको

निकम्मी खटपट की बातें करने में, पत्र-व्यवहार में चला जाता है। फिर दूसरा प्रहर आहार-पानी के आनंद में और सोने के सुख में बीत जाता है। तीसरा प्रहर गृहस्थों से मिलने में और समाचार पत्र पढ़ने में चला जाता है। चौथा प्रहर फिर आहार-पानी और पगचंपी कराने में चला जाता है। दोनों समय करने योग्य स्वाध्याय और ध्यान तो आप अल्प समय में गड़बड़ गोटाले में निवटा देते हैं। प्रतिक्रमण की क्रिया तो आप क्षण मात्र में खेल की तरह कर लेते हैं। इतना करते हुए यदि आप की कोमल (नाजुक) तबियत जरा सी भी बिगड़ जाय तो आप सब कुछ आवश्यक क्रियाओं का त्याग कर औषधोपचार की धींगामस्ती में लग जाते हैं। हे प्रमादी मुनि! जरा सोचिये, आपका चरित्र है कहाँ? आपकी ऐसी प्रवृत्ति को देखकर मेरे मन में आपके प्रति बहुत तिरस्कार पैदा होता है। ज्ञान की अराधना और तत्व ज्ञान का विचार आप कभी करते भी हैं? आपके जैसे प्रमादी मुनि तो अवश्य ही दंडनीय जब तक आपको मेरा सख्त दंड नहीं मिलेगा तब तक आपका हैं। प्रमाद नहीं जायगा, आपके आँखों पर पड़ा अज्ञान व अन्धकार का पर्दा नहीं हटेगा।

दीक्षाकुमारी के ऐसे उग्र वचन सुनकर वे मुनि हृदय में भयभीत हुए! उनका सुकोमल शरीर कंपकंपाने लगा। फिर उन विद्वान मुनि ने दोनों हाथ जोड़कर कहा, "धर्ममाता! क्षमा करें। विपरीत समय चल रहा है, अतः मुनि भी इस विपरीत काल के भोग बन गये हैं, आपके कहे हुए प्रत्येक वचन यथार्थ हैं। हम प्रमाद के वश में होकर चारित्र को दूषित कर रहे हैं। हमें योग्य शिक्षा देकर सरल बनाइये।"

इस प्रकार जब उस मुनि ने नम्रता प्रदर्शित की तब दीक्षा-कुमारी ने शांत होकर कहा, "मुनि! आप में विनय देखकर मुझे संतोष है। मुझे लग रहा है कि अब आप अपने स्वरूप को समझने लगे हैं। इस बुद्धि को कायम रखें और हमेशा प्रमाद से दूर रहें। आप कौन हैं और आपका कर्त्तव्य क्या है, यह आपको

सबसे पहले सोचना चाहिये। आपके जैसे मुनि यदि प्रमाद रहित होकर स्वधर्म में प्रवृत्ति करें तो भारतवर्ष की जैन प्रजा की धार्मिक और सांस्कृतिक उन्नति शीघ्र हो। अनुभवी विद्वान एक ही आवाज से कहते हैं "जब धर्म गुरु विद्वान बनकर पूर्ण जाग्रत होंगे तब जैन धर्म का सच्चा उद्योत होगा।' हे विद्वान मुनि! अब आप अपने कर्त्तव्य को समझकर जाग्रत होइये आप अपने आचार को संभालिये। 'दशवैकालिक' जैसे महासूत्र के नियम सर्वदा स्मरण रखिये। अहर्निश स्वाध्याय करें और करावें। अपने शिष्यों को पढ़ाकर विद्वान बनावें। अपने अमूल्य समय को उपयोगी बनाइये। चारित्र धर्म की आराधना के लिये प्राप्त हुए इस अमूल्य अवसर को व्यर्थ में न गँवाइये। आपको गृहस्थों के साथ क्या मशविरा करना है? आपको पत्र-व्यवहार किससे करना है? आप प्रमाद रहित होकर ज्ञानोपासना की प्रवृत्ति में सचेत बनिये। एक स्थान पर मत पड़े रहिये। उजड़े हुए क्षेत्रों का उद्धार करिये। ग्राम-ग्राम में विचरण कर विविध देश की जैन प्रजा का उपकार करिये।

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर उन मुनि के हृदय में क्षोभ और पश्चाताप होने लगा। उन विद्वान मुनि ने अपने दिल में सोचा कि 'इन धर्म माता का कथन यथार्थ है, आज-कल जैन मुनियों की प्रवृत्ति कुछ अलग ही तरह की हो गई है। मैं भी ऐसे ही मुनियों में से एक हूं। मैं स्वयं ही अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। अहर्निश व्यवहार की प्रवृत्ति में ही मेरा समय व्यर्थ व्यतीत होता है। गृहस्थों के साथ सलाह करने में और पत्र-व्यवहार में तथा स्तुति-निंदा से भरे हुये समाचार पत्रों के पढने में ही मेरा समय व्यतीत हो रहा है। यह मेरी प्रवृत्ति चारित्र धर्म के विरुद्ध है।' इस प्रकार विचार कर उन मुनि ने दीक्षाकुमारी से कहा, "महादेवी! आपके मुँह से जो वचन निकले हैं वे अक्षरशः सत्य हैं। अब मुझे भारी पश्चाताप हो रहा है। वास्तव में मैं आपका अपराधी हूं और सर्व प्रकार से दंडनीय हूँ।"

मुनि के नम्र वचन सुनकर दीक्षाकुमारी ने कहा, "भद्र ! जब से जागे तभी से सवेरा, अब आप अपने मुनि जीवन का सदुपयोग करें। विश्वजन को विनष्ट करने वाले प्रमाद के वशीभूत न हों। अपनी सब प्रवृत्ति को बदलिये और अपने शुद्ध कर्त्तव्य को समझकर तदनुसार प्रवृत्ति करने का प्रयत्न करिये। मुनि ने उत्कंठा से पूछा, "महादेवी ! हमें कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये और हमारा क्या कर्त्तव्य है, यह बताने की कृपा करें।

दीक्षाकुमारी ने आश्चर्य से पूछा, "मुनि ! आप विद्वान होकर ऐसा प्रश्न क्यों कर रहे हैं ? आपने 'दशवैकालिक' सूत्र पढ़ा है या नहीं ?" मुनि बोले, "हाँ मैंने यह सूत्र पहले पढ़ा है, पर फिर दूसरी प्रवृत्तियों में व्यस्त रहने से मुझे इसके विषय में बराबर ध्यान नहीं रहा।"

दीक्षाकुमारी ने सखेद समझाया, "यही आपका प्रमाद है। जो महासूत्र आपके शुद्ध कर्त्तव्य का उपदेश करने वाला है, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ को आप एक तरफ रख दें और दूसरी अनुपयोगी प्रवृत्तियों में पड़े हैं, यह आपकी कितनी बड़ी भूल है ?"

मुनि ने उद्वेगपूर्वक कहा, "महादेवी ! क्षमा करें, मैं हर प्रकार से भूल में पड़ गया हूं। बहुत बार मेरे मन में उस सूत्र को फिर पढ़ कर मनन करने का विचार आया, पर अन्य कार्य के भार से मुझे समय ही न मिला।"

दीक्षाकुमारी ने सरोष कहा, "मुनि ! बहुत अफसोस की बात है कि आपको गृहस्थों से मशविरा करने, पत्रव्यवहार करने और समाचार पत्र पढने का समय तो मिल सकता है, पर 'दशवैकालिक' सूत्र जैसे उपयोगी सूत्र के अध्ययन और मनन का समय नहीं मिल पाता। सत्य है, यह आपका नहीं, वर्तमान काल का ही दोष है।"

इस प्रकार मुनि और दीक्षाकुमारी में वार्तालाप हो ही रहा था कि इतने में ही एक श्रावक हाथ में एक हस्त लिखित पुस्तक लेकर आया। उसे देखकर मुनि ने कहा, "भाई, अभी चले जाइये मैं कुछ कार्य में व्यस्त हूं।" उस समय ज्ञानवती दीक्षाकुमारी ने कहा, "मुनि! यह गृहस्थ क्यों आया था और आपने उसे क्यों वापस लौटा दिया? सच कहियगा। "मुनि कुछ देर चुप रहकर विचार करने लगे। तब दीक्षाकुमारी ने उस गृहस्थ को बुला कर पूछा, "आप कौन हैं, यहां कैसे आये हैं और यह कैसी पुस्तक है?" दिव्य देवी के प्रश्न पर उस सत्यवादी गृहस्थ ने हाथ जोड़कर कहा, 'महामाता! मैं एक विदेशी श्रावक हूं। "प्राचीन मंडल पुस्तकोद्धारक नामक संस्था का व्यवस्थापक हूं। मेरे आधीन जैन धर्म की प्राचीन पुस्तकें मूल और भाषानुवाद में प्रकाशित होती है। हमारी मंडली बिना कुछ नफे के लागत कीमत पर पुस्तकों को बेचकर प्रचार करती है। हस्तलिखित मूल और भाषानुवाद की पुस्तकें कहीं अशुद्ध नहीं छप जाय, इसलिये हमने निश्चित किया है कि प्रत्येक पुस्तक तैयार करवाकर किसी विद्वान जैन मुनि के पास संशोधन के लिये ले जाना और संशोधन के बाद ही उसे प्रकाशित करना। उसी के अनुसार मैं स्वयं पुस्तक लेकर मुनि के पास आया हूं। बहुत दिन से इनके पास फिर रहा हूं, पर दैवयोग से अभी तक मेरा कार्य सिद्ध नहीं हुआ है। इन विद्वान मुनि को बार-बार विनती करता हूं पर इनको समय न मिलने से यह उपयोगी कार्य सफल नहीं हो पाता। आज भी मेरे कार्य की सिद्धि नहीं हुई अतः निराश होकर वापस लौट रहा हूं।"

उस गृहस्थ को बात सुनकर दीक्षाकुमारी ने मुनि के सामने देखा। मुनि नीचा मुंह किये खड़े रहे, लज्जा के कारण उनके मुख से कोई भी बात नहीं निकली। कुछ देर बाद दीक्षाकुमारी ने उच्च स्वर में कहा, "मुनि! देखा, यह आपके प्रमाद का दूसरा प्रभाव प्रकट हुआ। आप प्रवृत्ति के विपरीत मार्ग में चल रहे हैं। दूसरे अनुपयोगी कार्य करने का आपको

समय मिल जाता है और ऐसे उपयोगी कार्य के लिये समय नहीं मिलता, यह कैसी बात है ?"

इस प्रकार मुनि को कहकर दीक्षाकुमारी ने उस गृहस्थ से कहा, "भद्र ! आप ऐसे प्रमादी मुनि के पास कैसे आये ? दूसरे किसी प्रमाद रहित मुनि के पास गये होते तो आपका कार्य शीघ्र सिद्ध हो जाता।"

उस गृहस्थ ने कहा, "महादेवी। मैं दो तीन विद्वान मुनियों के पास जा आया हूं। प्रत्येक मुनि ने यही उत्तर दिया है कि हमें समय नहीं है। जो अधिक विद्वान वे अधिक प्रवृत्ति वाले दिखाई दे रहे हैं। उनकी प्रवृत्ति भी प्रमादवश ही लगती हैं। महामाता ! अधिक क्या कहूं ? साधु की निन्दा करना श्रावक का कर्त्तव्य नहीं हैं।"

दीक्षाकुमारी ने शीघ्रता से कहा, "भद्र। आपके अनुभव में जो बात आयी है वह सत्य है, फिर भी यह मानने की आवश्यकता नहीं कि सभी जैन विद्वान प्रमादी ही हैं। अभी भी एक अप्रमादी जैन मुनि मेरे देखने में आये हैं, वे हैं महा-मनि श्री सुधा विजय। ये विद्वान मुनि सच्चे चारित्र धर्म को जानने वाले और उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले हैं। वे अपनी आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर एकांत में ज्ञानाभ्यास करते हैं और दूसरों को कराते हैं। इसके अतिरिक्त जिनके मन में धर्म के प्रति संदेह है, उनसे मिलकर उनकी शंकाओं का समाधान करते हैं। उससे निवृत्त होने पर प्राचीन जैन ग्रंथों की शोध करते हैं। यदि आप पहले से ही उनके पास गये होते तो अभी तक तो अपने कार्य को सिद्ध करके वापस आ गये होते।"

इस प्रकार उस गृहस्थ से बात करने के पश्चात दीक्षा कुमारी ने उन लज्जित मुनि से कहा, "मुनि ! भविष्य में ऐसा न करें। अपना चारित्र धर्म किस तरह से कृतार्थ हो, इस बात को ध्यान में रख कर हमेशा शुभ कार्य में प्रवृत्ति करें और

अशुभ कार्य से निवृत्त हों। प्रचीन ग्रंथों का उद्धार करना ज्ञान की बड़ी से बड़ी भक्ति है। किसी भी गृहस्थ श्रावक अथवा किसी मंडल की तरफ से कोई भी ऐसी पुस्तक आये तो आप ध्यान रख कर उसकी शोध करें, इसमें थोड़ा भी प्रमाद न करें।

महादेवी के वचन सुनकर मुनि ने मंद स्वर में विनय पूर्वक कहा, "माता ! क्षमा करें, मेरे चारित्र धर्म में ऐसी अनेक भूलें मेरे से हुई हैं। मैंने अपने समय का उपयोग भली प्रकार से नहीं किया है। उसके लिये मुझे बहुत पश्चाताप है। भविष्य में मैं ऐसा अकार्य नहीं करुंगा, अतः मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो।"

मुनि के वचन सुनकर दीक्षाकुमारी के हृदय में आनन्द हुआ। उन्होंने प्रसन्नता से कहा, "मुनि ! आपके आहार-पानी का समय व्यतीत हो रहा है अतः इन मुनि को आहार लाने जाने की आज्ञा दें। मैं अभी जा रही हूं फिर किसी प्रसंग में आपसे दुवारा मिलूंगी।"

दीक्षाकुमारी के वचन सुनते ही मुनि बोल पड़े—'धर्म-माता ! अब अहार-पानी की इच्छा नहीं है। आज तो आपके वचनामृत का ही अहार करना है। आप जैसी पवित्र महादेवी से जब भावाहार मिले तब द्रव्याहार की क्या आवश्यकता है ?' यों कहकर उन्होंने और उनके लघु भ्राता ने आहार के प्रत्याख्यान लिये। उनकी ऐसी उत्तम वृत्ति को देखकर दीक्षादेवी विशेष प्रसन्न हुई।

दीक्षाकुमारी ने प्रसन्नता से कहा,—"मुनिराज ! कहिये, अब क्या इच्छा है ?" मुनि ने हाथ जोड़कर कहा, 'माता ! कुछ भी उपदेश की बात सुनाइये।' दीक्षाकुमारी ने कहा,—'मुनि ! आपके सामने क्या उपदेश किया जाय। जो आपको सुनने की इच्छा ही है तो 'दशवैकालिक सूत्र' से उपदेश करूं।'

मुनि ने अत्यानन्दपूर्वक कहा,—'धर्मदेवी ! हां, यही सुनने की मेरी इच्छा है। यह महासूत्र हम मुनियों के कर्त्तव्य का उपदेश देता है।'

दीक्षाकुमारी ने कहा,—'सुनें, आपको इस महासूत्र के पाँचवे अध्ययन का उपदेश देती हूं। इस अध्ययन का नाम पिंडैषणाध्ययन है। यह आपको विशेष उपयोगी होगा। आपके इन मुनि को गोचरी जाते हुए जो व्याकुलता हो रही थी, वह देखकर मुझे यह अध्ययन ही याद आया है और इसी से मैंने आपके समक्ष सबसे पहले इस अध्ययन की पहली गाथा सुनाई थी, याद है आपको ?'

मुनि ने कहा,—'हाँ, अब मुझे याद आ रहा है। यह गाथा मुझे सुनवाई पड़ी थी, पर आपकी अदृश्य ध्वनि को सुनकर मैं कुछ भ्रांति में पड़ गया था, इससे यह बात मेरे ध्यान में नहीं रही। अब कृपा कर फिर से यह उपदेश सुनाइये।'

दीक्षाकुमारी ने कहा,—'हे मुनि ! सावधान होकर सुनें। 'दशवैकालिक सूत्र' के चौथे अध्ययन का नाम षट्जीव निकाय है। इसमें साधुओं के आचार को छः काय जीव के आश्रित कहा है। साधुओं को अपना शरीर स्वस्थ रखना चाहिए। शरीर का स्वास्थ्य आहार पर निर्भर है। आहार के दो भेद हैं—सावद्य और निर्वद्य। सावद्य आहार साधु के लिये वर्जनीय है। निर्वद्य आहार साधु उचित समय पर ले सकता है। निर्वद्य और सावद्य आहार को पहचानने का ज्ञान प्रत्येक साधु को होना चाहिये। इसी पहिचान के लिये 'दशवैकालिक सूत्र' के पाँचवे अध्ययन में पिंडैषणा का वर्णन है। इस उपयोगी अध्ययन को जानकर मुनि अपनी नित्य की आहार विधि को जान सकता है। हे मुनि ! पहली गाथा में वर्णित 'असंभंतो अमुच्छिओ' पद का प्रत्येक मुनि को मनन करना चाहिए। गोचरी में जाने के लिये मुनि 'असंभ्रांत' अर्थात् आकुल-व्याकुलता रहित होना चाहिये। इसी प्रकार 'अमूर्च्छित' अर्थात् उच्चकोटि के आहार

को प्राप्त करने की लोलुपता नहीं होनी चाहिये। वैसे ही गोचरी के समय शब्दादि विषयों पर आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। गोचरी के लिये जाते हुए मार्ग में संगीत हो रहा हो तो उसे सुनने के लिए खड़ा नहीं होना चाहिए। गोचरी के सच्चे अर्थ को अपने हृदय में समझ कर तदनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये।

'गोचरी' अर्थात् गाय जैसे उत्तम, मध्यम या निकृष्ट प्रदेश का विचार किये विना सभी स्थानों पर विचरण करती है और सरस या नीरस आहार के प्रति राग या द्वेष रखे विना सभी प्रकार का आहार ग्रहण करती है, उसी प्रकार मुनि भी उच्च-नीच घरों में फिर कर सरस-नीरस सभी प्रकार का आहार ग्रहण करे। इस प्रकार गोचरी करने के वजाय आजकल इससे विपरीत प्रवृत्ति करके अपने चारित्र धर्म को दूषित करते हैं। आहार न मिलने पर मुनि को क्रोधित हुए विना शांति से दूसरे गृहस्थों के यहाँ जाना चाहिये। इसके साथ ही उसे वहुत ही सावधानी से घूमना चाहिये। उसे अपने आगे की $3\frac{1}{2}$ हाथ भूमि को देखकर चलना चाहिये। किसी भी प्राणी की विराधना न हो उस प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिये। उसके चलने से पृथ्वीकाय या अपकाय जीव की हिंसा नहीं होनी चाहिये। यदि ऐसा प्रयत्न न करे तो मुनि अपने संयम का विराधक वनता है। गाड़े हुए खंभे, कील और कीचड़ आदि से बचकर चलना चाहिये। यदि कहीं नदी में उतरने के लिए लकड़ी या पत्थर के पायदान बनाये हों तो मुनि को उस पर से नहीं जाना चाहिये। यदि मुनि उस पर जाय और पाँव फिसलने से नीचे गिर जाय तो अपकाय और त्रसकाय जीवों की हिंसा का महादोष लग सकता है। अतः समाधिस्थ भगवान के आज्ञानुसारी साधु को ऐसे मार्ग से नहीं जाना चाहिये। गोचरी में जाते हुए कोयला, लकड़ी या गोवरी (छाणे) के ढेर मिल जाय तो अपने धूल वाले पाँव उन पर रखकर नहीं चलना चाहिये। क्योंकि इससे पृथ्वीकाय जीव की हिंसा होती है। वर्षा गिर रही हो, आँधी चढी हो, धुंध हो या पतंगे आदि

जीव उड़ते हों तो ऐसे समय में संयम धारी मुनि को गोचरी के लिये नहीं निकलना चाहिये ।

संयमी साधु को गोचरी में जाते हुए अपने ब्रह्मचर्य की भी भली प्रकार रक्षा करनी चाहिये । जहाँ आस पास वेश्याएँ या व्याभिचारिणी स्त्रियां रहती हों, ऐसे स्थान पर नहीं जाना चाहिये, क्योंकि ऐसे स्थान पर संसर्ग के दोष से तत्काल दूषित होने का भय रहता है । जहाँ कुत्ते, गाय, मदोन्मत्त बैल, घोड़े, हाथी आदि हों, जहाँ छोटे बच्चे मिट्टी के घर बनाकर खेलते हों या जहां लड़ाई-झगड़ा या मारपीट होती हो, ऐसे स्थान पर साधु को गोचरी नहीं जाना चाहिये । ऐसे स्थान का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये । द्रव्य या भाव से गोचरी में जाते हुए साधु को नीचा नहीं बनना चाहिये । स्त्री आदि के सामने नहीं देखना चाहिये । क्रोध आदि नहीं करना चाहिये, अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये । तेज चलना नहीं, किसी के साथ हँसना नहीं और द्रव्य तथा भाव से हीन कुल में जाना नहीं । जहाँ राजा, सेठ, साहूकार और फौजदार के सलाह मशविरे के स्थान हों और जहाँ जाने से क्लेश पैदा होता हो, ऐसे स्थान पर नहीं जाना चाहिये । जिस घर में जन्म या मरण का सूतक हो या जिसमें नीच जाति के लोग रहते हों या ऐसे घर में गोचरी के लिये नहीं जाना चाहिये । जहाँ पर्दा हो और जिसके द्वार बन्ध हो उसके द्वार खोलकर नहीं जाना चाहिये । जहाँ प्रवेश करने योग्य हो वहाँ भी बिना 'धर्मलाभ' कहे नहीं जाना चाहिये । गोचरी में जाते हुए हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये । यदि कभी लघु शंका या दिशा की हाजत हो जाय तो गृहस्थ की आज्ञा लेकर शुद्ध स्थल पर उस क्रिया से निवृत्त होना चाहिये । जहाँ दिखाई नहीं देता है ऐसे भूगर्भ स्थित घर में गोचरी के लिए नहीं जाना चाहिये । जिस घर के द्वार पर पुष्प या अन्य हरी सब्जी आदि बिखरी पड़ी हो या ताजा लीपा हुआ हो ऐसे घर में साधु को गोचरी नहीं जाना चाहिये । जहाँ गाय, बकरी या बछिया बंधी

को प्राप्त करने की लोलुपता नहीं होनी चाहिये । वैसे ही गोचरी के समय शब्दादि विपयों पर आसक्ति नहीं रखनी चाहिए । गोचरी के लिये जाते हुए मार्ग में संगीत हो रहा हो तो उसे सुनने के लिए खड़ा नहीं होना चाहिए । गोचरी के सच्चे अर्थ को अपने हृदय में समझ कर तदनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

'गोचरी' अर्थात् गाय जैसे उत्तम, मध्यम या निकृष्ट प्रदेश का विचार किये बिना सभी स्थानों पर विचरण करती है और सरस या नीरस आहार के प्रति राग या द्वेष रखे बिना सभी प्रकार का आहार ग्रहण करती है, उसी प्रकार मुनि भी उच्च-नीच घरों में फिर कर सरस-नीरस सभी प्रकार का आहार ग्रहण करे । इस प्रकार गोचरी करने के बजाय आजकल इससे विपरीत प्रवृत्ति करके अपने चारित्र धर्म को दूषित करते हैं । आहार न मिलने पर मुनि को क्रोधित हुए बिना शांति से दूसरे गृहस्थों के यहाँ जाना चाहिये । इसके साथ ही उसे बहुत ही सावधानी से घूमना चाहिये । उसे अपने आगे की $3\frac{1}{2}$ हाथ भूमि को देखकर चलना चाहिये । किसी भी प्राणी की विराधना न हो उस प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिये । उसके चलने से पृथ्वीकाय या अपकाय जीव की हिंसा नहीं होनी चाहिये । यदि ऐसा प्रयत्न न करे तो मुनि अपने संयम का विराधक बनता है । गाड़े हुए खंभे, कील और कीचड़ आदि से बचकर चलना चाहिये । यदि कहीं नदी में उतरने के लिए लकड़ी या पत्थर के पायदान बनाये हों तो मुनि को उस पर से नहीं जाना चाहिये । यदि मुनि उस पर जाय और पाँव फिसलने से नीचे गिर जाय तो अपकाय और त्रसकाय जीवों की हिंसा का महादोप लग सकता है । अतः समाधिस्थ भगवान के आज्ञानुसारी साधु को ऐसे मार्ग से नहीं जाना चाहिये । गोचरी में जाते हुए कोयला, लकड़ी या गोबरी (छाणे) के ढेर मिल जाय तो अपने धूल वाले पाँव उन पर रखकर नहीं चलना चाहिये । क्योंकि इससे पृथ्वीकाय जीव की हिंसा होती है । वर्षा गिर रही हो, आँधी चढी हो, धुंध हो या पतंगे आदि

जीव उड़ते हों तो ऐसे समय में संयम धारी मुनि को गोचरी के लिये नहीं निकलना चाहिये ।

संयमी साधु को गोचरी में जाते हुए अपने ब्रह्मचर्य की भी भली प्रकार रक्षा करनी चाहिये । जहाँ आस पास वेश्याएं या व्याभिचारिणी स्त्रियां रहती हों, ऐसे स्थान पर नहीं जाना चाहिये, क्योंकि ऐसे स्थान पर संसर्ग के दोष से तत्काल दूषित होने का भय रहता है । जहाँ कुत्ते, गाय, मदोन्मत्त बैल, घोड़े, हाथी आदि हों, जहाँ छोटे बच्चे मिट्टी के घर बनाकर खेलते हों या जहां लड़ाई-झगड़ा या मारपीट होती हो, ऐसे स्थान पर साधु को गोचरी नहीं जाना चाहिये । ऐसे स्थान का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये । द्रव्य या भाव से गोचरी में जाते हुए साधु को नीचा नहीं बनना चाहिये । स्त्री आदि के सामने नहीं देखना चाहिये । क्रोध आदि नहीं करना चाहिये, अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये । तेज चलना नहीं, किसी के साथ हँसना नहीं और द्रव्य तथा भाव से हीन कुल में जाना नहीं । जहाँ राजा, सेठ, साहूकार और फौजदार के सलाह मशविरे के स्थान हों और जहाँ जाने से क्लेश पैदा होता हो, ऐसे स्थान पर नहीं जाना चाहिये । जिस घर में जन्म या मरण का सूतक हो या जिसमें नीच जाति के लोग रहते हों या ऐसे घर में गोचरी के लिये नहीं जाना चाहिये । जहाँ पर्दा हो और जिसके द्वार बन्ध हो उसके द्वार खोलकर नहीं जाना चाहिये । जहाँ प्रवेश करने योग्य हो वहाँ भी बिना 'धर्मलाभ' कहे नहीं जाना चाहिये । गोचरी में जाते हुए हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये । यदि कभी लघु शंका या दिशा की हाजत हो जाय तो गृहस्थ की आज्ञा लेकर शुद्ध स्थल पर उस क्रिया से निवृत्त होना चाहिये । जहाँ दिखाई नहीं देता हो ऐसे भूगर्भ स्थित घर में गोचरी के लिए नहीं जाना चाहिये । जिस घर के द्वार पर पुष्प या अन्य हरी सब्जी आदि बिखरी पड़ी हो या ताजा लीपा हुआ हो ऐसे घर में साधु को गोचरी नहीं जाना चाहिये । जहाँ गाय, बकरी या बछिया बंधी

प्रवेश नहीं करना चाहिये।

हे मुनि ! साधु जिस घर में गोचरी के लिये जावे, उस घर की स्त्रियों के सामने एकटक नहीं देखना चाहिये। जो वस्तु दूर पड़ी हो उसकी तरफ या घर के आस पास दृष्टि नहीं घुमावे। गृहस्थी की निन्दा न करे, न दीन वचन ही बोले। भिक्षा लेने जाते समय घर की भूमि की जो मर्यादा हो, उससे आगे नहीं जावे। स्नानघर या पेशावघर से दूर रहे।

उपर्युक्त प्रवृत्ति से गृहस्थ के घर में गया हुआ मुनि घर में खड़ा रहे और गृहस्थ या उसकी स्त्री जो कुछ आहार प्रदान करे उसे ग्रहण करे। जो अन्न-पानी निर्वद्य हो उसे ही ले, जिसके बारे में दूषित होने की शंका हो उसका त्याग कर दे। जो अन्न-पानी अचित हो पर सचित के साथ संसर्ग वाला हो उसे ग्रहण न करे। झूठा या पात्र के साथ छोड़ा हुआ खराब अन्न-जल ग्रहण न करे। जो आहार गर्भवती स्त्री दे रही हो या जो वस्तु गर्भवती ने अपने खाने के लिए बनाई हो, ऐसा आहार साधु ग्रहण न करे। यदि कोई स्त्री बच्चे को स्तन पान कराने बैठी हो तो उसके हाथ से आहार ग्रहण न करे। क्योंकि वह स्त्री बालक के स्तन पान को छुड़ाकर आने से बच्चा रोयेगा जिससे साधु को दोष लगेगा। जो वस्तु विशेषकर साधु को देने के लिये ही तैयार रखी हो, उसे साधु ग्रहण न करे। जो वस्तु पेटी या डिब्बे में ताला लगाकर रखी हो, उसे भी न ले। हे मुनि ! संक्षेप में साधु को 'दशवैकालिक सूत्र' की निम्न गाथा याद रख कर आहार ग्रहण करना चाहिये—

उद्देशियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं।
अज्झोयर पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए॥

साधु को उद्देश्य कर बनाये हुए, खरीद कर लाये हुए, निर्वद्य आहार में आधाकर्मी मिलाकर रखा हो, दूसरे गांव से लाया हुआ, जो साधु को आया जानकर बाहर से लाया हुआ हो या

उधार लाया हुआ हो, घर के लिये और साधु के लिये मिला-कर बनाया हो, ऐसे अन्न-जल का साधु को त्याग करना चाहिये ।

हे मुनि ! इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात भी याद रखनी है । यदि कोई श्रावक या श्राविका साधु को भिक्षा देने के लिये सीढ़ी, पाटा, माचा, या ऊंचे कमरे में चढ़े तो उसे रोक दे और उसके घर से अन्न-जल ग्रहण न करे । क्योंकि ऐसा करते हुए यदि कोई दुघटना हो जाय तो पृथ्वीकाय, वायुकाय जीवों की हिंसा हो सकती है अथवा कभी दाता को भी पीड़ा से दुखी होना पड़ सकता है । अतः ऐसी जगह से दिये जाने वाले आहार का त्याग कर देना चाहिये । हे मुनि ! इसके सिवाय दूसरे भी कई नियम आहार के संबंध में वर्णित हैं जो आप 'दशवैकालिक सूत्र' से जान सकते हैं । आपको कौन सी वस्तु लेने योग्य है और कौन सी अयोग्य, इस बारे में भी उस सूत्र में बहुत विस्तार से वर्णन है ।

हे मुनि ! आहार लाने के पश्चात् मुनि को किस तरह भोजन करना चाहिये, यह भोजन विधि भी आपको जाननी चाहिये । मुनि को एकान्त स्थल पर भोजन करने बैठना चाहिये । जो गृहस्थ के स्थान पर भोजन करने का अवसर आ जाय तो मुनि को गृहस्थ की आज्ञा लेकर, इरियावहिया का पाठ करके हाथ में मुँहपत्ती लेकर, हाथ-पाँव आदि को पूंजणी से भली प्रकार साफ कर भोजन करना चाहिये । भोजन करते हुए तृण, लकड़ी, कंकर आदि कुछ आ जावे तो उसे थूकना या फेंकना नहीं, पर मुँह से निकाल कर एक तरफ एकांत में रख देना चाहिये ।

यदि गृहस्थ के घर पर भोजन करने का अवसर न हो और उपाश्रय में आकर भोजन करने की इच्छा हो तो उपाश्रय में आकर भूमि की प्रतिलेखना कर, 'नमः क्षमा श्रमणेभ्यः' पद को बोलकर विनय से गुरु के पास आकर इरियावहिया का

पाठ कर कायोत्सर्ग करना चाहिये। फिर आहार लेने को जाने पर गमनागमन के जो दोष लगे हों उनको हृदय में विचार कर कपट रहित और व्यग्रता रहित होकर जो ग्रहण किया हो उसकी आलोचना करनी चाहिये। फिर निम्नलिखित गंभीर अर्थ वाली गाथा बोलनी चाहिये—

अहो जिरोहिं असावज्जा, वित्ती साहुण देसिआ।
मोक्ख साहण हेउस्स, साहुदेहस्स धारणा॥

इस गाथा का अर्थ बहुत गंभीर है। मुनियों को गोचरी क्यों करना चाहिये, इस बात का इसमें वर्णन किया गया है। इसका भावार्थ यह है कि "तीर्थकरों ने मोक्ष साधन हेतु रूप मुनि शरीर को धारण करने के लिये मुनियों को निर्दोष गोचरी की वृत्ति बताई है।"

इस गाथा का चिंतन करने के बाद साधु को कायोत्सर्ग पाल कर 'लोगस्सु ज्जोअगरे' का स्तवन बोलते हुए स्वाध्याय पूरा कर थोड़ा विश्राम लेना चाहिये। विश्राम के समय निम्न चिंतन करना चाहिये—

"जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामी तारिओ।"

इस पाठ का भावार्थ यह है कि 'यदि मुनि मेरे द्वारा लाये गये प्रासुक्त आहार को ग्रहण कर मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं इस संसार सागर से तिर जाऊँ।" हे मुनि! विचार करो, आपकी गोचरी की कितनी महत्ता है। इसके साथ ही गोचरी लाकर देने वाले मुनि का उद्देश्य कितना उत्तम है। आजकल इस उत्तम विधि के अनुसार प्रवर्तन करने वाले मुनि बहुत थो हैं। इस प्रकार चिंतन कर मुनि अपने गुरु को आहार ग्रहण करने की विनती करे। यदि गुरु स्वयं आहार न करें तो उनसे कहे कि यह आहार जिसे भी देना हो देने की कृपा करें। उस समय यदि गुरु कहे कि आपकी इच्छा हो उसे दे दो तो फिर मुनि को गुरु की आज्ञानुसार अपने धर्म बन्धु दूसरे साधुओं को अनुक्रम से आहार के लिये आमन्त्रित करना

चाहिये। वे जो वस्तु मांगे वह उन्हें देकर फिर सब मुनियों के साथ आहार करें।

हे मुनि ! आहार करते हुए भी मुनि को बहुत सावधान रहना चाहिये। जिस पात्र में अच्छा प्रकाश गिरता हो उसी में मुनि को आहार करना चाहिये। उस समय हाथ या मुँह में से आहार का एक कण भी नीचे नहीं गिरने देना चाहिये। यदि उस आहार में कड़वा, तीखा, कषैला, खट्टा, मीठा और खारा कोई भी पदार्थ मिला हुआ हो तो साधु रागद्वेष रहित होकर उसे सरस घी जैसा मानते हुए उसका आहार करे। हे मुनि ! आजकल आहार विधि के प्रति मुनियों में बहुत प्रमाद है। अल्पज्ञानी मुनि उत्तमोत्तम आहार को खोजने में लगे हुए हैं। कितने ही तो आहार की लोलुपता के कारण अपने परिचित नगर में ही पड़े रहते हैं। कई रसलुब्ध मुनि उत्तम आहार की इच्छा से धनवान श्रावकों के घर ही गोचरी के लिये जाते हैं और कई इच्छानुसार आहार प्राप्त करने के लिये अपने रागी श्रावकों के घर ही जाते हैं, यह अनुचित है।

प्रत्येक मुनि को अपने आहार की यथार्थ विधि को जानना चाहिये और उसके लिये उन्हें इस 'पिंडैषणा' अध्ययन का अभ्यास करना चाहिये। इस महा अध्ययन के अन्त में जो उपयोगी गाथाएँ वर्णित हैं, उन्हें प्रत्येक मुनि को मनन करना चाहिये। वे गाथाएँ निम्नलिखित हैं—

अरसं विरसं वावि, सुइअं वा असूइअं।
उल्लं वा जइवा सुक्कं, मंथु कुम्मास भोयणं॥

उप्पणं नाइ हीलिज्जा, अप्पं वा बहुफासुअं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोस वज्जिअं॥

बिना रस का, ठंडा, अधिक मसाला वाला या मसाला रहित, नरम, सुखा और उड़द के बाकले का आहार मिले तो भी उसकी निंदा नहीं करे। थोड़ा मिला हो, अधिक मिला

समय दिन का तीसरा प्रहर चल रहा है, भिक्षा कहाँ मिलेगी ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "गुरुजी ! समय तो हो गया है, पर आपकी आज्ञा हुई, अतः मुझे तैयार होना ही चाहिये ।" उसी समय दूसरे मुनि बोले, "समय हो गया तो क्या हुआ, मैं कई बार आपके लिये इस वक्त भी आहार लेकर आया हूं । आपको गर्म आहार की कहाँ आवश्यकता है ?" गुरु ने कहा, "हाँ यह बात ठीक है । कुछ भी नाश्ता मिल जाय तो चलेगा । आज मुझे अभी भूख लग गई है ।" इतने में तीसरे मुनि बोल पड़े, "तब तो देवचंद भाई के घर जाना चाहिये । वे अपने गुरुजी के रागी श्रावक हैं, अतः उनके यहाँ तो किसी भी समय आहार मिल सकता है ।" गुरु ने इस बात का समर्थन किया । फिर वे मुनि गुरु की आज्ञा लेकर चलने को तैयार हुए ।

इस समय दीक्षाकुमारी प्रत्यक्ष हुई और उन गुरुजी के सामने आकर खड़ी हो गई । उन्हें देखते ही गुरुजी चकित हो गये और हृदय में भयभीत होकर काँपने लगे ।

दीक्षाकुमारी ने गंभीर वाणी से कहा, "मुनि ! डरें नहीं, मैं आपकी रक्षक हूं । आपको मुझ से डरने की आवश्यकता नहीं । पर पाप से भयभीत होना चाहिये । आप दोषों से दूर रहने वाले अनगार होकर भी दोषों के साथ रहना चाहते हैं, इससे मुझे आपकी खबर लेने आना पड़ा है ।"

वृद्ध मुनि ने भयभीत होकर कहा, "धर्ममाता ! क्षमा करें । काल के प्रभाव से हम अपने धर्म को भ्रष्ट कर रहे हैं । आपकी कृपा के बिना हमारा चारित्र टिक नहीं सकता ।"

दीक्षाकुमारी ने उच्च स्वर से कहा, "मुनियो ! यदि आप अपने धर्म से भ्रष्ट होंगे और अपने चारित्र को दूषित करेंगे तो फिर मैं कैसे क्षमा कर सकती हूं । धर्म-भ्रष्ट और अनाचारी को क्षमा करना उनके दुर्गुणों को उत्तेजन देना है, अतः मैं ऐसे लोगों को क्षमा नहीं कर सकती ।"

वृद्ध मुनि ने नम्रता से कहा, "महेश्वरी ! यदि आप क्षमा नहीं करेंगी तो हमारे जैसे निरक्षर साधुओं का क्या हाल होगा? यदि आप अपने स्वरूप को खींच लेंगी तो फिर हम किसकी शरण में जायेंगे? हम निरक्षर, निराचार, निर्गुण और निर्बोध हैं, फिर भी आपके स्वरूप के कारण गृहस्थ लोग हमें अन्न-जल देते हैं। हमारे वेष को देखकर हमें साधु का सम्मान देते हैं और हमारे गुणावगुणों को देखे बिना हमारी सेवा करने को तत्पर रहते हैं, यह सब आपके (दीक्षा के) स्वरूप का ही प्रभाव है।"

दीक्षाकुमारी ने आक्षेपपूर्वक कहा, "वृद्ध मुनि ! आपके उपाश्रय में आते ही मैंने जो दृश्य देखा है, उस पर से तो आप कदापि क्षमा करने योग्य नहीं हैं। आपके शिष्य कैसी-कैसी खटपट करते हैं और आप फिर भी उनकी तरफ कैसी उपेक्षा रखते हैं? इस सबका विचार करके मुझे आप पर बहुत ही रोष आ रहा है। जैन जैसे सर्वोत्तम और पवित्र धर्म के गुरुओं में संसारी जैसे प्रपंच हों, यह कितने अफसोस की बात है? आपके जैसे वृद्ध गुरु के समक्ष मुनि मर्यादा रहित होकर प्रवर्तन करें और परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और कुसंप रखकर दूसरों के पराभव का प्रयत्न करें, यह कैसी निंदनीय बात है। हे मुनियो ! आप विचार करें कि आप कौन हैं, आपके पूर्वाचार्य कैसे थे, आप ज्ञात पुत्र के वंशज हैं, आपका चरित्र, तप और ज्ञान कैसा था?

दीक्षाकुमारी के ऐसे वचन उन वृद्ध गुरुजी के साथ अन्य मुनि नीचा मुँह किये खड़े-खड़े सुन रहे थे और उनके हृदय में भारी पश्चात्ताप होने लगा। थोड़ी देर बाद वे वृद्ध गुरु मंद स्वर में बोले, 'महादेवी ! क्षमा करें। हमारे प्रवर्तन के लिए हमें बहुत पश्चाताप हो रहा है। अब आप हमारा उद्धार करें और हमें चारित्र धर्म का शुद्ध मार्ग बतावें। आप दया धर्म को धारण करने वाली दयालु माता हैं।'

दीक्षादेवी ने शांत होकर कहा, 'मुनियो ! आप ज्ञातपुत्र के वंशज हैं। आपके जैसे शुभ्र वेषधारी साधुओं को अधिक कहना ठीक नहीं। आप अपने स्वरूप को पहचानें और सनातन चारित्र धर्म के पवित्र मार्ग का अनुसरण करें। हे वृद्ध मुनि ! आपने ज्ञान का अभ्यास कितना किया है, आगम ग्रंथों में आपको कितनी जानकारी है, जो सत्य हो वह बताना।'

वृद्ध मुनि ने हाथ जोड़कर कहा, "धर्मेश्वरी ! मेरा अभ्यास बहुत थोड़ा है। आगम ग्रंथों के पूरे नाम भी मैं नहीं जानता। वैसे ही मागधी, संस्कृत आदि भाषा भी मैं नहीं जानता। मैं सिर्फ टब्बा और रास पढ़कर अल्प बुद्धि वाले श्रावकों को समझाता हूं।"

दीक्षादेवी ने पूछा, 'विद्या ज्ञान के गुण बिना आपको ऐसी सबसे उच्च मुनिश्वर की पदवी कैसे मिली ?'

वृद्ध मुनि बोले, 'माता ! मैं दीक्षा में बड़ा हूं इसलिये संगठन के लघु शिष्यों ने मुझे मुनिश्वर की पदवी दी है। नये शिष्य भी मेरे अधिनस्थ ही दीक्षित होते हैं।' दीक्षादेवी ने आश्चर्य से कहा, "तब क्या आप सिर्फ दीक्षा वृद्ध ही हैं ? ज्ञान वृद्ध या गुण वृद्ध नहीं। आपके जैसे अन्य भी मुनिश्वर हैं क्या ?" वृद्ध ने उत्तर दिया, "हाँ बहुत से हैं। मैं तो फिर भी दीक्षावृद्ध तो हूं, पर दूसरे मुनि तो अविद्वान होते हुए भी तिकड़म से पन्यास, गणी और आचार्य बने हुए हैं और वे बड़े आडंबर से विचरण कर रहे हैं।"

वृद्ध मुनि के उपर्युक्त वचन सुनकर दीक्षाकुमारी को अधिक आश्चर्य हुआ, "ओह ! वर्तमान काल कैसा विपरीत चल रहा है। पूर्वजों के चारित्र गुण न होने पर भी पूर्वजों की पन्यास, गणी और आचार्य की पदवियें धारण करने वाले महात्मा बने हुए मुनियों को क्या जरा भी शर्म नहीं आती ? जब स्वयं में दूसरे सब पूर्ण गुण हों तभी ये पदवियें शोभा देती हैं। गुण बिना सब पद शुष्क हैं

इस प्रकार विचार कर दीक्षाकुमारी ने वृद्ध मुनि से पूछा, "हे मुनि ! जब आपने ज्ञान का संपादन नहीं किया तो आपने कुछ धर्मशास्त्रों को तो सुना ही होगा। अपने गुरु के मुख से कोई सूत्र ग्रंथ सुने हैं या नहीं ?" वृद्ध मुनि ने ग्लानमुख से उत्तर दिया—हां, सुने तो जरूर हैं, पर बुद्धि के बल विना वे मुझे याद नहीं रहे हैं।' दीक्षादेवी ने कहा,—'कभी आपने 'दशवैकालिक सूत्र' सुना है ?' वृद्ध बोले, 'एक समय सुना था।'

दीक्षाकुमारी—उसमें आपने पाँचवा 'पिंडैपणा' अध्ययन सुना है ?

वृद्ध—हाँ सुना है।

दीक्षा—उसमें मुनि के आहार के बारे में क्या लिखा है ?

वृद्ध—वह तो मुझे याद नहीं।

दीक्षा—अभी मैंने अदृश्य रहकर दो गाथा कहीं, वे सुनी।

वृद्ध—हाँ, मैंने सुनी हैं।

दीक्षा—आपने उसका अर्थ समझा या नहीं ?

वृद्ध—नहीं, मैं नहीं समझ सका।

जब वृद्ध ने मना किया तब दीक्षाकुमारी ने दूसरे मुनि के सामने देखकर कहा, "मुनियो ! आप में से किसी ने भी उस गाथा का अर्थ समझा था या नहीं ?"

एक मुनि ने जवाब दिया, "महादेवी ! आपके मुख से निसृत गाथा का अर्थ मैं समझ सका था, क्योंकि मुझे संस्कृत और मागधी का थोड़ा ज्ञान है।"

दीक्षा—यह ज्ञान किससे प्राप्त किया ?"

मुनि—"एक ब्राह्मण शास्त्री से मैंने यह ज्ञान प्राप्त किया।"

दीक्षाकुमारी ने अफसोस के साथ कहा, "आह ! क्या जमाना आया है। जगद्गुरु के शिष्यों को ब्राह्मण पंडित ज्ञान

दे रहे हैं। पन्यास, गणी और आचार्य पद को धारण करने वाले गुरुओं के शिष्य ब्राह्मणों के पास पढ़ रहे हैं। वरिष्ठ गुरु श्रावकों का अन्न-जल ग्रहण कर, बैठे-बैठे आनन्द कर रहे हैं। उनको स्वयं अपने शिष्यों को पढ़ाने का समय नहीं मिलता। यदि समय मिल भी जाय तो धनाढ्य श्रावकों के गुरु यह मेहनत क्यों करे ? अहा ! कैसा विपरीत काल चल रहा है ?"

इस प्रकार कह दीक्षाकुमारी ने उस मुनि से पूछा, "हे मुनि ! यदि आपने उस गाथा का अर्थ समझा हो तो कह सुनाइये।"

मुनि—"आप कृपा कर वह गाथा फिर से बोलिये।"

फिर दीक्षाकुमारी ने वह गाथा निम्न प्रकार से कही--

"कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिकम्मे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ।।"

मुनि ने उसका अर्थ कहा, "साधु को आहार लेने के समय गोचरी के लिये जाना चाहिये और जब अपने स्वाध्याय का समय हो तो वापस आ जाना चाहिये, इसके लिए अकाल को टालना चाहिये। जो काम जिस समय में करना हो उसे उसी समय करना चाहिये।"

अर्थ सुनकर दीक्षाकुमारी कुछ प्रसन्न हुई, फिर उन्होंने निम्नलिखित दूसरी गाथा पुनः कह सुनाई—

अकाले चरसी भिक्खू, कालं न पडिलेहिसि।
अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि ।।"

मुनि ने इस गाथा का अर्थ कहा, "हे मुनि ! तू अकाल में भिक्षा के लिये फिरता है और योग्य काल की उपेक्षा करता है। ऐसा करके तू अपनी आत्मा को भी क्लेश देता और ग्राम की भी निंदा कराता है।"

दीक्षाकुमारी ने कहा, 'हे मुनि ! आपने इसका शब्दार्थ तो ठीक किया पर उसका संबंध बराबर नहीं बताया सो सोच कर बताइये ।'

मुनि ने कहा, महादेवी ! मैं इसके संबंध के विषय में कुछ भी नहीं जानता, सिर्फ शब्दार्थ जानता हूं। यदि आप इस विषय में मुझे समझायें तो बड़ी कृपा होगी ।'

दीक्षाकुमारी बोली, "कोई मुनि अकाल में भिक्षा लेने ग्राम में निकले, भिक्षा का समय न होने से वे मुनि उस ग्राम की निंदा करने लगें, यह सुनकर दूसरे मुनि ने यह गाथा सुनाई । इस प्रकार इस गाथा का संबंध है ।

मुनि ने आनंदित होकर कहा, "महादेवी, आप द्वारा कहे संबंध को सुनकर अब मुझे इस गाथा का अर्थ अधिक स्पष्ट हुआ है, अतः आपने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है ।"

इस समय पहले वृद्ध मुनि बोले, "आपने आकर पहले अदृश्य रह कर यह गाथा कही जिसका क्या कारण था ।"

दीक्षाकुमारी ने आक्षेप किया, वृद्ध मुनि ! जब मैं आपके उपाश्रय में आई तब मध्यान्ह के बाद का समय था अतः भिक्षा काल का अतिक्रम हो चुका था। उस समय आप किसी शिष्य को नाश्ते के लिये भिक्षा लेने भेज रहे थे । आपके इस अनाचार को देखकर आपको शिक्षा देने के लिए ही मैंने ये दोनों ही गाथाएं कही थी ।" वृद्ध मुनि ने कहा, 'महादेवी ! क्षमा करें। काल के प्रभाव से मेरी मनोवृत्ति अनाचार के मार्ग पर चली गई थी । भविष्य में अब मैं ऐसे अनाचार का सेवन नहीं करुंगा । प्रतिदिन अपने विद्वान शिष्य से 'दशवैकालिक सूत्र' को सुनकर अपने दूषित चारित्र को सुधारुंगा। हे कृपालु माता आप भी मुझे इस समय इस महासूत्र का बोध दीजिये और मेरे मलिन बने चारित्र को उज्जवल कीजिये ।

वृद्ध मुनि की इस प्रार्थना का अन्य मुनियों ने भी अनुमोदन किया, अतः दीक्षाकुमारी ने 'पिंडैषणा' अध्ययन के दूसरे उद्देश्य का उपदेश देना प्रारम्भ किया।

"हे मुनियो ! प्रथम तो आपको भिक्षा काल के विषय में पूर्ण स्मरण होना चाहिये। जब आप भिक्षा लाकर आहार करें उसके पश्चात् अपने पात्र झोली वगैरह को साफ रखें। जो भिक्षा लाये हों, उस सब का उपयोग करें। अच्छी भिक्षा तो खाना और हल्की भिक्षा को छोड़ने का कार्य न करे। जितने से आपके संयम का निर्वाह हो सके, उतना ही भोजन खायें, उससे अधिक न खायें। भिक्षा समयानुसार लेने जाने पर भी यदि भिक्षा न मिले तो उसका अफसोस न करें। भिक्षा लेते समय यदि कोई अन्य प्राणी आहार के लिये आये तो साधु उसके सामने नहीं जाये क्योंकि ऐसा करने से उस प्राणी को त्रास या भय उत्पन्न होता है। गोचरी गये साधु को घर के कपाट, दरवाजे की शाखा अथवा दूसरे किसी भाग के पीछे पीठकर खड़े नहीं होना चाहिये। गृहस्थ के घर भिक्षा लेने जाते समय यदि कोई अन्य साधु, ब्राह्मण, कृपण या भिखारी वहाँ खड़ा हो या आता हो तो उसका उल्लंघन करके नहीं जायें। अगर वह अन्दर चला गया हो तो एक तरफ खड़े रहें, उसे भिक्षा प्राप्ति में विक्षेप हो, ऐसा कार्य न करें।

साधु को गृहस्थ के घर जाकर जो पदार्थ कल्पता हो, सूझता हो, उसे ही लेना चाहिये। असूझता आहार कभी न लें। साधु को आहार में किन-किन पदार्थों को नहीं लेना चाहिये, इस बारे में इस सूत्र में बहुत विस्तार से लिखा है। उसे आपको जानना चाहिये। सचित्त कमल का कंद, पलाश का कंद, नील कमल की नाल, सरसों की डंडी, ईख के टुकड़े, इमली और अन्य हरी कुंपलें जो शस्त्र परिणित न हों, उन्हें साधु त्याग दे। बंश, करेला, तिलपापड़ी, बिजौरा और मूला यदि शस्त्र परिणित न हो तो उनका भी त्याग कर दे। इसके सिवाय जो भी पदार्थ अप्रासुक्त हों और निंदित हों, उनकी साधु कभी भी इच्छा न करे।

हे मुनियो ! उपर्युक्त बातों का ध्यान रखकर हमेशा तद-नुसार आहार विधि का आचरण करें। इसके साथ ही नीचे की गाथा सर्वदा याद रखें, क्योंकि आजकल इस गाथा का उल्लंघन अक्सर होता है—

"समुआणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्मं, उसढं नाभिधारए ॥

"मुनियो ! इस गाथा का अर्थ आपको मनन करना चाहिये। सुनें, साधु को शुद्ध भिक्षा को ध्यान में रखकर ही भिक्षा के लिये जाना चाहिये। उसे द्रव्य की अपेक्षा से उच्च और नीच कुलों में समदृष्टि रखकर गोचरी को जाना चाहिये। निर्धन कुल का उल्लंघन कर अधिक लाभ की इच्छा से धनाढ्य कुल में आहार लेने नहीं जाना चाहिये। हे मुनियो ! ऐसा शास्त्र का नियम है। फिर भी आजकल के मुनि इस नियम का उल्लंघन करते हुए दिखाई देते हैं, यह बहुत ही अफसोस की बात है। उपकारी पूर्वज महानुभावों ने आपको आहार विधि में बहुत ही उपयोगी नियम बनाये हैं। फिर भी आप उनकी उपेक्षा करें तो फिर वर्तमान काल में चारित्र को दोष लगे तो इसमें क्या आश्चर्य ? विद्वान और चारित्र धर्म को जानने वाले मुनि को कभी आहार न मिले तो अफसोस नहीं करना चाहिये।

वैसे ही यदि कभी सरस आहार मिले तो खुश नहीं हों। इसके साथ ही आहार का प्रमाण रखना चाहिये। अपने निर्वाहपूर्ति जितना आहार मिल जाने पर साधु को संतोष रखना चाहिये। यदि कभी किसी गृहस्थ अथवा अन्यमति के घर से स्वादिष्ट भिक्षा मिलती हो तो उस पर लालच नहीं करे। यदि कोई गृहस्थ उच्च स्वादिष्ट भिक्षा न दे तो उस पर नाराज नहीं होना चाहिये, वह जो कुछ भी दे, वह लेकर संतोष करे।

हे मुनियो ! आजकल जो विपरीत प्रवृत्ति चल रही है उससे भी आपको दूर रहना चाहिये। कई अपक्व मुनि जब

कोई गृहस्थ वदन करने आता है तव उससे अपनी इच्छानुसार कोई आहार या वस्तु माँगते हैं और यदि उन्हें उसके घर से वह वस्तु नहीं मिलती तो उसका उपहास करते हैं। यह प्रवृत्ति वहुत ही अधम है। इससे मुनियों के चारित्र दूषित होते हैं। ऐसी प्रवृत्ति न करने के लिये 'दशवैकालिक सूत्र' में निम्न गाथा कही गई है--

इत्थिअं पुरुषं वावि, डहरं वा महल्लगं।
वंदमाण न जाइज्जा, नो अणं फरुसं वए॥

"मुनियो! सुनो, कोई स्त्री या पुरुष या वृद्ध वंदन करने आवे तो साधु उनके पास से कुछ भी नहीं माँगे। वैसे ही यदि कोई सूझते आहार के अभाव में या और किसी कारण से आहार देने के लिये न कहे तो साधु उस पर नाराज होकर कठोर वचन न वोले।

मुनियो! इस गाथा का मनन करें और उसके अनुसार प्रवर्तन कर अपने चारित्र को निर्दोष रखें। कितने ही मुनि अपने को वंदन न करने वाले श्रावकों पर नाराज होते हैं और यदि कोई धनाढ्य गृहस्थ वंदन करने आवे तो मन में अभिमान करते हैं, यह प्रवृत्ति भी चारित्र धर्म को दूषित करता है। इस विषय पर 'दशवैकालिक सूत्र' में निम्न गाथा कही है—

प्रत्येक मुनि को कैसी शुद्धता रखनी चाहिये, इस बारे में इस महा सूत्र में एक उत्तम गाथा कही गई है। उसमें लिखा है कि गोचरी लेने गया मुनि अपने गुरु या बड़े से कुछ दुराव न रखे। यदि कभी उत्तम प्रकार का और साथ ही हल्के प्रकार का आहार मिला हो तो मुनि अपने लालच से उच्च आहार को नीचे रख कर ढंक दे और हल्का आहार ऊपर रखकर गुरु को नहीं दिखावे, क्योंकि ऐसी कपट वृत्ति से बहुत दोष लगता है। वैसे ही बढ़िया आहार स्वयं लेकर, हल्का आहार दूसरों को देना भी बहुत बड़ा दुराचार कहाता है। ऐसे साधु को मोक्ष गति प्राप्त नहीं होती। ऐसे साधु को स्वार्थी कहा जाता है और उसको कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इस विषयक "दशवैकालिक सूत्र' की गाथा इस प्रकार है—

"अत्तट्ठा गुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ।
दुत्तोसओ यसे होइ, निव्वाणं च न गच्छइ।।"

जो साधु अपने स्वार्थ में लुब्ध होकर बहुत पाप करता है, ऐसे साधु को जैसे-तैसे आहार से संतोष नहीं होता और वह साधु मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

हे मुनियो! इसलिये आपको सर्वथा स्वार्थ का त्याग कर चारित्र का आराधन करना चाहिये। ऐसा करने से आपका मुनि जीवन सर्व प्रकार से कृतार्थ होगा।

हे चारित्रधारी अनगारो! आपको एक अन्य बात भी ध्यान में रखनी चाहिये। वर्तमान समय में कई एक मुनि ऐसी इच्छा रखते हैं कि लोगों में अपनी पूजा हो, कीर्ति बढे, अच्छा मान मिले और लोग खूब सम्मान करे। ऐसे मुनि अपने चारित्र से भ्रष्ट होते हैं। शास्त्रकार ने ऐसे साधुओं को माया कंटक कहा है। इसके लिये 'दशवैकालिक सूत्र' की निम्न गाथा मनन करने योग्य है—

"पूअणट्ठी जसोकामी, माणसम्माण कामए
बहुं पसवई पावं. माया सल्लं च कुव्वइ।

कोई गृहस्थ वदन करने आता है तब उससे अपनी इच्छानुसार कोई आहार या वस्तु माँगते हैं और यदि उन्हें उसके घर से वह वस्तु नहीं मिलती तो उसका उपहास करते हैं। यह प्रवृत्ति बहुत ही अधर्म है। इससे मुनियों के चारित्र दूषित होते हैं। ऐसी प्रवृत्ति न करने के लिये 'दशवैकालिक सूत्र' में निम्न गाथा कही गई है—

इत्थिअं पुरुषं वावि, डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणं न जाइज्जा, नो अणं फरुसं वए।।

"मुनियो! सुनो, कोई स्त्री या पुरुष या वृद्ध वंदन करने आवे तो साधु उनके पास से कुछ भी नहीं माँगे। वैसे ही यदि कोई सूझते आहार के अभाव में या और किसी कारण से आहार देने के लिये न कहे तो साधु उस पर नाराज होकर कठोर वचन न बोले।

मुनियो! इस गाथा का मनन करें और उसके अनुसार प्रवर्तन कर अपने चारित्र को निर्दोष रखें। कितने ही मुनि अपने को वंदन न करने वाले श्रावकों पर नाराज होते हैं और यदि कोई धनाढ्य गृहस्थ वंदन करने आवे तो मन में अभिमान करते हैं, यह प्रवृत्ति भी चारित्र धर्म को दूषित करता है। इस विषय पर 'दशवैकालिक सूत्र' में निम्न गाथा कही है—

"जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्ने समाणस्स, सामण मणुचिट्ठई।।

अर्थात् यदि कोई गृहस्थ वंदन न करे तो मुनि उस पर क्रोध न करे और कोई बड़ा गृहस्थ वंदन करे तो अभिमान न करे। इस प्रकार चलने वाले मुनि का साधुत्व अखंड रहता है।

हे मुनियो! यह बात अपने ध्यान में रखें। यदि आप इससे विपरीत प्रवर्तन करेंगे तो आपका गौरव और चारित्र दोनों दूषित होंगे। आपके धर्म के बारे में 'दशवैकालिक सूत्र' में बहुत लिखा है और आपको उत्तम प्रकार की चेतावनी दी है।

प्रत्येक मुनि को कैसी शुद्धता रखनी चाहिये, इस बारे में इस महा सूत्र में एक उत्तम गाथा कही गई है। उसमें लिखा है कि गोचरी लेने गया मुनि अपने गुरु या बड़े से कुछ दुराव न रखे। यदि कभी उत्तम प्रकार का और साथ ही हल्के प्रकार का आहार मिला हो तो मुनि अपने लालच से उच्च आहार को नीचे रख कर ढंक दे और हल्का आहार ऊपर रखकर गुरु को नहीं दिखावे, क्योंकि ऐसी कपट वृत्ति से बहुत दोष लगता है। वैसे ही बढ़िया आहार स्वयं लेकर, हल्का आहार दूसरों को देना भी बहुत बड़ा दुराचार कहाता है। ऐसे साधु को मोक्ष गति प्राप्त नहीं होती। ऐसे साधु को स्वार्थी कहा जाता है और उसको कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इस विषयक "दश-वैकालिक सूत्र' की गाथा इस प्रकार है—

"अत्तट्ठा गुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ।
दुत्तोसओ यसे होइ, निव्वाणं च न गच्छइ॥"

जो साधु अपने स्वार्थ में लुब्ध होकर बहुत पाप करता है, ऐसे साधु को जेसे-तैसे आहार से संतोष नहीं होता और वह साधु मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

हे मुनियो! इसलिये आपको सर्वथा स्वार्थ का त्याग कर चारित्र का आराधन करना चाहिये। ऐसा करने से आपका मुनि जीवन सर्व प्रकार से कृतार्थ होगा।

हे चारित्रधारी अनगारो! आपको एक अन्य बात भी ध्यान में रखनी चाहिये। वर्तमान समय में कई एक मुनि ऐसी इच्छा रखते हैं, कि लोगों में अपनी पूजा हो, कीर्ति बढ़े, अच्छा मान मिले और लोग खूब सम्मान करे। ऐसे मुनि अपने चारित्र से भ्रष्ट होते हैं। शास्त्रकार ने ऐसे साधुओं को माया कंटक कहा है। इसके लिये 'दशवैकालिक सूत्र' की निम्न गाथा मनन करने योग्य है—

"पूअणट्ठी जसोकामी, माणसम्माण कामए।
बहुं पसवई पावं. माया सल्लं च कुव्वइ॥"

"जो साधु पूजा की, अर्थ की, यश की, मान की और सम्मान की इच्छा रखते हैं, वे वहुत पाप उत्पन्न करते हैं और माया शल्य करते हैं ।"

हे मुनियो ! इसके अतिरिक्त आपको मदिरा आदि दुर्व्यसनों से सर्वथा दूर रहना चाहिये । कोई भी मादक पदार्थ का सेवन न करें क्योंकि उससे कई दुर्गुण उत्पन्न होते हैं । उत्तम पुरुष उसकी निंदा करते हैं और उसे तिरस्कार की नजर से देखते हैं ।

हे मुनियो ! 'दशवैकालिक सूत्र' में कुछ साधुओं को चोर कहा गया है, यह बात आपको सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये । इस विषय में सूत्र में निम्न गाथा कही है—

"तव तेणे वय तेणे रूप तेणे अ जे न रे ।
आयार भाव तेणे अ, कुव्वइ देव किव्विसं ।।"

"तप चोर, वचन चोर, रूप चोर, आचार चोर और भाव चोर ये पाँच प्रकार के चोर किल्वीषी देव होते हैं ।"

हे मुनि ! ये पांच प्रकार के चोर कैसे होते हैं ? कोई साधु से पूछे कि आप तपस्वी हैं क्या ? तब साधु स्वयं तप न करता हो तो भी अपने को तपस्वी कहे तो वह तप चोर कहाता है ! जो सच्चा तपस्वी होता है वह कभी नहीं कहता कि 'मैं तपस्वी हूं ।' ऐसे साधु को जब कोई पूछता है तो वह मौन रखता है या 'साधु हमेशा तपस्वी ही होते हैं' ऐसा कहता है । जो मुनि शास्त्र की बात न जानता हो किन्तु अपने वचन लालित्य से सभा को खुश करता हो, ऐसे मुनि को यदि कोई पूछे कि 'क्या आप शास्त्र जानते हैं ?' तब यदि वह कहे कि 'हाँ मैं शास्त्र जानता हूं' तो वह वचन चोर है ।

हे मुनियो ! आजकल वचन चोर मुनि बहुत दिखाई देते हैं । अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाकर या मीठे स्वर से गायन,

श्लोक या गाथा गाकर सभा को खुश कर अपने को पंडित बताने का आडंबर बहुत से मुनि करते हैं। ऐसे मुनियों को शिक्षा देने के लिये ही मेरा अवतरण हुआ है। हे अनगारो ! आप कभी भी ऐसे वचन चोर न बनें। यदि आप वचन चोर बनेंगे तो अपने आपको पंडित मान बैठेंगे, जिससे आप में अभिमान पैदा होगा, फिर आप ज्ञान की वृद्धि नहीं कर सकेंगे। बहुत अभिमानी पंडित मुनि अपने अभिमानवश अज्ञानी ही रह गये हैं।

यदि कोई मुनि स्वरूपवान् हो और उसे कोई पूछे कि 'आप राजकुमार या किसी धनाढ्य गृहस्थ के पुत्र दिखाई देते हैं।' तब वह मुनि वास्तव में उच्च कुल का न होने पर भी कहे कि 'आपकी बात सच्ची है; मैं उच्च कुल का हूं।' तो वह रूप चोर है। कोई मुनि बिना वैराग्य के दिखावे के लिये बाह्याडंबर करता हो, उसे पूछा जाय कि 'महाराज आप अच्छे आचारवाल गिने जाते हैं, क्या वे आप ही हैं?' तब वह 'हाँ मैं ही हूं, ऐसा असत्य बोले तो वह आचार चोर कहाता है। ऐसे बहुत से मुनि वर्तमान काल में विचरण करते होंगे। कोई पुरुष सूत्र के अर्थ का संदेह दूर करनें के लिये किसी गीतार्थ गुरु से पूछे और गुरु के मुँह से अर्थ को सुनकर कहे कि 'हाँ ठीक है, मैं तो जानता ही था, सिर्फ आपको परीक्षा लेने के लिये पूछा था।' इस प्रकार टेढ़ा बोलने वाला भाव चोर कहाता हे। ये पाँचों प्रकार के चोर मुनि साधु नहीं बल्कि साध्वाभास (साधु जैसे बाहर से दिखने वाले) हैं और उनको उत्तम गति प्राप्त नहीं हो सकती। परंपरा से वे लोग नरक में उत्पन्न होते हैं।

हे मुनियो ! इस प्रकार आपको जो उपदेश दिया है, उसे मनन कर आप अपने सब दोष दूर करें। इस विषय में पाँचवें पिंडैषणा अध्ययन को निम्न अंतिम गाथा का सर्वथा मनन करें।

"एअं च दोस दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
अणुमायंपि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥'

'मर्यादा में रहने वाले साधु, महावीर स्वामी द्वारा कहे हुए उपर्युक्त दोषों को जानकर माया मृषावाद (कपट पूर्वक झूठ बोलने) के दोषों का अणुमात्र भी सेवन न करें ।'

इस प्रकार कहकर दीक्षाकुमारी ने विशेष तौर पर कहा कि, "हे मुनियो ! यह मेरा उपदेश आप अपने हृदय में स्थापित करें । अब मैं यहां से अन्य स्थान पर जा रही हूं ।"

इतने में तीन गुणवान साधुओं ने कहा, "महाराज ! आप आज्ञा दें तो हम इस महासूत्र का विशेष अभ्यास करने को जावें ।" गुरु ने विचार कर पूछा "किसके पास जाओगे ?" इतने में एक साधु बोला, वर्तमानकाल नें मुनियों को अभ्यास कराने योग्य गुणी साधु सुधाविजय हैं । यह नाम सुनते ही वृद्ध मुनि प्रसन्न हो गये । आनन्द से बोले, "हाँ, वे सच्चे महात्मा हैं वर्तमान में जैन मुनियों में श्रेष्ठ हैं । जैन मुनि मण्डल के आभूषण, मुनिकुल दीपक, शांत, ज्ञानी, उपकारी और दयालु हैं । चारित्र धर्म के सभी उत्तम गुण उनमें हैं । ऐसे मुनिरत्न के जीवन को धन्य है ।" ऐसा कह वे वृद्ध मुनि अपने शिष्यों के साथ विहार कर मुनि सुधाविजय के पास चले गये ।

प्रवास (6)

एक उपाश्रय में चार साधु रहते थे। उनके बहुत से चातुर्मास उसी नगर में हुए थे। कितने ही जैन गृहस्थ उनके रागी बन गये थे, जिससे वे उस नगर और उस उपाश्रय से अधिक परिचित हो गये थे। लोकापवाद के भय से वे कभी-कभी आस पास के गाँवों में विहार कर लेते थे, पर वापस उसी नगर में लौट कर चिरकाल से वहीं पर रहते थे।

पवित्र दीक्षाकुमारी उसी उपाश्रय में आकर खड़ी हुई। उनमें से एक मुनि शैय्या पर लेटे हुए थे। दूसरे दो मुनि उनकी चरण-सेवा कर रहे थे और एक मुनि उन लेटे हुए मुनि से बातचीत कर रहे थे। दीक्षाकुमारी आई तब उनमें निम्न बातचीत हो रही थी—

एक मुनि—महाराज! पहले विनोदचंद श्रावक के परिणाम चढ़ते हुए हैं, पर एक पुरुष उसमें आड़े आ रहा है।

दूसरे मुनि—इसमें कौन बीच में पड़ रहा है और वह क्यों और कैसे अंतराय कर रहा है?

पहला मुनि—विनोदचंद ने बीस हजार रुपये की बड़ी रकम शुभ काम में दान देने का निश्चय किया है और यह रकम आपके कथनानुसार काम लेने का उसका विचार था पर माणकचंद नाम के उसके एक मित्र ने उसका विचार बदल दिया।

दूसरा मुनि—उसने विचार किस प्रकार बदल दिया?

पहला मुनि—माणकचंद ने ऐसी सलाह दी है कि आज कल अपने स्वधर्मी श्रावक बंधु बहुत ही खराब हालत में हैं,

इसलिये उनका उद्धार करना जरूरी है । जब तक पहले श्रावक की उन्नति न हो तब तक अन्य क्षेत्रों की उन्नति नहीं हो सकती । अतः इस बीस हजार की रकम से एक उद्योग शाला और एक ज्ञानशाला स्थापित कर उसके द्वारा श्रावकों की उन्नति करनी चाहिये ।

दूसरे मुनि—यह तो बहुत उल्टी बात है । वह माणकचंद सच ही आड़े आ रहा है । गृहस्थ श्रावकों को मदद की क्या आवश्यकता है ? संसारी तो कैसे भी अपना निर्वाह कर ही लेते हैं । यदि विनोदचंद के विचार बदल गये तो फिर अपनी इच्छा पूरी नहीं होगी ।

पहला मुनि—आप चिंता न करें । कल किसी भी तरह मैं विनोदचंद को समझाऊँगा ।

दूसरे मुनि—अगर समझ जाय तो ठीक हो, तभी मेरी इच्छा के अनुसार कार्य हो सकता है ।

पहले मुनि—आपकी क्या इच्छा है, वह मुझे बताइये, जिससे मैं उसे समझाकर उससे प्रतिज्ञा करवा लूं ।

दूसरे मुनि—मेरी इच्छा है कि उन बीस हजार रुपयों से दो बड़े काम किये जाँय । एक तो समवशरण की रचना करा-कर बड़ा जूलुस निकलवाना, दूसरा ब्राह्मण शास्त्रियों के पाँच वर्ष के वेतन की व्यवस्था करना । समवशरण का उत्सव करने से लोगों में अपनी प्रसिद्धि बढ़ेगी, हजारों लोग अपने दर्शन करने आयेंगे और बड़ी-बड़ी प्रभावना बंटेगी । ब्राह्मण शास्त्रियों के वेतन की व्यवस्था करने से अपने साधुओं की पढ़ाई का इंतजाम हो जायगा । पाँच वर्ष तक के वेतन का प्रबंध हो जाय तो फिर किसी गृहस्थ श्रावक को बुलाना ही न पड़े ।

पहले मुनि—महाराज ! आपकी इच्छा ठीक है । अब मैं उस विनोदचंद को अच्छी तरह समझाऊँगा । हो सकेगा तो उसे प्रतिज्ञाबद्ध भी कर दूंगा ।

दूसरे मुनि--पर यदि माणकचंद ने उसे बहुत पक्का कर दिया हो और वह समझाने से भी न समझे तो क्या करोगे ?

पहले मुनि—फिर मैं दूसरा उपाय करूँगा। संघ प्रमुख से माणकचंद को ठपका दिलाऊँगा और अंत में उसे संघ से बाहर करवा दूंगा।

दूसरे मुनि--ऐसा हो सके तो बहुत अच्छा हो।

पहले मुनि—आप निश्चित रहिये। मैं उसके लिये योग्य उपाय करूंगा। जो श्रावक साधु का सामना करें, उसे किसी प्रकार सहन नहीं कर सकते। अंतिम शस्त्र के रूप में यदि हम एक दिन के लिये अन्न-जल का त्याग करें तो गाँव में हाहाकार मच जाय और माणकचंद को बहुत पछताना पड़े। इतना ही नहीं संघ के लोगों की ओर से उसे बहुत तिरस्कार मिले।

इस प्रकार उन दोनों मुनियों में बातचीत हो रही थी और दीक्षाकुमारी खड़ी-खड़ी सुन रही थी। यह सुनकर वह दिव्य देवी आश्चर्यान्वित हुई। अवसर्पिणी काल के प्रभाव को देखकर उसके हृदय में बहुत अफसोस हुआ। महादेवी ने अपने मन में सोचा, अहा ! काल का प्रभाव कैसा बलवान है। भारत वर्ष के आर्य धर्मों में जैन देव, जैन धर्म और जैन गुरु सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं, और यह जैन गुरु ऐसे अधम विचार करते हैं। श्रावकों के घर से रुपया निकलवा कर उसका स्वार्थ में उपयोग करते हैं। ऐसे स्वार्थी गुरु देशकाल का विचार भी नहीं करते। वर्तमान काल श्रावक प्रजा का अधिकांश भाग बहुत ही कमजोर स्थिति में आगया है। गरीब श्रावक अपना निर्वाह करने में असमर्थ हो रहे हैं। उद्योग के साधन बिना श्रावक निर्वाह के लिये बिलख रहे हैं। ऐसे श्रावक क्षेत्र की ओर से मुनि अनादर बरतें, यह कैसी उल्टी बात है ?

जैन साधु ब्राह्मण शास्त्रियों के वेतन के लिये श्रावकों के घर से रुपये निकलवायें, यह अनुचित है। जैन मुनियों की प्राचीन पद्धति कैसी उत्तम थी। वे स्वयं ही साधकों को पढ़ाते

थे। पठन-पाठन उनका मुख्य कर्त्तव्य था। शास्त्रों का अभ्यास करवाने का काम बहुत पवित्र माना जाता था। उन्हीं मुनियों के शिष्य आज ब्राह्मणों को गुरु बना रहे हैं, यह कैसी विपरीत स्थिति है। स्वयं प्रमादवश पड़े रहते हैं और अपने शिष्यों को ब्राह्मणों से अभ्यास करवाते हैं। ऐसा कर वे श्रावकों के घर से रुपया निकलवाते हैं। यह पद्धति ठीक नहीं है। साधुओं को इस विषय पर विचार करना चाहिये। विद्वान श्रावकों को भी इस बारे में सोचना चाहिये।

इस प्रकार विचार करते हुए दीक्षाकुमारी ने निश्चय किया कि ऐसे मुनियों का मुझे अवश्य ही सुधार करना चाहिये। फिर उस महादेवी ने अदृश्य रहकर निम्न गाथा का उच्चारण किया—

"खवेंति अप्पाणममोह दंसिणो।
तवे रया संजम अज्जवे गुणे॥
धुणंति पावाइं पुरे कमुइं।
नवाइं पावाइं न ते करंति।"

इस गाथा की ध्वनि सुनते ही वे दोनों मुनि चमके। वे बैठ कर चारों तरफ देखने लगे पर उन्हें कोई व्यक्ति दिखाई नहीं दिया।

इन दोनों मुनियों में एक बड़ा था औरा दूसरा छोटा था। इनमें से छोटे मुनि अच्छे अभ्यासी थे। उनके लिये दो शास्त्री रखे गये थे। उन्होंने संस्कृत और मागधी भाषा में अच्छी प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। वे मुनि उपर्युक्त गाथा सुनते ही इसका अर्थ समझ गये थे। जब इस ध्वनि का कारण उनकी समझ में नहीं आया तब वे आश्चर्य में पड़ गये। इतने में ही दीक्षाकुमारी प्रयत्न हुई।

इस समय उन मुनियों के हृदय में भारी चिंता हुई। उन्होंने सोचा अभी हम जो बात कर रहे थे, लगता है वह इन महादेवी ने सुन ली है। अरे यह तो बहुत ही विपरीत हुआ।

ऐसा सोचकर वे मुनि दीक्षाकुमारी के चरणों में बार-बार गिरने लगे और हमारे दुष्कृत मिथ्या हों, ऐसा कह कर महादेवी से क्षमा याचना करने लगे।

मुनि—महामाता क्षमा करें, हमारे क्षुद्र विचारों को नहीं देखें। हमारे दुष्कर्मों ने हमें दुराचार में प्रेरित किया है। कर्म की सत्ता के आगे किसी की शक्ति नहीं चलती।

दीक्षाकुमारी—मुनियो ! आपको पश्चाताप करते देख मुझे संतोष हुआ। पश्चाताप करने से शीघ्र सुधार के मार्ग पर आ सकते। अब आपको पूछना चाहती हूं कि अभी थोड़ी देर पहले आपने जो अदृश्य ध्वनि सुनी थी, उसका अर्थ आपकी समझ में आया या नहीं ?

बड़े मुनि—देवी मुझे तो उसका अर्थ समझ में नहीं आया है। पर इन लघु मुनियों ने इसका अर्थ समझा होगा क्योंकि इन्होंने संस्कृत, मागधी आदि आर्य भाषाओं का अच्छा अध्ययन किया है।

दीक्षाकुमारी—जब वे इतने प्रवीण हैं तो फिर उन्होंने मेरी गाथा का अर्थ समझा होगा।

बड़े मुनि—महादेवी ! आपकी इच्छा हो तो वह आपको इसका अर्थ सुनावे।

दीक्षाकुमारी—हाँ, मेरी इच्छा है।

लघु मुनि—धर्ममाता ! आप कृपा कर फिर से वह गाथा सुनाइये।

फिर दीक्षाकुमारी ने उच्च स्वर में गाथा सुनाई, जिसे सुनकर लघु मुनि ने उसका अर्थ निम्न प्रकार से किया—

"वस्तु को मोह रहित होकर देखने वाले मुनि अपनी आत्मा का संशोधन करते हैं। जिनमें संयम और सरलता रूप

गुण स्थित हैं और जो तप में तत्पर हैं, ऐसे मुनि अपने पूर्व कर्मों को क्षय करते हैं और नये अशुभ कर्म नहीं करते ।

इस प्रकार गाथा का शब्दार्थ सुनकर दीक्षाकुमारी ने कहा— मुनि ! आपने गाथा का शब्दार्थ तो ठीक किया पर उसका भावार्थ अच्छी तरह समझें तो आपके चारित्र को बहुत लाभ हो । जब आप गाथा का अर्थ करने जैसा उत्तम ज्ञान रखते हैं तब आप वैसे उत्तम ग्रंथों को क्यों नहीं पढ़ते ? हे मुनि ! इसी को प्रमाद कहते हैं । इसी प्रमाद से अनेक मुनियों ने अपने ज्ञान को बर्बाद किया है और अनेक अनगारों ने उसका दुरुपयोग किया है । हे मुनियो ! यह याद रखें कि जो पढें उसका बराबर मनन करें और वैसा बनने की अथवा उसके अनुसार कार्य करने की सदा भावना रखें । । आपने जिस गाथा का शब्दार्थ किया उसका भावार्थ क्या है, इस पर कभी विचार किया है ? इस गाथा में मुनि के चारित्र का महा प्रभाव दिखाया गया है । हे मुनि ! आप जो बातचीत कर रहे थे, उसे सुनकर ही मुझे वह गाथा याद आई है । इस गाथा में 'अमोहदर्शी' अर्थात् मोह रहित वस्तु को देखने वाले, ऐसा जो विशेषण मुनि को दिया गया है वह यथार्थ है । प्रत्येक जैन मुनि को निर्मोह वस्तुदर्शी होना चाहिए । जो वस्तु को यथार्थ रूप में देखे और समझे वह निर्मोहदर्शी कहाता है । हे मुनि ! आपको इस बात से बहुत कुछ समझना चाहिए । किसी भी वस्तु पर मोह नहीं रखना चाहिए वैसे ही कीर्ति की भी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए । आपके मुँह से जो मैंने बात सुनी थी, उससे आपका वस्तु मोह प्रकट हो रहा था । विनोदचंद श्रावक के पास मे बीस हजार रुपये खर्च करवाकर आपको अपनी कीर्ति करवानी थी । धर्म उद्योत के बहाने समवशरण की रचना करवाकर बड़ी-बड़ी प्रभावना बंटवाकर भी आप अपनी ही प्रभावना करवाना चहाते थे । हे मुनियो ! विचार करें, जब तक आपमें ऐसी क्षुद्र वृत्ति रहेगी तब तक निर्मोह दशा कैसे प्राप्त होगी ? अतः आपको इस विशेषण को याद रखकर सदा

अमोहदर्शी बनना चाहिये। इसके लिए ही 'दशवैकालिक सूत्र' की गाथा में यह अमोह दंसिणो शब्द का प्रयोग हुआ है।

मुनियों को संयम तथा सरलता रूप गुण वाला और तप में तत्पर रहना चाहिये। इस विशेषण पर भी मुनियों को बहुत मनन करना चाहिये। मुनियों को हमेशा तपस्या करनी चाहिये। पर तपस्या करते हुए भी संयम तथा सरलता रखनी चाहिये। जो संयम और सरलता का गुण न हो तो तपस्या व्यर्थ है। आजकल मुनियों में ऐसी तपस्या दिखाई नहीं पड़ती। जो तपस्वी मुनि वास्तव में सरल हों और संयम पूर्वक प्रवर्तन करते हों तो उनके चारित्र का महाफल उनको शीघ्र प्राप्त हो सकता है। इस बारे में इसी गाथा में कहा गया है कि अमोहदर्शी मुनि आत्मा का संशोधन करते हैं। अर्थात् जो अमोहदर्शी होते हैं वे आत्म स्वरूप को देख सकते हैं। जो मुनि संयम तथा सरलता पूर्वक तप में रत रहते हैं वे अपने पूर्वकृत पापों को दूर करते हैं और नये पाप नहीं करते। हे मुनियो! विचार करें, अमोहदर्शी, संयम, सरल और तपस्वी मुनि कैसा उत्तम फल प्राप्त करते हैं। यदि आप इस एक गाथा का भी बार-बार मनन करेंगे तो आपके परिणाम शीघ्र अच्छे बनेंगे और थोड़ी देर पहले आपके मुँह से जो विचार प्रकट हुए थे, वैसे विचार फिर से प्रकट नहीं होंगे।

हे मुनियो! अब आप विनोदचंद की लक्ष्मी की तरफ उपेक्षा रखेंगे, ऐसी आशा है। वर्तमान काल के अनुसार आपको जो क्षेत्र उद्धार के योग्य लगे, उसके उद्धार के लिये उपदेश करें। यदि आप अपनी कीर्ति, मान और भक्ति के लिये श्रावकों की बड़ी रकम खर्च करवायेंगे तो यह लक्ष्मी का दुरुपयोग होगा और आप अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट हुए गिने जायेंगे। इतना ही नहीं, आप अमोहदर्शी बनने का दावा करते हैं, उसमें भी निष्फल होंगे।

दीक्षाकुमारी के वचन सुनकर वे साधु लज्जित हुए और उन्होंने नम्रता पूर्वक दीक्षाकुमारी से कहा—"हे धर्ममाता!

अब से हम ऐसा कार्य नहीं करेंगे। आपके समक्ष ऐसा कार्य न करने की प्रतिज्ञा करने के लिये हम तैयार हैं। हे महेश्वरी ! आपके उपदेश से हमारे हृदय में निश्चय हुआ है कि पहले प्रत्येक मुनि को उपदेश देकर श्रावक क्षेत्र का सुधार करना चाहिए सब क्षेत्र का भावसार तो श्रावक क्षेत्र ही है। जब तक श्रावकों की उन्नति नहीं होगी तब तक अन्य क्षेत्रों की उन्नति संभव नहीं। श्रावकों की उन्नति ही में दूसरे क्षेत्र की उन्नति समाही हुई है। हे धर्मेश्वरी ! आपका उपदेश अक्षरशः सत्य है। अब से हम शुद्ध मन, वचन और काया से आपके उपदेशानुसार चलेंगे।"

दीक्षाकुमारी ने प्रसन्न होकर कहा, "हे अनगारो ! आपके हृदय में ऐसे सुविचार उत्पन्न हुए जिससे मुझे बहुत संतोष हुआ। यदि यह सुविचार आपके हृदय में दृढता से चिरकाल के लिये स्थापित रहेगा तो ऐसे विपरीत काल में भी आपका चारित्र चमक उठेगा। आपके पाँच महाव्रत दैदीत्यमान होंगे और आपका मुनि धर्म अच्छी प्रकार सुशोभित होगा।"

"मुनियो ! सुनो, मैं तुम्हें 'दशवैकालिक सूत्र' के छठे अध्ययन का उपदेश कर रही हूं। यह छठा अध्ययन आपको बहुत मनन करने योग्य है। इस अध्ययन का नाम 'महाचार' कथा है। पाँचवें अध्ययन में संयमधारी साधुओं के आहार की विधि बताई गई है। आहार लेने वाला साधु कैसा संयमधारी होना चाहिए, इसे छठे अध्ययन में साधुओं के महान आचार में दिखाया गया है। साधुओं का सच्चा आचार अठारह स्थानक रूप संयम में रहा हुआ है। इस अध्ययन में यह आचार भली प्रकार वर्णित है। कभी कोई साधु गोचरी लेने जाये तब उसे राजा, मंत्री, क्षत्रिय या ब्राह्मण आकर पूछे कि महाराज आपका आचार कैसा है, तब उसे अपना आचार बताना चाहिये। वह आचार इस छठे महाचार कथा अध्ययन से जाना जा सकता है। जब कोई ज्ञानदर्शन से युक्त और संयम व तप में तत्पर तथा शास्त्र में संपन्न आचार्य आये हुए हों तो राजा

वगैरह उनके पास जाकर मुनि का आचार पूछते हैं। उन लोगों को महामुनि अपना शुद्ध आचार बताते हैं। वह शुद्ध आचार बताने वाले आचार्य भ्रांति रहित, इन्द्रियों को जितने वाले, प्राणीमात्र का हित करने वाले शिक्षा युक्त बहुत विचक्षण होते हैं। वे आचार्य उन्हें स्पष्ट कहते हैं कि आप मेरे द्वारा मुनियों का आचार सुनें। वे स्पष्ट कहते हैं कि जो मुनि मात्र धर्म में ही प्रयोजित होते हैं और बाहर-भीतर से ग्रंथि रहित 'निर्ग्रंथ' होते हैं ऐसे मुनियों का ही मैं आचार बता रहा हूं। क्योंकि उनका आचार जैसा तैसा नहीं है। वह आचार कर्म-रूप शत्रुओं को नष्ट करने वाला पर कायर पुरुषों द्वारा पालना कठिन है। हे मुनियों, आपका आचार जैसा-तैसा नहीं है। आपका आचार कर्मरूप शत्रु को नष्ट करने वाला है। इस पर से आपको बहुत समझना है।

आजकल जगत में आपका आचार बहुत आसान हो गया है, पर वह आसान नहीं है। इस विषय में लिखा है कि 'दुरहिअट्ठअ' अर्थात् दुरधिष्टित है। क्षुद्र पुरुषों से —कायरों से पाला जाने वाला नहीं है। हे मुनियो! आप जैसे तैसे अपरि-क्षित बालकों अथवा युवकों को शीघ्र दीक्षा देकर इस आचार में जोड़ देते हो, यह आपका दुःसाहस है। इसी से आर्हत धर्म के गुरु अधिकांश में प्रशंसा के पात्र नहीं बन पाते। आपका गौरव आचार में ही रहा हुआ है और उस गौरव से ही आपने सर्वधर्मों में अग्रणी पदवी पाई है। आपके आचार का अन्य किसी भी धर्म के अनुयायी अनुसरण नहीं कर सके। इस विषय में महाचार कथा अध्ययन में निम्न गाथा लिखी है—

"अन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाण भाइस्स, न भूअं न भविस्सइ।।"

अर्थात् जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों में ऐसा शुद्ध आचार कहीं भी वर्णित नहीं है। यह आचार अन्य सामान्य लोगों से पालना बहुत दुष्कर है। मोक्ष हेतु रूप संयम का

पालन करने वाले ऐसे जैन साधुओं के अतिरिक्त भूत में न कोई हुआ है न भविष्य में कोई होगा।

हे मुनियो ! विचार करें, यह पवित्र गाथा आपके आचार के विषय में कितने उच्च विचार प्रकट करती है। आपका ऐसा शुद्ध आचार वर्तमानकाल में कैसी स्थिति में पहुंच गया है ? आपके ऐसे उत्तम आचार के गौरव को आप स्वयं ही कम कर रहे हैं। इसके सम्मान को आपके गलत प्रवर्तन से ही अधिक हानि पहुंचती है।

इन महान आचार्य ने पहले तो 18 पाप स्थानक के विषय में ही अधिक विवेचन किया है। इस विषय में वे यहाँ तक लिखते हैं कि इन 18 पाप स्थानकों से यदि साधु एक भी पाप स्थानक का सेवन करने का अपराध करे तो वह अपने चारित्र से भ्रष्ट होता है। इस विषय में वे निम्न गाथा कहते हैं—

"दस अट्ठय ठाणाइं, जाइं बालो वरब्भइ।
तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताउ भस्सइ।।"

अर्थात् जो अज्ञानी साधु 18 पाप स्थानकों से आश्रित अपराध करते है, वे यदि अठारह पाप स्थानकों में से एक भी पाप स्थानक का सेवन करें तो निर्ग्रंथपन (साधुता) से भ्रष्ट हो जाते हैं।

हे मुनियो ! अतः आप इन 18 पाप स्थानकों से सर्वदा दूर रहें। उन महा उपकारी आचार्य ने इस प्रसंग पर उन 18 पाप स्थानों के नाम भी बताये हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

1. प्राणातिपात (हिंसा), 2. मृषावाद (असत्य) 3. अदत्तादान (चोरी), 4. अब्रह्मचर्य, 5. परिग्रह 6. रात्रि भोजन, 7. पृथ्वी-काय जीव की विराधना, 8. अपकाय जीव की विराधना, 9. तेजस्काय जीव की विराधना, 10. वायुकाय जीव की विराधना 11. वनस्पतिकाय जीव की विराधना, 12. त्रसकाय जीव की विराधना, 13. अकल्प (अनाचार सेवन), 14. गृहिभाजन

(गृहस्थ के पात्रों का उपयोग करना), 15. पर्यंक(पलंग पर सोना) 16. निषधा (सुन्दर आसन पर बैठना), 17. स्नान और 18. शोभा (शृंगार धारण करना) इस प्रकार ये 18 पाप स्थान हैं, जिनको मुनि का सेवन नहीं करना चाहिए ।

हे मुनियो ! इन 18 पाप स्थानों के लिए भगवान महावीर ने जो विवेचन किया है, वह आचार्य श्री ने 'दशवैकालिक सूत्र' में वर्णन किया है, जिसे ध्यान से सुनें ।

सर्व प्रथम साधुओं के जो 6 व्रत हैं उनके विरुद्ध प्रवृत्ति करना, 6 पाप स्थानक है । प्रथम प्राणातिपाल अर्थात् जीव हिंसा न करना । इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उनका प्रमादवश हनन नहीं करना, दूसरों से नहीं करवाना और उनका अनुमोदन भी नहीं करना । जीव हिंसा क्यों नहीं करना, इस विषय में 'दशवैकालिक सूत्र' में लिखा है—

> सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
> तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंतिणं ।।"

अर्थात् सभी जीव जीने की इच्छा रखते हैं, कोई मरना नहीं चाहता । अतः निर्ग्रंथ साधुओं को ऐसी घोर हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

हे मुनियो ! दूसरा पाप स्थानक मृषावाद है । साधुओं को कभी भी असत्य वचन नहीं बोलना चाहिये । अपने लिये या दूसरों के लिये, क्रोध से या भय से साधु असत्य वचन न बोले । इस संसार में असत्य भाषण बहुत निन्दनीय है तथा इससे मनुष्य अविश्वसनीय बनता है । उसका कोई विश्वास नहीं करता ।

तीसरा पाप स्थानक अदत्तादान अर्थात् चोरी है । चेतन या अचेतन कोई भी पदार्थ साधु को बिना दिये नहीं लेना चाहिये । पवित्र साधु बिना मांगे दांत साफ करने का तृण भी नहीं लेते ।

चौथा पाप स्थानक अब्रह्मचर्य है। इस विषय में मुनियों को बहुत सावधान रहना चाहिये। ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करने वाला मुनि तत्काल अपने चारित्र से भ्रष्ट होता है और घोर दुर्गति में जाता है। इस विषय में इस महासूत्र में निम्न गाथा वर्णित है, जिसे युवा साधुओं को सदा स्मरण रखना चाहिये—

"मूलमेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सयं ।
तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंतिणं ।।"

अर्थात् मैथुन का सेवन अधर्म का मूल और महादोष का कारण है. अत: निर्ग्रंथ मुनियों के लिये वह वर्जनीय है।

हे मुनियो ! इसके पश्चात् परिग्रह रखना पांचवा पाप स्थानक है। वर्तमान काल के मुनि इस पाँचवे पाप स्थान में विशेष डूबे हुए दिखाई देते हैं। अत: इस विषय में आपको विशेष ध्यान देना चाहिये। 'दशवैकालिक महासूत्र' में इस विषय में बहुत लिखा है। वे लिखते हैं कि श्री महावीर स्वामी के वचन पर दृढ रहने वाले मुनि तो नमक, तेल और घी जैसी वस्तुएँ भी एक रात भी अपने पास नहीं रखते। ऐसी मामूली वस्तुओं को सिर्फ एक रात के लिये रखना भी जहाँ परिग्रह माना जाता हो, वहाँ दूसरी वस्तुओं के बारे में तो सोचना ही व्यर्थ है। ऐसी वस्तुओं को पास रखने से क्या होता है, इस बारे में 'दशवैकालिक सूत्र' में निम्नलिखित गाथा स्मरणीय है—

"लोहस्सेसणुफासे, मन्ने अन्नयरामवि ।
जोसिआ सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ।।"

अर्थात् यदि साधु कोई भी वस्तु का संग्रह कर पास में रखे तो उसे चारित्र में विघ्न डालने वाली और लोभ कषाय की महिमा जानें। यदि साधु ऐसी थोड़ी वस्तु भी पास रखने की इच्छा करे तो उस साधु को गृहस्थ समझना चाहिये। उसे प्रव्रजित न मानें।

हे मुनियो ! परिग्रह के लिये इतना कहा है, फिर भी मुनि वस्त्रों की गठड़िये बाँधते हैं, पुस्तकें, पुट्ठे और अन्य सामग्री का संग्रह करते हैं। कई उपाश्रयों में तो बड़ी-बड़ी अलमारियों पर साधुओं का नाम लिखा रहता है, बड़े-बड़े बक्से साधुओं के लिए रहते हैं। यह कैसा अनाचार ? शुद्ध चारित्र धारी मुनियों को इस विषय में बहुत सोचना चाहिये। यदि उन्हें अपने चारित्र की रक्षा करनी हो और यथार्थ संयम पालना हो तो उन्हें थोड़ा भी परिग्रह नहीं रखना चाहिये। संयम की लाज रखने के लिये मुनि को चोलपट्टा आदि वस्त्र, भोजन के लिये काष्ठपात्र, एक कंबल और एक रजोहरण, सिर्फ इतनी ही वस्तुएँ रखनी चाहिये। इतनी वस्तुएँ रखने से परिग्रह नहीं गिना जाता क्योंकि न्यूनतम आवश्यकता से अधिक वस्त्रादि वस्तुओं पर ममत्व रखना ही परिग्रह है। जो मुनि वस्तु तत्त्व को यथार्थ रूप से जानते हैं। वे रजोहरण आदि छः काय जीव की रक्षा के लिये आवश्यक वस्तुओं पर भी ममत्व नहीं रखते। हे अनगारो ! आपका आचरण इतना पवित्र है कि जो भारत-वर्ष की आर्य प्रजा में प्रशंसनीय है, इस ओर आप कभी भी दुर्लक्ष्य नहीं रखें।

छठा रात्रि भोजन पाप स्थानक है। इस बारे में सावधान रह कर इस व्रत का पालन करना चाहिये। बल्कि साधुओं को तो एक समय भोजन करना ही उत्तम कहा गया है। इस विषय में 'दशवैकालिक सूत्र' में लिखा है:—

"जाय लज्जा समा वित्ती,
एग भत्तं च भोअणं।"

अर्थात् साधु को एक समय भोजन करना चाहिये, ऐसी प्रवृत्ति संयम के समान है।

हे मुनियो ! आजकल तो प्रातःकाल चाय, दूध, नाश्ता करने वाले, दोपहर में संपूर्ण भोजन करने वाले और फिर शाम को भी पूरा भोजन करने वाले ही अधिकांश मुनि दिखते हैं।

इसके अतिरिक्त अकाल में आहार लेने, घूमने जाने वाले भी कई मुनि दिखाई देते हैं। ऐसे मुनियों का चारित्र कभी भी प्रशंसा करने योग्य नहीं होता। वे संयम के आराधक होने के बदले संयम के विराधक होते हैं। कितने तो मानो आहार के लिये ही दीक्षित हुए हों। इस प्रकार गृहस्थ श्रावकों के घर से विविध प्रकार के आहार ग्रहण करते रहते हैं और अपने शारीरिक सुख के लिये मनपसंद भोजन सामग्री को ढूंढते फिरते हैं। ऐसे अनगार अपने जीवन को चारित्र धर्म से भ्रष्ट कर अपनी आत्मा को अधोगति में ले जाते हैं।

हे मुनियो ! छः काय जीव की रक्षा करना अगले छः पाप स्थानक से बचना है। चारित्रधारी मुनियों को इन छः पाप स्थानों से बचना चाहिये। इस नियम का पालन यावत जीवन करना चाहिये। जिस काम को करने से छः काय जीव की विराधना होती है, उस काम को संयमधारी मुनि न करे, न दूसरों से करवाना चाहिये और न उसका अनुमोदन करना चाहिये। कुल मिलाकर ये बारह पाप स्थानक हुए।

तेहरवां अकल्प पाप स्थानक है। साधु को पिंड, शय्या, वस्त्र और पात्र कल्पते हुए (नियमबद्ध) ही होने चाहिये, नियम के प्रतिकूल (अकल्पता) नहीं लेना चाहिये। यदि वह नियम के प्रतिकूल ग्रहण करे तो उसे महादोष लगता है। इस विषय में 'दशवैकालिक सूत्र' में निम्न गाथा कही गई है—

"जे नियागं ममायंति, कीअमुद्देसिआहयं।
वहं ते समणुजाणंति, इअउत्तं महेसिणा ॥"

अर्थात् जो द्रव्य लिंगी साधु निमंत्रित पिंड को ग्रहण करते हैं अर्थात् श्रावक द्वारा पहले बुलाने पर आहार आदि ग्रहण करते हैं, खरीद कर लाये हुए, साधु के उद्देश्य से बनाये हुए आहार आदि ग्रहण करते हैं, वे साधु छः काय जीव के वध का अनुमोदन करते हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

चौहदवां पाप स्थानक साधु द्वारा गृहस्थ के पात्र में भोजन करना है। संयमी साधु को गृहस्थ के धातुओं के पात्रों में कभी भोजन नहीं करना चाहिये। स्टील, पीतल, अल्यूमीनियम आदि किसी भी धातु से बने या मिट्टी के पात्र में भोजन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे पात्रों में भोजन करने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। ऐसे उत्तम पात्रों को मांजना-धोना पड़ता है। जिससे साधु को अनेक प्रकार के दोष लगते हैं। फिर गृहस्थ पात्र में भोजन करने से साधु के संयम का भंग होता है।

उच्च जाति के पलंग, खाट, आदि पर सोना पन्द्रहवां पाप स्थानक है। पलंग, ढोलिया, खाट, माचा, सांगामांचा आदि गृहस्थ के योग्य पदार्थों को साधु को उपयोग में नहीं लाना चाहिये। उस पर सोना-बैठना नहीं चाहिये। ऐसा करने से साधुओं के मन में विकार उत्पन्न होता है फिर भी यदि कभी अपवाद स्वरूप उस पर बैठने का प्रसंग आ ही जाय तो पहले उसे अच्छी तरह से प्रतिलेखित करले, पर ऐसे पदार्थों की प्रतिलेखना अच्छी तरह से हो ही नहीं सकती, अतः साधु को ऐसी वस्तुओं का सर्वथा त्याग करना ही उचित है।

सोलहवां निषधा नाम का पाप स्थानक है। निषधा का अर्थ है बैठना। साधु को किसी अन्य स्थान पर जाकर नहीं बैठना चाहिये। यदि साधु गृहस्थ के घर गोचरी लेने गया हो तो उसे वहाँ जाकर बैठना नहीं चाहिये। गृहस्थ के घर बैठने से स्त्रियों के साथ परिचय होता है जिससे ब्रह्मचर्य भंग होता है। वैसे ही घर के कुटुम्बियों के परिचय से कभी वह आधाकर्मी करे तो साधु के संयम का नाश हो जाता है। मुनियो! यह बात आपको विशेष याद रखनी चाहिये। वर्तमान काल में कई साधु गृहस्थ के कुटुम्बियों के साथ मिलते-जुलते नजर आते हैं। कई मुनि गृहस्थों की स्त्रियों के साथ बातचीत करते हैं 'अमुक बाई क्या कर रही हो, कहकर मधुर शब्दों से उसकी ओर स्नेह प्रदर्शित करते हैं, यह पद्धति बहुत ही खराब है।

संयमधारी मुनियों को कभी भी ऐसी व्यर्थ की पद्धति नहीं रखना चाहिये। इस पर 'दशवैकालिक सूत्र' में वर्णित निम्न गाथा को साधुओं को सदा स्मरण रखना चाहिये—

"अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वा विसंकरणं।
कुसील वड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए॥"

अर्थात् गृहस्थ के घर का अधिक परिचय रखने से साधु के ब्रह्मचर्य का नाश होता है और स्त्रियों के परिचय से शंका उत्पन्न होती है, अतः कुशील को बढ़ाने वाले ऐसे स्थान से साधु को दूर ही रहना चाहिए।

हे मुनियो! जवान साधुओं को तो इस विषय में विशेष सावधानी रखनी चाहिये। जो वृद्ध, तपस्वी या रोगी मुनि हो वे कभी विश्रांति के लिये गृहस्थ के घर थोड़े बैठ जाय तो कोई बात नहीं, पर अन्य साधुओं को तो इस विषय में बहुत ही सावधान रहना चाहिये।

सत्तरहवां पाप स्थानक साधु के स्नान करने के विषय में है। यदि स्वस्थ साधु स्नान करने की इच्छा करे तो वह अपने आचार से भ्रष्ट हुआ समझा जायगा। क्योंकि स्नान शरीर को अलंकृत करना गिना जाता है। स्नान करने से जल के और भूमि के सूक्ष्म जीवों की विराधना होती है। अतः साधु को स्नान व उस हेतु किसी भी सुगन्धित पदार्थ (साबुन, पीठी आदि) का प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये सब विकारी पदार्थ हैं, अतः संयमधारी साधु के चारित्र को दूषित करते हैं।

अट्ठारहवां शोभा नामक पाप स्थानक है। संयमी साधु को अपने शरीर को किसी भी प्रकार से सुशोभित नहीं करना चाहिये। बाल, नाखून और वेष की शोभा से साधु को दूर रहना चाहिये।

हे मुनियो ! वर्तमानकाल में कई मुनि यति वेष में भी अच्छा प्रदर्शन किया करते हैं। उच्च कोटि के मलमल के वस्त्र धारण करते हैं, बाल अच्छे दिखाई दें--इस प्रकार से लोचन करवाते हैं और शरीर स्वस्थ दिखाई दे ऐसे उपाय करते रहते हैं। हे मुनियो ! यह वास्तव में अनाचार है। अतः जैन धर्म के पवित्र मुनियों को इसका आचरण नहीं करना चाहिये। ऐसा आचरण हमारे पवित्र जैन धर्म की निंदा करवाता है। इतना ही नहीं पर ऐसे असदाचार का आचरण करने वाले जैन मुनियों की आत्मा दुर्गति को प्राप्त होती है। इस विषय पर 'दशवैकालिक सूत्र' में निम्न गाथा वर्णित है—

"विभूसा वत्तिअं भिक्खू, कम्मं वंधई चिक्कणं।
संसार सायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥"

अर्थात् मुनि शरीर को सुशोभित करने के निमित्त से ऐसे चीकट कर्म बाँधते हैं कि जिससे वे इस दुष्कर घोर संसार में फंस जाते हैं।

इस महासूत्र के उपर्युक्त वचन वास्तव में आत्मार्थी जैन मुनि को मनन करने चाहिये। शुद्ध जैन मुनि अपने कल्याण के लिये कभी भी इस दुराचार का सेवन नहीं करते।

हे मुनियो ! इस प्रकार अट्ठारह पाप विषय में 'दशवै-कालिक सूत्र' में वर्णन है, जिसे आप ध्यान में रखें और उसके अनुसार प्रवृति न कर अपने चारित्र को निर्दोष रखें। आपके हृदय के परिणाम शुद्ध हुए हैं, यह जानकर मुझे संतोष है। मुझे आशा है कि आप थोड़ी देर पहले जो कुविचार कर रहे थे, ऐसे विचार अब कभी भी नहीं करेंगे। विशेषकर मुझे इतना ही कहना है कि सब क्षेत्रों के लिये प्रथम आश्रय स्वरूप जो श्रावक क्षेत्र है, उसे सुधारने का प्रयत्न करें और विनोद चन्द ने जो बड़ी रकम शुभ खाते में अर्पण की है, वह किसी शुभ और उपयोगी कार्य में खर्च हो, ऐसा उपदेश करें। अब मैं यहां से किसी अन्य स्थान पर जाऊंगी।

दीक्षाकुमारी के अदृश्य होने के बाद वे दोनों मुनि अपने हृदय में उत्तम भावना भावित करने लगे और अपने मलिन परिणामों के लिये पश्चाताप कर चारित्र के शुद्ध मार्ग का अवलंबन करने का निश्चय करने लगे ।

वे मुनि अपने-अपने हृदय में सोचने लगे कि हमने संसार का त्याग कर चारित्र जैसे सर्वोत्तम मार्ग को अंगीकार किया, फिर भी शुद्ध हृदय से उसकी आराधन न कर सके अतः दोनों तरफ से भ्रष्ट हुए हैं । अतः अब मन, वचन, काया की शुद्धि से चारित्र धर्म की आराधना करें और प्राप्त हुए मुनि जीवन को सर्व प्रकार से कृतार्थ करें जिससे इस आत्मा का कल्याण हो सके ऐसा सोचते हुए वे मुनि तत्पश्चात आत्म साधना में सलीन हो गये ।

प्रवास (7)

एक सुन्दर नगर में आनन्दोत्सव हो रहा था। आबाल वृद्ध जैन प्रजा के मुख-मण्डल हर्षोल्लास से पुलकित हो रहे थे। श्रावक और श्राविकाएं बच्चों सहित नये और विविध प्रकार के वस्त्र पहन कर समूह में निकल रहे थे। आगे-आगे अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। श्राविकाओं के मधुर गीतों की गूंज आकाश में प्रतिध्वनित हो रही थी।

इस समय दीक्षाकुमारी भी उस नगर में आ पहुंची। महोत्सव को देखने के कौतुक से दीक्षाकुमारी अदृश्य रहकर उस स्थान पर पहुंची। इतने में ही चार-पांच मुनियों का एक समूह उसे दिखाई पड़ा। वे श्रावक-श्राविकाओं के समूह के बीच चल रहे थे। उस जुलूस को देखकर दीक्षाकुमारी ने अनुमान किया कि यह इन मुनियों के नगर-प्रवेश का महोत्सव है। यह अनुमान सत्य था। किसी प्रतिष्ठित महामुनि ने चातुर्मास के लिये उस नगर में प्रवेश किया था। अतः नगर की समस्त जैन प्रजा ने उमंगपूर्वक उनका सत्कार किया था।

दीक्षाकुमारी यह दृश्य देखती हुई, जुलूस के साथ ही आकाश मार्ग से चलती रही। मार्ग में उपाश्रय आया तब उन मुनियों ने उसमें प्रवेश किया। सर्व जैन प्रजा आदिश्वर भगवान की जय बोलती हुई उनके चारों ओर इकट्ठी होने लगी। मुनि व्याख्यान शाला में आये। उनमें से मुख्य गुरु ने लोगों को निम्न धर्मोपदेश दिया :—

'हे श्रावको! इस जगत में धर्म की आराधना करने में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। मनुष्य जन्म रूपी चिंतामणि

बहुत ही दुर्लभ है। सैकड़ों पुण्य करने पर शुभ कर्म का बंध होता है, तभी इस चिंतामणि की प्राप्ति होती है। अतः प्रत्येक श्रावक को शुद्ध गुरु की सेवा करनी चाहिये। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है धर्माराधना और वह शुद्ध गुरु से ही प्राप्त होती है। शुद्ध गुरु की सेवा-भक्ति करने के अनेक लाभ हैं। ऐसे शुद्ध गुरु यथार्थ परोपकारी गिने जाते हैं और वे भवि प्राणियों को इस संसार-सागर से तैराने वाले होते हैं। हे श्रावको! अतः यदि आपको धर्म की आराधना करनी हो तो पहले शुद्ध गुरु का आश्रय प्राप्त करो। जो कंचन-कामिनी के त्यागी हों, परिषहों को सहन करने वाले हों, परोपकार करने में तत्पर हों, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हों, आगमों के ज्ञाता हों, पांच महाव्रत के पालने वाले हों और मुनिधर्म को जानकर तदनुसार प्रवर्तन करने वाले हों। वे ही शुद्ध गुरु कहलाते हैं। ऐसे शुद्ध गुरु की सेवा-भक्ति करने से श्रावक जन्म सार्थक होता है।"

इस प्रकार धर्मोपदेश देकर वे वरिष्ठ गुरु चुप हो गये। फिर संघ के कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने महाराज की स्तुति शुरु की। कोई उनके ज्ञान की, कोई चारित्र की, कोई परिषहों की, कोई तप की, कोई उपकार की, कोई उनके हृदय की पवित्रता की और कोई उनके गांभीर्य की प्रशंसा करने लगे। कोई साता पूछकर उनकी चरण-रज लेने लगे और कोई अपना परिचय देकर उनके चरण-वन्दन करने लगे।

इस समय एक श्रावक ने खड़े होकर विनय से कहा, "महाराजश्री, आज आपके पधारने से शहर की सर्व जैन प्रजा खुश है और आबालवृद्ध सभी आनंद मग्न हैं। इतना ही नहीं, अन्य धर्मावलंबियों ने भी इस उत्सव में भाग लिया है। इस प्रसंग में आपको एक दूसरी आनंदायक खबर सुना रहा हूं। कल एक गच्छ विशेष के भी एक महामुनि इस शहर में आने वाले हैं और उनके लिये भी ऐसा ही प्रवेशोत्सव करने की आवश्यकता है, जिसकी खबर मुझे पत्र द्वारा प्राप्त हुई है।"

उस गृहस्थ के उपर्युक्त वचन सुनकर उन वरिष्ठ मुनि ने थोड़ी देर सोचकर कहा, "अरे श्रावक ! आप कौन हैं ? किस गच्छ के हैं ?" उसने विनय से उत्तर दिया, "महाराज ! मैं अमुक गच्छ का श्रावक हूं। मैं धनवान तो नहीं, पर प्रत्येक विद्वान जैन गुरु की भक्ति करने की इच्छा रखता हूं। विद्वान और निर्मल चारित्र को धारण करने वाले किसी भी जैन धर्म के शुद्ध गुरु की सेवा-भक्ति करने और उनके मुख से पवित्र जिनवाणी सुनने के लिये मेरा हृदय सदा अभिलाषी रहता है। इस पवित्र कार्य के लिये किसी भी प्रकार के गच्छ या संगठन का भेद मैं नहीं रखता। सभी गच्छों के जैन मुनि महावीर प्रभु के पारिवारिक सदस्य हैं और शुद्ध मुनियों की परम्परा के क्रम से आये हैं।"

उस श्रावक के विशिष्ट वचन उन मुनि को अच्छे नहीं लगे। उनके पक्षपातपूर्ण हृदय में द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो गई। वे मुनि क्रोधित होकर बोले, "अरे यह कोई अधम श्रावक लगता है। अपने गच्छ की निंदा करने वाले और अन्य गच्छ की इच्छा करने वाले इस श्रावक को संघ से बहिष्कृत करना चाहिये। यह कोई श्रावक नहीं या तो श्रावकाभास है या कोई मिथ्यात्वी है। ऐसे श्रावकों को अपने गच्छ के उपाश्रय में आने ही नहीं देना चाहिये।"

वरिष्ठ मुनि के ऐसे तिरस्कार-युक्त वचन सुनकर उस श्रावक के मन में बहुत अफसोस हुआ। उसने विनय से कहा, "महाराज ! आप दयालु होकर मेरे ऊपर ऐसा क्रोध करें यह तो आपके लिये उचित नहीं है। आप एक जैन धर्म के उपदेशक गुरु हैं। आपको तो हमेशा समान वृत्ति रखनी चाहिये। आपके चारित्र का फल ही समभाव रखना है। गच्छ या संघाड़े का भेद रखकर रागद्वेष करने वाले मुनियों का चारित्र अच्छा नहीं गिना जाता।"

इन शब्दों को सुनते ही अग्नि में घृत की भाँति मुनि का क्रोध अधिक भड़क उठा। उन्होंने जोर से कहा, "अरे मूर्ख

श्रावको ! कैसे चुप हो ? इस अधम श्रावक को यहां से निकाल बाहर करो । वह अपने गच्छ का होकर अमुक गच्छ की प्रशंसा करता है, अतः वह अपने गच्छ का द्वेषी है । इस श्रावक को गच्छ से बाहर करो । अगर उसे गच्छ से बाहर नही करोगे तो उस गच्छ के साधु यहाँ आते ही रहेंगे । वे आकर यहाँ चातुर्मास कर अपनी समाचारी का प्रवर्तन करेंगे और अपनी सत्ता को बढायेंगे, जिससे अपने गच्छ को बड़ी हानि होगी, अतः इस श्रावक को शीघ्र संघ से बाहर करो ।"

इस समय संघ के एक प्रमुख व्यक्ति ने खड़े होकर कहा, "महाराज ! जिसे आप संघ से बाहर करने के लिये कह रहे हैं, वह श्रावक इस नगर के संघ के एक प्रमुख व्यक्ति के कुटुंब का है । इसके पिता ने इस संघ पर बहुत उपकार किया है । आजकल यह श्रावक साधारण स्थिति में पहुंच गया है, पर अभी भी इसके घर में आर्हत धर्म की उपासना भली प्रकार होती है । इसका सारा कुटुंब धर्मी कुटुंब गिना जाता है । कोई भी साधु-साध्वी आवे तो उसकी सेवा करने में इसका कुटुंब अग्रणी रहता है । वह स्वयं भी बहुत पवित्र मनुष्य है । गच्छ या संघाड़े के भेद बिना वह प्रत्येक जैन मुनि का सम्मान करता है, उनकी सेवा करता है और उनका उपदेश सुनकर हृदय में आनंदित होता है । ऐसे पवित्र श्रावक का आपको अपमान नहीं करना चाहिये । यह सारा संघ उस पर प्रसन्न है ।"

उस गृहस्थ के ऐसे वचन सुनकर भी वरिष्ठ मुनि शांत नहीं हुए । वे फिर जोर से बोले, "अरे श्रावक ! तुम भी कोई उसी के पक्षपाती लगते हो, इसी से तुम इस अधम श्रावक की मदद कर रहे हो । पर हमारे आगे तेरा कुछ भी जोर नहीं चलेगा । हम किसी के बाप की भी परवाह नहीं करते । हम तो जहाँ भी जाते हैं, हमारी ऐसी ही आवभगत होती है । बहुत से क्षेत्रों के श्रावक हमें बुलाने की प्रार्थना करते ही रहते हैं । अतः तुझे अधिक बोलने की आवश्यकता नहीं है ।"

इतने में उन वरिष्ठ मुनि के शिष्य बोल पड़े, "अरे वनियो ! तुम क्या समझते हो ? हमारे गुरुजी के सामने बोल रहे हो ? क्या तुम ऐसा समझते हो कि तुमने बड़ा प्रवेशोत्सव किया, इससे खुश होकर महाराज दब जायेंगे ? नहीं, हम ऐसे दबने वाले नहीं हैं। तुम्हारे यहाँ से भी दूसरे स्थानों पर हमारे गुरुजी को अधिक मान मिला है। तुम्हारे से द्विगुणित सम्मान हमारे गुरु महाराज का हुआ है। अरे वनियो ! तुम हमारे गुरु महाराज के सामने एक शब्द भी न बोलो। जब तक हम यहाँ रहेंगे तुम किसी दूसरे गच्छ या संघाड़े के साधु को मान नहीं दोगे। हमारे महाराज के यहां रहते हुए यदि आप दूसरे किसी साधु का मान करें तो हमारे गुरुजी की निन्दा होती है। अतः इस विषय में अब कोई भी न तो कुछ सोचेंगे और न कुछ कहेंगे।

उस साधु के ऐसे वचन सुनकर श्रावक लोग सोच में पड़ गये। कितने ही तो महाराज के बारे में ओछे विचार करने लगे। कितने ही लोगों के हृदय में दुःख हुआ, कितने ही साधुओं के प्रति तिरस्कार भर वहाँ से चले जाने का विचार करने लगे।

इसी समय एक श्रावक दौड़ता हुआ आया और सबके समक्ष उच्च स्वर में कहा, "भाइयो ! बधाई है। चंद्रविजय नामक एक वृद्ध मुनि विहार करते हुए हमारे नगर में आये हैं। वे वृद्ध और विद्वान हैं। फिर अपने महाराज के संघाड़े के तपस्वी साधु हैं, अतः चलें हम सब, इस जुलूस की सामग्री सहित चलकर उनकी अगवानी करें। और उन मुनि को गाजे-बाजे के साथ नगर में प्रवेश करवावें।"

ये शब्द सुनकर वरिष्ठ मुनि सोच में पड़ गये, पर उनके हृदय में यह बात रुचि नहीं, पर प्रत्यक्ष में वे कुछ बोल न सके। क्योंकि वे चंद्रविजय मुनि उनके ही संघाड़े के थे और दीक्षा में तथा ज्ञान में भी बड़े थे। अतः वे वरिष्ठ मुनि कुछ बोले नहीं। तब संघ के प्रमुख व्यक्तियों ने कहा, महाराज श्री यदि,

इतने में उन वरिष्ठ मुनि के शिष्य बोल पड़े, "अरे बनियो ! तुम क्या समझते हो ? हमारे गुरुजी के सामने बोल रहे हो ? क्या तुम ऐसा समझते हो कि तुमने बड़ा प्रवेशोत्सव किया, इससे खुश होकर महाराज दब जायेंगे ? नहीं, हम ऐसे दबने वाले नहीं हैं। तुम्हारे यहाँ से भी दूसरे स्थानों पर हमारे गुरुजी को अधिक मान मिला है। तुम्हारे से द्विगुणित सम्मान हमारे गुरु महाराज का हुआ है। अरे बनियो ! तुम हमारे गुरु महाराज के सामने एक शब्द भी न बोलो। जब तक हम यहाँ रहेंगे तुम किसी दूसरे गच्छ या संघाड़े के साधु को मान नहीं दोगे। हमारे महाराज के यहां रहते हुए यदि आप दूसरे किसी साधु का मान करें तो हमारे गुरुजी की निन्दा होती है। अतः इस विषय में अब कोई भी न तो कुछ सोचेंगे और न कुछ कहेंगे।

उस साधु के ऐसे वचन सुनकर श्रावक लोग सोच में पड़ गये। कितने ही तो महाराज के बारे में ओछे विचार करने लगे। कितने ही लोगों के हृदय में दुःख हुआ, कितने ही साधुओं के प्रति तिरस्कार भर वहाँ से चले जाने का विचार करने लगे।

इसी समय एक श्रावक दौड़ता हुआ आया और संघके समक्ष उच्च स्वर में कहा, "भाइयो ! बधाई है। चंद्रविजय नामक एक वृद्ध मुनि विहार करते हुए हमारे नगर में आये हैं। वे वृद्ध और विद्वान हैं। फिर अपने महाराज के संघाड़े के तपस्वी साधु हैं, अतः चलें हम सब, इस जुलूस की सामग्री सहित चलकर उनकी अगवानी करें। और उन मुनि को गाजे-बाजे के साथ नगर में प्रवेश करवावें।"

ये शब्द सुनकर वरिष्ठ मुनि सोच में पड़ गये, पर उनके हृदय में यह बात रुचि नहीं, पर प्रत्यक्ष में वे कुछ बोल न सके। क्योंकि वे चंद्रविजय मुनि उनके ही संघाड़े के थे और दीक्षा में तथा ज्ञान में भी बड़े थे। अतः वे वरिष्ठ मुनि कुछ बोले नहीं। तब संघ के प्रमुख व्यक्तियों ने कहा, महाराज श्री यदि,

आपकी आज्ञा हो तो उन महामुनि को ले आवें। वे अपने गच्छ के बड़े साधु हैं। ये वचन सुनकर महाराज बोले, "श्रावको ! तुम विवेक रहित और अविचारी हो। इस बारे में तो आपको स्वयं ही विचार करना है। हमारे साधु के व्यवहार में साधु की अगवानी करना योग्य नहीं। आप खुद ही विचार करलें। वे साधु मान देने लायक हैं या नहीं ? उनमें कैसे गुण हैं ? और लोगों में उनकी प्रतिष्ठा कैसी है। यह सब विचार कर फिर मेरे साथ उनकी तुलना कर तत्पश्चात् तुम्हें जो योग्य लगे, वह निर्णय लो।"

इस समय एक सरल हृदय श्रावक बोले, "महाराज ! हमें तो वे साधु मान लायक लगते हैं फिर आपसे वे बड़े भी हैं, अतः उनकी अगवानी कर उन्हें मान सहित यहाँ लाना चाहिये।" उस श्रावक के उक्त वचन सुनकर वरिष्ठ मुनि क्रोधित हो गये। क्रोध के आवेश में वे स्पष्टतः बोल पड़े, "वनियो ! तुम्हारा कपट देख कर मुझे क्रोध आ रहा है। तुम्हारे हृदय और विचार स्थिर नहीं, तुम्हारे मन में किसी शुद्ध देव और शुद्ध गुरु पर विश्वास नहीं। पल में मेरे ऊपर, पल में दूसरों के ऊपर तुम्हारा राग बदलता रहता है। तुम बनिये किसी एक के बन कर नहीं रह सकते। तुम वास्तव में स्वार्थी हो। एक तरफ हमें विनती कर लाते हो और दूसरी तरफ दूसरे साधु की विनती कर उन्हें भी लाते हो, यह तुम्हारी अस्थिरता बहुत ही खोटी है। अरे अधम श्रावको ! जब तुम्हें इस साधु की अगवानी कर लाना था तो फिर हमारी क्या आवश्यकता थी ? एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहती। अब तुम्हारा कपट मुझे मालूम हो गया है।"

सर्वसंघपति प्रमुख श्रावक ने खड़े होकर कहा, "महाराज साहब ! क्षमा करें, आप नाराज न हों। हमने कुछ भी कपट नहीं किया है। उन वृद्ध मुनि का आगमन अचानक हुआ है। उनके आगमन की जानकारी हमें पहले से नहीं थी। मैं स्वयं आपके समक्ष यह सत्य बात कह रहा हूं। अमुक गच्छ के मुनि

और अपने गच्छ तथा संघाड़े के ये मुनि, दोनों ही अकस्मात आ गये हैं। अब आपकी क्या इच्छा है। यदि आप सहमत हों तो बहुत ही अच्छा, वरना हमें तो उन्हें भी सम्मान पूर्वक लाना ही पड़ेगा। हमारे नगर में किसी भी साधु का अपमान नहीं होता। यह हो सकता है कि आपके समान आडंबर से उनकी अगवानी न कर, साधारण तौर से अगवानी कर उन्हें ले आवें, पर यह तो कभी नहीं हो सकता कि हम उनकी बिल्कुल उपेक्षा कर बैठे ही रहें।"

संघाध्यक्ष उस श्रावक के वचन सुनते ही वरिष्ठ मुनि को अधिक क्रोध हो आया। उन्होंने उच्च स्वर में कहा, "अरे अज्ञानी बनिये ! तू यह क्या कह रहा है ? तू हमें युक्ति बता रहा है, पर हम तेरे से दबने वाले नहीं हैं। तुम्हारी सब वणिक बुद्धि को हम जानते हैं क्योंकि हम भी वणिकों में से साधु बने हैं। तेरे जैसे कई धूर्त बनिये हमारे पास आ चुके हैं। हम तो धूर्तों के गुरु हैं। यह बात कभी होगी नहीं। यदि हमारे यहाँ पर रहते किसी दूसरे साधु की अगवानी होगी तो हमारा बहुत अपमान होगा, हम ऐसा अपमान सहन नहीं कर सकते। चलो, मुनियो ! उठो, अपन यहाँ से विहार करें। ऐसे अधम श्रावकों के नगर में हमें नहीं रहना चाहिये। ऐसे कुक्षेत्र की भूमि के स्पर्श से हम अपवित्र होते हैं।" इस प्रकार वरिष्ठ मुनि के वचन सुनकर उनके साथ में आये हुए मुनि तुरन्त जाने की तैयारी करने लगे और सब श्रावक विचार में पड़ गये। वरिष्ठ मुनि ने जब संघपति और धर्मनिष्ठ सेठ के प्रति ऐसे असभ्यता पूर्ण वचन कहे, तब उसे सुनकर संघ के सभी श्रावकों के दिल में दुःख हुआ। सब के दिल में उन वरिष्ठ मुनि के प्रति तिरस्कार की भावना पैदा हो गई, पर मुनियों के प्रति अपनी भक्ति और उनके सम्मान को चोट न पहुंचाने के लिए ही वे कुछ न बोले।

जब वे अपने पात्र आदि उठाकर विहार करने को तैयार हुए और कुछ भक्त श्रावक हाथ जोड़कर वहीं रहने की विनती

करने लगे, उस वक्त यह दृश्य देखकर अंतरिक्ष में अदृश्य रही हुई दीक्षाकुमारी के हृदय में बहुत क्षोभ हुआ। उनकी मनोवृत्ति में आचार के विरुद्ध प्रवर्तन करने वाले मुनियों के प्रति बहुत ही तिरस्कार जागृत हुआ और उनको शिक्षा देने का दृढ़ निश्चय हो गया। उन महादेवी ने निम्न गाथा बोली—

"तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो॥"

दीक्षाकुमारी ने कहा, "मुनियो! मैं शासन देवी नहीं हूं। तुम्हें शिक्षा देने आई हुई दीक्षाकुमारी हूं। आप लोगों को शिक्षा देने के लिये ही मेराप्रादु र्भाव हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में आपके कुविचार और आपके कठोर शब्द मैंने अपने कानों से सुने है। इस विषय में अब किसी प्रकार की शंका नहीं रही। मैं निशंक होकर आपको समझाने के लिए प्रकट हुई हूं। आपके जैसे विद्वान और चारित्रधारी मुनि ऐसी कठोर वाणी का उच्चारण करें यह कितने अफसोस की बात है। हे अनगारो! यद्यपि आपके प्रवर्तन को देखकर तो मुझे आपको 'सागार' कहना चाहिये, पर इस सारे संघ के बीच में मैंने आपको 'अनगार' शब्द से संबोधित किया है। आपने मेरे द्वारा कही हुई गाथा सुनी है और आप उसका अर्थ भी जानते हैं, अतः आप पहले स्वयं ही मेरी गाथा का अर्थ कह सुनाइये, फिर मुझे जो कुछ भी कहना है, वह कहूंगी।"

दीक्षाकुमारी का आग्रह देख वरिष्ठ मुनि ने गाथा का अर्थ नीचे लिखे अनुसार किया:—

"जो भाषा कठोर हो और जो भाषा कई प्राणियों को आघात पहुंचाने वाली हो, वैसी भाषा सत्य होने पर भी साधु को नहीं बोलनी चाहिये, क्योंकि ऐसी भाषा बोलने से पाप की आवक होती है।"

वरिष्ठ मुनि के मुख से अर्थ सुनकर दीक्षाकुमारी बोली, "मुनियो! आपने यह गाथा पढ़ी है और उसका अर्थ भी

जानते हैं। फिर भी आप अभी जो कठोर भाषा बोल रहे थे, वह कितनी अनुचित बात थी। इस संघ के प्रमुख और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को आप कैसी भाषा से संबोधित कर रहे थे, उसका विचार करें। साधु के मुंह से ऐसी भाषा निकलनी ही नहीं चाहिये। किसी भी प्राणी के हृदय को दुःख पहुँचे ऐसा कटु वचन बोलने का साधु का धर्म नहीं है। मुनि की वाणी कैसी मधुर और सत्यता से परिपूर्ण होनी चाहिये इसे आप जानते हैं। आप 'दशवैकालिक सूत्र' के पढ़ने वाले हैं। उसके सातवें अध्ययन में क्या लिखा है, जरा विचार करिये।" आपका जीवन दुर्गति का कारण बनेगा। अब भी जागृत होकर प्रतिज्ञाबद्ध हों, अपने चारित्र जीवन को चरितार्थ करने में तत्पर होइये।"

'हे मुनियो। इस प्रसंग पर मुझे एक अन्य बात याद आ रही है, जो आपके चारित्र को मलिन करने वाली है। आपने सर्व संघ के समक्ष अमुक गच्छ के और अपने गच्छ के अन्य मुनियों के प्रवेशोत्सव के लिये जो द्वेषपूर्ण प्रवृति की, यह प्रवृत्ति बहुत ही अधर्म थी। अन्य योग्य साधुओं के सम्मान का खंडन करना और उनके प्रति द्वेष रखना, यह चारित्रधारी मुनि के योग्य नहीं। जिस प्रकार आप श्रावकों के धर्मगुरु हैं, वैसे ही अन्य मुनि भी उनके धर्म गुरु हैं और प्रत्येक मुनि का सम्मान करना उनका कर्तव्य है। सम्पूर्ण विश्व में आपको ही मान दिया जाय, सभी संघ आपकी ही सेवा भक्ति करें, आपके ही प्रवेशोत्सव करें और मात्र आपका ही सम्मान करें, ऐसा कैसे हो सकता है? आपके जैसे चारित्रधारी, वयोवृद्ध, दीक्षावृद्ध और विद्यावृद्ध अन्य बहुत से मुनि इस विश्व में विचरण कर रहे होंगे, उन सब को छोड़कर सिर्फ आपका ही सम्मान किया जाए, यह कैसे हो सकता है? हे मुनियो! आपको ऐसी ओछी प्रवृति नहीं रखनी चाहिये। दूसरों का आदर हो, दूसरों का उपकार हो, दूसरों को लाभ मिले इसमें तो आपको ईर्ष्या करने के बजाय हमेशा प्रसन्न होना चाहिये। यह मेरा गच्छ, यह मेरा संघाड़ा, यह मेरा श्रावक, यह मेरा

उपाश्रय, ऐसी भेद बुद्धि भी आपको नहीं रखनी चाहिये। सब पर समान भाव रख कर आपका प्रवृति करनी चाहिये। सभी श्रावक समान हैं, सभी गच्छ समान है सभी वीर प्रभु के उपासक हैं, जैन धर्म की सभी समाचारी (परम्परा) वीर प्रभु के परिवार में से निकली है, ऐसा सोचकर आपकी प्रवृत्ति में समानता आनी चाहिये।"

दीक्षाकुमारी का उपर्युक्त उपदेश सुनकर वरिष्ठ मुनि और उनके शिष्य बहुत ही लज्जित हुए। उनके मुख पर ग्लानि उभर आई और वे निस्तेज हो गये। कुछ देर बाद वरिष्ठ मुनि ने मंद स्वर में कहा, धर्मेश्वरी ! क्षमा करें। आप दयालु माता हैं, हम पर दया कर हमें उपदेश दीजिये। आपके उपदेश वचनामृत हमारे हृदय पर बहुत ही असर कर रहे हैं।

दीक्षाकुमारी ने प्रौढ़ता दिखाई, "हे यतियो ! आपके हृदय के शुभ परिणामों को देखकर मुझे थोड़ा संतोष हुआ। मुझे अब विश्वास हो रहा है कि आपको अपनी विरुद्ध प्रवृत्ति के लिये पश्चाताप हुआ है और आप अपने अनुचित व्यवहार को धिक्कार रहे हैं। अब सावधान होकर 'दशवैकालिक सूत्र' का सातवां अध्ययन सुनो। इस अध्ययन का नाम वाक्य शुद्धि है और आपको वाक्य शुद्धि की आवश्यकता है, अतः यह उपयोगी अध्ययन आपके सुनने और मनन करने योग्य है।"

अब मैं आपको इस अध्ययन का उपदेश दे रही हूं, आप एकाग्रचित्त होकर सुनें—

हे मुनियो ! जो बुद्धिमान मुनि हो उसे चार भाषा का स्वरूप जानना चाहिये। उनमें से सत्य और असत्यामृषा इन दो भाषाओं का प्रयोग करना चाहिये और बाकी की दो असत्य और सत्यामृषा (मिश्र) इन भाषाओं का उपयोग नहीं करना चाहिये। यदि सत्य हो पर दोषयुक्त (दूसरों को नुकसान पहुंचाने वाली) हो तो वैसी भाषा नहीं बोलनी चाहिये, और जो भाषा सत्यामृषा तथा मृषा हो उसे भी नहीं बोलनी

चाहिये। अर्थात साधु को कभी भी असत्य नहीं बोलना चाहिये।

हे मुनियो! आपने अभी जो कठोर शब्द बोले थे, उस विषय में इस सूत्र में निम्नानुसार लिखा है, आप याद रखें:—

"असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिट्ठ, गिरं भासिज्ज पन्नवं।।"

"बुद्धिमान साधु को पाप रहित, अकठोर, असत्यामृषा, सत्य, परोपकार करने वाली और संशय रहित भाषा बोलनी चाहिये।"

जो भाषा बोलने से किसी प्रकार का पाप न लगे, जो भाषा किसी को कटु न लगे, जो सच्ची हो, जिसके बोलने से परोपकार होता हो और जिसमें किसी को किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता हो, ऐसी भाषा साधु के मुंह से निकलनी चाहिये। मुनियो! इस गाथा को सर्वदा अपने लक्ष्य में रखें। इस गाथा के प्रत्येक अक्षर पर आप मनन और विचार करें। मुनि की भाषा के लिए शास्त्रकार क्या लिख रहे हैं, कैसी भाषा बोलने का साधु को अधिकार है, और कैसी भाषा से मुनि का मुंह सुशोभित होता है, इस विषय पर प्रत्येक मुनि को दीर्घ विचार करना चाहिये और विचार पूर्वक ही भाषा का उच्चारण करना चाहिये।

हे मुनियो! आज कल इस नियम का उल्लंघन बहुत हो रहा है। बहुत से मुनि उन्मत्त की तरह जैसा-तैसा बोल देते हैं। श्रावकों के समक्ष उनके तिरस्कार के वचन बोलते हैं और कभी-कभी तो अपशब्द भी बोलते हैं। यह कितनी अनुचित बात है। मुनियों को इस विषय पर गहन विचार करना चाहिये। अपने चारित्र को शोभा दे, ऐसे ही वचन मुनि के मुंह से निकलने चाहिये।

धैर्यवान साधु को मोक्ष के प्रतिकूल, सावद्य और कठोर भाषा और अर्थ के आश्रित सत्यामृषा भाषा नहीं बोलनी चाहिये। जिस भाषा के बोलने से किसी भी प्राणी का उपघात हो ऐसी भाषा बोलने वाला पुरुष पाप का बंध करता है। फिर असत्य भाषा को, सत्य स्वरूप को प्राप्त वस्तु के आश्रित होकर बोलने से भी कर्म वन्ध होता है, अतः साधु को ऐसी भाषा भी नहीं बोलनी चाहिये। वैसे ही भूत और भविष्य के संबंध में भी कुछ नहीं बोलना चाहिये क्योंकि ऐसे वचन कभी-कभी सत्य होते हुए भी असत्य हो जाते हैं। इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा लिखते हैं :—

"तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ।
अहं वा णं करिस्सामि, ऐसो वाणं करिस्सइ ॥1॥

एवमाइ उ जा भासा, एसकालंमि संकिआ।
संपयाइ अमट्ठे वा, तंपि धीरो विवज्जए ॥2॥

"मैं कल यहाँ से दूसरे स्थान पर अवश्य जाऊँगा, कल मैं अमुक बात कहूंगा, हमारा अमुक कार्य होगा ही, मैं यह काम करूंगा और यह साधु यह काम करेगा आदि भविष्य-काल संबंधी अथवा वर्तमान या भूतकाल संबंधी भाषा साधु को नहीं बोलनी चाहिये। वैसे ही जिसमें किसी प्रकार का संदेह हो वैसी भाषा नहीं बोलनी चाहिये।" हे मुनियो ! इस गाथा का अर्थ अपने हृदय में स्थापित कर विचार करें। आपके मुख से निकले वचन कितने उपयोगी हैं। आपकी वाणी के अक्षर कितने अमूल्य हैं, इसका विचार करें। जो वचन आपके मुँह से निकले, जो शब्द आपके मुख-कमल में से प्रकट हों, वे कैसे उपयोगी होने चाहिये, इस विषय में आपको बहुत मनन करना चाहिये। अपनी वाणी का उच्चारण करते हुए भी आपको बहुत सावधान रहना चाहिये। आपके मुख-कमल मे निसृत वाक्य निर्दोष होने चाहिये। मुनि के वचन उसके चारित्र का दर्पण है। चारित्र धर्म की लक्ष्मी मुनि की वाणी में समायी हुई है।

"तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा ।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरत्ति नो वए ।।1।।
एएणअन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मई ।
आयार भाव दोसन्नू, न तं भासिज्ज पन्नवं ।।2।।

काणे को काणा, नपुंसक को हिजड़ा, रोगी को रोगी और चोर को चोर नहीं कहना चाहिये । इसके अतिरिक्त भी दूसरी ऐसी भाषा जिससे दूसरों का दिल दुःखे, समाचारी के भाव दोष को जानने वाले साधु को कदापि नहीं बोलनी चाहिये । फिर गधा, कुत्ता, सुअर आदि नीच (अप) शब्दों से किसी को संबोधित नहीं करना चाहिये । ऐसे अपशब्द बोलने वाले साधु संसार में निंदा के पात्र बनते हैं और अपने चारित्र गुण से भ्रष्ट होते हैं ।

हे मुनियो ! आजकल आप में से कई एक मुनि, प्रन्यास, आचार्य, गणि आदि पदों को धारण कर साधु समाज के नेता बने हुए हैं । लोग उनका आदर करते हैं, आस्तिक पुरुष उनकी

आज्ञा का पालन करते हैं, इससे उनके हृदय में अहंकार पैदा हो जाता है और अंहकार से वे बहक जाते हैं। ऐसे वक्त उनको बोलने का भान नहीं रहता। अहंकार में अंधे बने हुए वे, जो मन में आवे वह बोलते हैं, जी चाहे उसका अपमान करते हैं और जैसा चाहे वैसी प्रवृत्ति करते हैं। हे अनगारो ! ऐसे साधुओं को चारित्र गुण से रहित, अनाचारी और स्वच्छंदी समझना चाहिये। वे साधु बनकर भी असाधु हैं, अनगार होकर भी गृहस्थ हैं और यति होकर भी गृहस्थ से भी अधम हैं। ऐसे साधुओं को दंड देने के लिये मेरा भरत क्षेत्र में अवतरण हुआ है। जो यथार्थ चारित्र को पालने और वाक्य शुद्धि से वचन बोलने वाले नहीं हैं, ऐसे साधुओं को शिक्षा देने के लिये ही मेरा यह प्रयास है।

हे मुनियो ! आपको स्त्रियों के साथ बातचीत नहीं करनी चाहिये। फिर भी यदि उनके साथ बात करने का प्रसंग आ ही जावे तो उनसे संबंध वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये जैसे माँ की माँ, पिता की माँ, अंबा, मासी, भुवा, भाणजी, बेटी, बेटे, की बेटी आदि संबंध वाचक शब्दों से स्त्री को नहीं बुलाना चाहिये। फिर हे अन्ना, हे स्वामिनी, हे सेठाणी, हे बाई आदि शब्दों से भी नहीं बुलाना चाहिये। हे रांड, हे गोली, हे शंखिणी, हे चोट्टी आदि अपमान भरे शब्दों से भी नहीं बुलाना चाहिये।

स्त्रियों के साथ कभी नहीं बोलना, यह सर्व श्रेष्ठ बात है, तथापि किसी प्रसंग विशेष पर उनसे बोलना ही पड़े तो मुनि को किस प्रकार बोलना चाहिये, इस पर सूत्रकार निम्न गाथा कहते हैं :—

"नामधिज्जेण णं बूआ, इत्थीगोत्तेण वा पुणो।
जहारिह मभिगिज्झा, आलविज्ज लविज्ज वा ।।"

प्रथम तो स्त्री को उसके नाम से बुलाना चाहिये। यदि उसका नाम न आता हो या याद न आता हो तो उसके गोत्र

से या उसके उपनाम (अटक) से बुलाना चाहिये पर आयु, देश या ऐश्वर्य की अपेक्षा से उसे तभी बुलाना चाहिये जब वह गुणी हो, वह भी एक बार थोड़ा सा बुलावे, बार-बार नहीं बुलावे। अगर उसमें दोष हो तो इन संबंधों से नहीं बुलावे।

मुनियो! इस पर से समझें कि स्त्रियों के साथ में साधु को कितना व्यवहार रखना चाहिये। बहुत ही जरूरी प्रसंग हो तो स्त्री को नाम से सिर्फ एक बार बुलाने का साधु का आचार है। आजकल इस उपयोगी बात को साधु भूल रहे हैं। वर्तमान काल के मुनि श्रावकों की स्त्रियों से विशेष परिचय रखते हैं। 'आइये सेठाणी, प्रत्याख्यान लेने हैं?' घर में बच्चे अच्छे हैं?' ऐसे-ऐसे खुशामद भरे प्रश्न पूछते हैं। उनके साथ आये बच्चे-बच्चियों को प्रेम से बुलाते हैं उनके साथ बहुत देर तक बातचीत करते हैं। यद्यपि इसमें मुनियों की वृत्ति निर्मल और पवित्र होती है, वे शुद्ध वृत्ति से उनके साथ वार्तालाप करते होंगे, कितने ही तो मात्र पुस्तकें आदि लिखवाने के स्वार्थवश ही उनसे बातचीत करते होंगे, तथापि ऐसा प्रवर्तन मुनि धर्म के विरुद्ध है, क्योंकि वनिता विषयों की लता है। उसके साथ परिचय रखना योग्य नहीं। उनका परिचय मुनियों के ब्रह्मचर्य को भंग किये बिना नहीं रह सकता। अतः सुज्ञ संयमी मुनि को ऐसे परिचय का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

हे मुनियो! जिस प्रकार मुनियों को स्त्रियों से संबंध वाचक शब्दों से नहीं बुलाना चाहिये। उसी प्रकार पुरुषों को भी संबंध वाचक शब्दों से नहीं बुलाना चाहिये। बाप, काका, मामा, फूफा, मौसा, दादा आदि नामों से पुरुषों को नहीं बुलाना चाहिये। वैसे ही स्वामी, साहेब, सेठ, अन्नदाता आदि चापलूसी के शब्दों से नहीं बुलाना चाहिये। उन्हें उनके नाम, गोत्र या उपनाम से बुलाना चाहिये। किसी को अपशब्द से नहीं बुलाना चाहिये। कभी कोई तिर्यंच (पशु-पक्षी) दिखाई दे तो यह नर है या मादा, ऐसा जानने की कोशिश न करे।

मार्ग में यदि कोई पूछ ले तो उसकी जाति बतावे पर नर-मादा न बतावे। वैसे ही यदि कोई रास्ते के बारे में पूछे तो उसे रास्ते का नाम बताये पर यह रास्ता कहाँ जाता है, यह न बताये। किसी मनुष्य, पशु, पक्षी, या सर्प आदि को 'यह मनुष्य मोटा है, यह गाय या बैल बलवान है, यह हंस सुन्दर है, यह सर्प मोटा है, ऐसा नहीं कहें। वैसे ही 'यह चर्बी वाला है, मारने योग्य है, पकाने योग्य है' इस प्रकार भी नहीं बोले। कभी ऐसा प्रसंग आ भी जाय तो स्थूल प्राणी को परिवृद्ध, उपचित, महाकाय आदि शब्दों से बोले। 'यह गाय दोहने योग्य है, यह बैल मारने योग्य है, या रथ में जोड़ने योग्य है' ऐसे दूषित वचन न बोले। यदि किसी प्रसंग पर ऐसा बोलने का अवसर ही आ जाय तो युक्तिपूर्वक ऐसे शब्दों का प्रयोग करें जिससे दोष न लगे। उद्यान, पर्वत या वन पर किसी मोटे वृक्ष को देखकर साधु ऐसा न बोले, यह मोटा वृक्ष महल के थंभे बनाने योग्य है, यह नगरद्वार या गृहद्वार के तोरण बनाने योग्य है, यह वृक्ष घर बनाने योग्य है, यह वृक्ष अर्गला या वाहन बनाने योग्य है, यह वृक्ष रहट बनाने योग्य है, यह वृक्ष यंत्र बनाने योग्य है, आदि दूषित भाषा साधु को कदापि नहीं बोलनी चाहिये। यदि कभी ऐसा प्रसंग आ जावे तो यह उद्यान, पर्वत या वृक्ष दर्शनीय है, ऐसा बोले। कभी आम आदि पके फल देखकर दूषित भाषा न बोले पर युक्ति से निर्दोष भाषा बोले। इसी प्रकार औषधियों के विषय में भी सावधानी से बोले। रास्ते में चलते हुए नदी आ जावे तो साधु यह न कहे कि 'यह नदी पूरी भरी हुई है और शरीर से तैरने योग्य है' पर 'यह नौका से तैरने योग्य है' ऐसा कहे। 'यह नदी प्रायः गहरी है, दूसरी नदियों के प्रवाह से अधिक प्रवाह वाली है और किनारों को लांघने वाले जल से भरपूर है, ऐसा कहे।

हे मुनियो! आपको वाणी के विधि-निषेध का बहुत ही ध्यान रखना चाहिये। जो भूतकाल में हो चुका है, वर्तमान में हो रहा है और भविष्य में होने वाला है, ऐसे सावद्य (पाप-सहित) कार्य को जानकर, उसे कदापि भाषा द्वारा प्रकट नहीं

करना चाहिये। अर्थात् सावद्य का त्याग और निरवद्य को ग्रहण करना चाहिये। अब सावद्य योग किसे कहा जाय, इस संबंध में सूत्रकार ने निम्न गाथा लिखी है, जो आपको सर्वदा मनन करनी चाहिये :—

"सुकमित्ति सुपक्कित्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणि ॥"

'यह काम अच्छा किया, यह सहस्त्रपाक तेल बिना भी अच्छा पका, इस वन को काट दिया, यह अच्छा हुआ, इस कंजूस का पैसा चोरी हुआ सो अच्छा हुआ, यह शत्रु मर गया अच्छा हुआ, इस धन के अभिमानी का धन नष्ट हुआ, वह अच्छा हुआ, यह कन्या सुन्दर है वह ठीक है, आदि वचनों का उच्चारण सावद्य वाणी कहाती है। उत्तम साधु को कदापि ऐसे सावद्य वचन नहीं बोलने चाहिये।

ऐसे प्रसंग पर मुनि को युक्तिपूर्वक इस प्रकार निरवद्य वचन बोलने चाहिये, जैसे 'अमुक साधु ने सेवा अच्छी की, अमुक मुनि का ब्रह्मचर्य अच्छा परिपक्व हुआ, अमुक साधु ने अपने सम्बन्धी के साथ रहे हुए स्नेह-बंधन को भी छिन्न कर दिया, यह अच्छा किया, शिष्य के उपकरण उपसर्ग में लुप्त हुए, सो ठीक हुआ, अमुक पंडित मरण को प्राप्त हुए, यह ठीक हुआ, अमुक प्रमाद रहित साधु के कर्म क्षय हुए यह अच्छा हुआ और अमुक साधक की क्रिया बहुत अच्छी है' ऐसे निरवद्य वचन साधु के मुँह से निकलने चाहिये।

हे मुनियो ! उपर्युक्त कथन में कुछ अपवाद भी हो सकते हैं जिसे ध्यान में रखना चाहिये। यदि किसी ग्लान साधु को सहस्त्रपाक तेल की आवश्यकता हो तो साधु 'यह तेल प्रयत्न से पकाया गया है, ऐसा कह सकता है। यदि प्रसंगवश वन के लिये कहना पड़े तो 'यह वन प्रयत्नपूर्वक काटा गया है' ऐसा साधु कह सकता है। सुन्दर कन्या के लिये साधु 'यह सुन्दर कन्या दीक्षा ले तो प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये' ऐसे

वचनों का उच्चारण करना निरवद्य भाषण कहाता है। साधु को हमेशा ऐसी निरवद्य भाषा ही वोलनी चाहिये।

हे मुनियो ! कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनके पूछने या न पूछने पर भी नहीं बोलना चाहिये। 'यह वस्तु सबसे उत्कृष्ट है, यह वहुत मंहगी है, यह अमूल्य है, यह वस्तु अन्य स्थान पर नहीं मिल सकती, यह वस्तु ठीक से साफ की हुई नहीं है, इस वस्तु में ऐसे गुण है कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता, यह वस्तु अप्रीति उत्पन्न करने वाली है।' ऐसे वचन साधु को कभी भी नहीं बोलने चाहिये।

कोई साधु को आकर कहे कि "मैंने आपको जो बात कही वह अमुक व्यक्ति को कहना" तव साधु 'हां मैं कहूँगा' ऐसा न बोले। साधु को किसी के साथ संदेशा भेजना ही नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से संयमधारी साधु को दोष लगता है। इस विषय पर सूत्रकार ने निम्न गाथा लिखी हैं :—

"सव्वमेअं वइस्सामि, सव्वमेअं त्ति नोवए।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पन्नवं ।।"

"आपकी कही हुई बात मैं कहूंगा, आप यह बात अमुख व्यक्ति से कहें" इस प्रकार साधु को नहीं बोलना चाहिये। बुद्धिमान साधु को सब बात का विचार कर दोष न लगे, इस प्रकार बोलना चाहिये।

मुनियो ! इस गाथा के अर्थ का आपको गहन विचार करना है। वर्तमान काल में साधुओं द्वारा इस गाथा के अर्थ का उल्लंघन हो रहा है। बहुत से मुनि पत्र-व्यवहार करते हैं और संदेशा भेजते हैं। पत्र में साधु अनेक प्रकार के वचन देते हैं, यह कैसा धर्म ? ऐसे धर्म में चारित्र का गुण कहां रहता है ? हे मुनियो ! आप कभी भी पत्र-व्यवहार के दुराचार में नहीं पड़ेंगे। इस दुराचार से आपका चारित्र दूषित हो जायगा।

हे मुनियो ! फिर आपको एक अन्य बात भी सर्वदा याद रखनी चाहिये आपके गृहस्थ शिष्य अधिकांश में व्यापारी हैं

और आपको इन लोगों के प्रसंग में रहना है, अतः आप इनके व्यापार के विषय में मत पड़िये। इस विषय में सूत्रकार निम्न गाथा लिखते हैं :—

"सुक्कीअं वा सुविक्कीअं, अकिज्जं किज्जलेव वा।
इमं गिण्ह इमं मुंच, पणिअं नो विआगरे ॥"

"कोई व्यापारी किसी वस्तु को खरीद कर साधु को दिखाये, तव साधु ऐसा न कहे कि 'यह अच्छी खरीदी'। यदि कोई वस्तु बेच कर साधु को उस विषय में बताये तो साधु ऐसा न कहे कि 'यह वस्तु अच्छी बेची।' वैसे ही 'यह वस्तु बेच दो, यह वस्तु खरीदने योग्य नहीं है, यह वस्तु खरीदने योग्य है, यह वस्तु भर कर रखो और इस वस्तु को निकाल दो।' आदि साधु को नहीं कहना चाहिये।"

आजकल कितने ही मुनि अपने संयम के माहात्म्य को बढ़ाने के लिये व्यापारियों को ऐसी बातें बताते हैं और अपना माहात्म्य बढ़ाते हैं, यह उनके चारित्र धर्म के विरुद्ध हैं। वैसे ही कितने ही स्वार्थी श्रावक ऐसी बातें जानने के लिये साधुओं की सेवा करते हैं, वे साधुओं को उनके धर्म से भ्रष्ट करते हैं। ऐसे श्रावक दुर्गति के पात्र बनते हैं।

हे मुनियो ! आजकल आप में से कई एक मुनि अमुक श्रावक को अपना रागी समझ कर बुलाते हैं, पास बैठाते हैं अपने काम से भेजते हैं और दूसरे अनेक काम उससे करवाते हैं, यह सब एकदम धर्म विरुद्ध है। इस विषय में सूत्रकार निम्न गाथा लिखते हैं, उसे ध्यान से सुनें—

"तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा।
सयं चिट्ठ वयाहित्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥"

"संयम पालने में धैर्यवान और बुद्धिमान साधु को गृहस्थ से 'बैठो, आओ, यह काम करो, सो जाओ, खड़े रहो, अमुक स्थान पर जाओ' आदि नहीं बोलना चाहिये।"

फिर साधु को किसी की खुशामद नहीं करनी चाहिये। जो साधु-पुरुष नहीं है उन्हें साधु न कहे और जो सच्चे साधु-पुरुष है उन्हें साधु कहे, असाधु न कहे। जो ज्ञान-दर्शन से संपन्न हो और संयम तथा तप में तत्पर हो, ऐसे साधु को ही संयमी साधु कहना चाहिये।

मुनियो ! वर्तमान समय में कई एक मुनि पक्षपात पूर्वक अपने रागी की जय बुलवाते हैं और दूसरों का पराभव करवाते हैं, यह प्रवृत्ति चारित्र को दूषित करने वाली है। मुनियों को संघ के कामों में नहीं पड़ना चाहिये। एक का पक्ष लेकर दूसरे को हराने के उपाय नहीं करने चाहिये। प्रत्येक श्रावक पर समान बुद्धि रखनी चाहिये। इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा कहते हैं—

"देवाणं मणुआणं च, तिरिआणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मावा होउत्ति नो वए।"

"देव, मनुष्य या तिर्यंच में परस्पर लड़ाई हो रही हो, तब अमुक की जय हो और अमुक की हार हो, ऐसा मुनि को नहीं कहना चाहिये।"

इस गाथा में मनुष्य के बारे में आपको विचार करना है। जब जीत-हार के विषय में बोलना भी मुनि के योग्य नहीं तब उसमें शामिल होकर बखेड़े खड़े करने की तो बात ही कहाँ रही ? जो ऐसी प्रवृत्ति करते है, सचमुच चारित्र से भ्रष्ट हुए गिने जाते हैं।

हे मुनियो ! आपको प्राकृतिक स्थितियों पर भी बहुत सोचकर बोलना चाहिये। यदि पवन ठंडा, वृष्ठिकारक या गर्म चल रहा हो तो आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये कि 'अनुकूल और शांतिदायक पवन कब चलेगा' या 'ऐसी हवा न न चले तो ठीक' ऐसा भी नहीं कहना चाहिये। जो कार्य प्रकृति की तरफ से हो रहा हो, उसके प्रति अपने किसी प्रकार

के विचार प्रकट नहीं करने चाहिये क्योंकि यदि आपके कहने अनुसार होगा तो कई जीवों को पीड़ा हो सकती है और यदि ऐसा न हो तो आपको आर्तध्यान होगा। फिर बादल आदि को देवता नहीं कहे। यदि कभी कुछ कहने का प्रसंग भी आ जावे तो 'ये सब देवताओं द्वारा सेवित है।' ऐसा कहना चाहिये।

हे मुनियो ! इस विषय पर विशेष विवेचन न कर संक्षेप में इतना ही कहना है कि जो भाषा सावद्य (सदोष) हो, ऐसी भाषा आपके मुँह से नहीं निकलनी चाहिये। इस विषय में सूत्रकार ने अन्त में निम्न उत्तम गाथा प्रतिबोधित की है, जिसे सावधानी पूर्वक सुनें :—

> ''तहेव सावज्जणुहोअणी गिरा,
> ओहारिणी जा य परोवघाइणी
> से कोहलोहभयहास माणवो।
> न हासमाणो वि गिर वइज्ज ।।''

''जो वचन सावद्य का अनुमोदन करने वाले हों, जैसे कि 'यह गाँव मरा तो ठीक हुआ' जो वचन अवधारित (निश्चित) हो, जैसे 'यह बात ऐसी ही है', और जो वचन किसी जीव को दुख पहुंचाने वाली हो, जैसे कि 'मांस भक्षण में कोई दोष नहीं हैं', ऐसे वचन क्रोध, लोभ, भय, हास्य या मजाक में भी साधु को नहीं बोलने चाहिये।''

मुनियो ! इस उद्बोधन गाथा का सारांश अपने हृदय में स्थापित करें और तदनुसार प्रवृत्ति कर अपने चारित्र जीवन को सफल करने का प्रयत्न करें। इस वाक्य शुद्धि अध्ययन का अभ्यास कर उसका मनन करें। हमेशा वचनों को शुद्ध रखे और कटु वचनों का त्याग करें। वचन परिमित और दोष रहित हो, ऐसा सोचकर वाणी का उच्चारण करें और अपने संयम गुण को बढ़ाने में तत्पर रहे। आपके मुनि जीवन का मुख्य फल वाक्यशुद्धि है। आपकी प्रवृत्ति वाक्य शुद्धि पर आधारित है। जब तक आप वाक्य शुद्धि के उत्तम गुण को

धारण नहीं करेंगे, तब तक आपका चारित्रजीवन सर्व प्रकार से सफल नहीं होगा। महानुभाव शय्यंभव सूरि ने वाक्य शुद्धि अध्ययन के अन्त में एक बोधक गाथा लिखी है, वह अपने मन मन्दिर में स्थापित करें। सुने :—

"परिक्खभासी सुसमाहि इन्दिए,
चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
स निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं,
आराहए लोगमिणं तहापरं त्तिवेनि॥"

"जो मुनि परीक्षा कर वचन बोलने वाला अर्थात् सावद्य-निरवद्य का विचार कर बोलने वाला हो, सब इन्द्रियों को वश में रखने वाला हो, चार कषायों को रोकने वाला हो और द्रव्य तथा भाव से निराश्रित हो अर्थात् किसी एक स्थान पर प्रतिबद्ध न हो, वह मुनि पूर्व में किये पाप रूप मैल को दूर कर इस लोक और परलोक की आराधना करता है।"

मुनियो ! इस गाथा का भावार्थ आपके हृदय में स्थापित करें और वाक्य शुद्धि के उत्तम गुण को धारण करें। अब मैं यहां से अन्य स्थान पर जा रही हूं।" इतना कह दीक्षाकुमारी चुप हुई। तब उन मुनियों ने कहा. हे महानुभावा ! आपने सच में हमें जागृत किया है। चारित्ररत्न का योग होने पर भी उससे भ्रष्ट होते हुए आपने हमें बचाया है। वर्तमान काल में हमारा वर्ग बिल्कुल विपरीत दिशा में प्रवृत्ति कर रहा है। चारित्र धर्म पर अवसर्पिणी काल ने हमला बोला है। यह काल रूपी लुटेरा हमारे चारित्र रूपी अमूल्य रत्न को लूटने को तैयार है। इस अवसर पर आप हमारी रक्षा करें। आपके प्रभाव से ही हमारा उद्धार होगा। आपके उपदेशामृत हमारे हृदयपट को खोलने वाले हैं। हे धर्मेश्वरी ! कृपाकर अपनी वाणी रूपी सुधा हमारे कर्णरंध्रों में उडेलिये जिससे हमारा चारित्र जीवन सुधरे।

दीक्षाकुमारी ने सस्मित कहा, "मुनियो ! इस समय जो भावना आपके हृदय में आई है ऐसी भावना हमेशा रखें और अपने मन के सब मैल को दूर करें। काल का दोप न निकालें। चाहे जैसा खराब समय हो, तो भी यदि आप प्रतिज्ञावद्ध होकर चारित्र को पालने के लिये तत्पर होंगे तो इस विकराल काल का वल आप पर नहीं चलेगा। आपके चारित्र के वल के आगे काल का वल तुच्छ है। मुनियो ! सावधान होकर प्रमाद का त्याग करें और अपने हृदय पर इस सातवें वाक्य शुद्धि अध्ययन की पक्की छाप लगालें। अब मैं जा रही हूं। इतना कह दीक्षाकुमारी वहाँ से अदृश्य हो गई ।

दीक्षाकुमारी के अदृश्य होने के वाद वरिष्ठ मुनि ने सर्व-संघ को संवोधित कर उच्च स्वर में कहा, "श्रावको ! अमुक गच्छ के और अपने गच्छ के महामुनि की अगवानी कर नगर में प्रवेश करावें। हम सब मुनि समान हैं। महावीर प्रभु से चल रहे सभी गच्छ समान हैं और गच्छों के चारित्रधारी सभी मुनि ज्ञातपुत्र के वंशज हैं।" वरिष्ठ मुनि के वचन सुनकर संघ के सभी श्रावक प्रसन्न हुए और उन्होंने आने वाले मुनियों को धूम-धाम से प्रवेश कराया। सभी मुनि एकत्रित हो, कुछ दिन उस नगर में प्रेम से रहे ।

◆ ◆ ◇

प्रवास (8)

एक बार दिव्यमूर्ति और पवित्र हृदया उस दीक्षाकुमारी को ज्ञात हुआ कि इस वर्ष सिद्धगिरि पर अनेक मुनियों ने चातुर्मास किया है। यह जानकर महादेवी दीक्षाकुमारी सिद्धगिरि क्षेत्र में आई। कोई वहां शांत और शुद्ध चारित्रधारी मुनि अपने से बड़े और विद्वान मुनियों को देखकर प्रसन्न हो रहे थे, कोई ज्ञानाभिलाषी मुनि विद्वान मुनियों से मिलकर अत्यानंदित हो रहे थे, कोई शुद्ध हृदय के मुनि तपस्वी मुनियों के दर्शन कर अपने को कृतार्थ मान रहे थे, कोई अभ्यासी मुनि विद्वान मुनियों से मिलकर अपनी शंकाएँ दूर करने की इच्छा कर रहे थे, कोई तर्कवादि मुनि दूसरे मुनियों के साथ चर्चा करने की धारणा किये हुए थे, कोई क्रोधी मुनि दूसरों के दुराचार सुनकर क्रोधित हो रहे थे, कोई ईर्ष्यालु मुनि दूसरे मुनियों का बहुमान देखकर हृदय में जल रहे थे, कोई मानी मुनि सब में अपने मान को प्राप्त करने की अभिलाषा रखते थे, कोई दुराचारी मुनि अपने दोष छिपाने के प्रयत्न में लगे हुए थे, कोई कलंकित मुनि 'अब अपना कलंक प्रकाशित होगा' इस भय से भयभीत हो रहे थे, कोई परिग्रही मुनि अपनी बात को छुपाकर रखने का प्रयत्न कर रहे थे और कोई ज्ञानी और विरक्त मुनि सर्व मुनिमंडल का अवलोक कर हृदय में उत्तम भावना से प्रफुल्लित हो रहे थे।

मुनियों का इतना बड़ा समूह एक स्थान पर देखकर दीक्षाकुमारी प्रसन्न हुई और अपने हृदय की धारणा पूरी करने की इच्छा उन्हें उत्पन्न हुई। वह तीर्थगिरि की तलहटी पर आकर खड़ी हुई और सारे मुनि समाज को सुनाई दे सके, इस तरह से उच्च स्वर में निम्न गाथा बोलने लगी—

"तवं चिमं संजम जोगयं च,
सज्झाय जोगं च सया अहिट्ठिए ।
सुरे व सेणाइ समत्तमाउहे,
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ।।

दीक्षाकुमारी के वचन सुनकर सभी मुनि स्तंभित हो गये। मुनियों को स्तंभित देखकर दीक्षाकुमारी बोली—

"हे अनगारो ! अभी मैंने जो उच्च स्वर में गाथा का उच्चारण किया था, वह तो आपने सुना ही होगा। उसका अर्थ आप में से कई विद्वान मुनि जानते होंगे तथापि उसका अर्थ मैं आपको फिर से सुना रही हूं, आप सावधानी से सुनें—

जो साधु अनशन आदि तप, षट्काय जीवों की रक्षा रूप संयम और स्वाध्याय करने वाले हैं, जैसे चतुरंग सेना से वीरों को रोका जा सकता है, वैसे ही वे साधु इन्द्रियों और कषाय रूपी सेना के हमले को पूर्व में की हुई तपस्या आदि शस्त्रों से सज्ज होकर, अपनी आत्मा की रक्षा और अंतरंग शत्रुओं का नाश करने में समर्थ होते हैं।"

"मुनियों यह गाथा 'दशवैकालिक सूत्र' के आचार प्रणिधि नामक आठवें अध्ययन की है। इसका अर्थ कितना गंभीर है, जरा विचार करें। जब आप इसका हृदय से विचार करेंगे, तब आपकी समझ में आयेगा कि चारित्रधारी मुनि कैसे समर्थ वीर होते हैं। उनके दिव्य शस्त्र कैसे बलवान होते हैं और उनका वीर्य कैसा अतुलित होता है ? हे मुनियो ! ऐसे सामर्थ वीर बनने योग्य आप हैं। जब आप ऐसी महावीरता धारण न करें और चारित्र को दूषित करने वाली कायरता धारण करें, तो फिर आपका सामर्थ्य कैसे रहेगा ? आपका शौर्य और वीर्य यह निर्दोष चारित्र ही है।

दीक्षाकुमारी के कथनानुसार वे मुनि गच्छ और संघाड़े के भेद को भूलकर तलहटी की पवित्र भूमि पर क्रम से बैठे।

पवित्र माता दीक्षाकुमारी मुनि परिषद् के प्रमुख पद पर खड़ी रही।

फिर पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर दीक्षाकुमारी ने अपना उद्बोधक व्याख्यान शुरु किया—

हे मुनियो ! 'दशवैकालिक' सूत्र के सातवें 'वाक्य शुद्धि' अध्ययन में मुनि को निर्दोष वचन बोलने का उपदेश है, पर यदि मुनि अपने आचार में तत्पर हो तभी निर्दोष वचन बोल सकता है, अत: उसके पश्चात् 'आचार प्रणिधि' अध्ययन का प्रारंभ किया गया है। पवित्र मुनियों को अपने आचार में तत्पर रहना चाहिये। मुनियों का प्रथम आचार अहिंसक होकर प्रवृत्ति करने का है। मन, वचन और काया से मुनि को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। पृथ्वी-काय की हिंसा न हो, इसलिये साधु को दीवार, पत्थर, ईंट आदि को तोड़ना नहीं चाहिये। सचित्त भूमि पर बीच में बिना कुछ दूरी के नहीं बैठना चाहिये। जहाँ बैठना हो वहाँ रजोहरण से भूमि का पमार्जन कर वैठे। अपकाय जीव की रक्षा के लिए सचित्त जल का सेवन न करे। वर्षा के और वर्फ के पानी का सेवन न करे। निर्वाह के लिए जल की आवश्यकता हो तो अचित्त जल का उपयोग करे। यदि कभी अप्रासुक्त जल से शरीर भींज जाय तो उसे वस्त्र या हाथ से नहीं पोंछे। अग्निकाय जीव की रक्षा के लिये अंगारे, दीये की लौ और लकड़ी की अग्नि को स्पर्श से या फूंक से न बुझावे। न ऐसी अग्नि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ही ले जाये। वायुकाय जीव की रक्षा के लिये मुनि को पंखे से, वस्त्र से या ताड़पत्र से हवा नहीं करनी चाहिये। वनस्पतिकाय जीव की रक्षा के लिये किसी भी प्रकार की हरियाली का स्पर्श नहीं करे, न उसकी इच्छा करे और न हरियाली वाले किसी भाग का स्पर्श करे या उस पर वैठे।

हे मुनियो ! यह स्थूल विधि से वर्णन हुआ। अब सूक्ष्म विधि में त्रसजीव हैं, जिनके विषय में वहुत ही सावधानी

रखने की आवश्यकता है। इसमें आठ मुख्य बातें हैं। धूंअर, वड़ वगैरह के सूक्ष्म फूल, कुंथु, चींटी वगैरह के विल, चौमासे की लीलन-फूलन और मक्खी आदि के सूक्ष्म अंड़े, इन आठ प्रकार के जीवों की यत्न पूर्वक दयापालन करनी चाहिये।

हे अनगारो! आपको हमेशा समय के नियम के अनुसार प्रतिलेखना करनी चाहिये। पात्र, कंवल, शैया, उपाश्रय की भूमि और आसन वगैरह की प्रतिलेखना करें। इसी प्रकार मल, मूत्र, कफ, थूक, कान के मैल आदि को किसी प्रासुक्त स्थान में डालना चाहिये। जब आप आहार-पानी लेने गोचरी जायें, तब भी बहुत ही सावधानी पूर्वक व्यवहार करें। गृहस्थ के घर जाकर खड़े न रहें, कम वोलें, गृहस्थ की स्त्रियों की तरफ वुरी नजर से न देखें, किसी के पूछने पर सुना हुआ, देखा हुआ या अनुभव किया हुआ शुभाशुभ नहीं कहें। वैसे ही गृहस्थ के घर के बच्चों को वुलाकर उनसे परिचय नहीं बढ़ावें। किसी के पूछने या न पूछने पर भी गृहस्थ के घर लाये हुए अन्न-जल को अच्छा या खराव नहीं कहें। अन्न-जल मिला या नहीं मिला, इस बारे में भी कुछ न कहें। किसी मिष्ठान्न आदि के लालच से गृहस्थ के घर पर दौड़कर न जायें और किसी के यहाँ आसक्ति न रखें।

हे मुनियो! आपको किसी का भी तिरस्कार कर उस पर क्रोध नहीं करना चाहिये। किसी भी तरफ से लाभ की इच्छा न रखें। इस विषय पर निम्न गाथा विशेष रूप से याद रखें:—

लूहवित्तीसुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिआ।
आमुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चाणं जिणसासणं।।"

"साधु को लूखा आहार कर संतुष्ट रहना चाहिए। अल्प इच्छा रखे और किसी को तकलीफ न हो इस प्रकार से अपना पोषण करे। क्रोध के फल को कहने वाले जिन शासन को सुनकर कभी भी क्रोध न करे।"

हे मुनियो ! इस गाथा का मनन कर अपने चारित्र को निर्मल करें। कभी भी हृदय को मलिन करने वाला क्रोध न करें। संगीत के शब्दों पर भी आप रस न लें, क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय हैं, अतः उनको सुनने से आपके मन में विकार पैदा हो सकता है। इसी प्रकार कोमल वस्तु पर प्रेम न रखें, कठोर वस्तु के स्पर्श को सहन करना सीखें अर्थात् इन्द्रियों के इष्ट विषयों पर राग न रखें और अनिष्ट विषयों पर द्वेष न रखें। आपको तो ऐसा मानना चाहिये कि आपके लिए संसार में किसी प्रकार के सुख का सृजन ही नहीं हुआ है। 'सुख' शब्द से ही आपको दूर रहना चाहिये। आपको तो ज्ञान, वैराग्य और समता में ही सुख मानना चाहिये क्योंकि सच्चा सुख इन्हीं में है। जो पुद्गलिक सुख है, वह तो नाशवान है और अन्त में दुखदायी ही है। इस विषय पर शय्यभंवसूरि निम्न गाथा कहते हैं—

"खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउन्हं अरइं भयं।
अहिआसे अवहिओ, देह दुक्खं महाफलं॥"

"अवहित-अदैन्य मुनि क्षुधा, तृषा, विषम शैय्या, सर्दी, गर्मी, अरति और भय को सहन करते हैं, क्योंकि देह से उत्पन्न होने वाले दुःख को सहन करने से बड़ा फल-मोक्ष प्राप्ति होती है।"

यह गाथा कितनी उद्बोधक है, इसको सर्वदा याद रख-कर मुनियों को प्रवृत्ति करनी चाहिये।

हे मुनियो ! आजकल आप में से कई देह के इन दुःखों को सहन नहीं कर सकते। जहाँ उत्तम प्रकार के अन्न, जल प्राप्त होते हैं, जहाँ गृहस्थों से सम्मान प्राप्त होता हो, ऐसे क्षेत्रों में विशेष रह कर अपने ज्ञान का लाभ उनको देते हैं। जहाँ जैन प्रजा गरीब होने से चाहिये उतना उत्तम आहार-पानी नहीं मिलता, ऐसे क्षेत्रों में विचरण नहीं करते। पर

ऐसा नहीं होना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले मुनि अपने चारित्र को दूषित करते हैं।

हे मुनियो ! कभी आपको बहुत अधिक भूख लगी हो तो भी सूर्यास्त के बाद चारों प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करें। किसी दिन आहार न मिले तो भी मुनि कुछ न बोले। सब स्थानों पर स्थिर रहे, चपलता को दूर रखे। कभी थोड़ा आहार मिले तो उसी से संतुष्ट रहे और निम्न कोटि का आहार मिले तो भी असंतोष न रखे क्योंकि उत्तम मुनि मितभाषी और मितभोजी होते हैं।

हे अनगारो ! मुझे आपको एक सच्ची बात कहनी है, उसे आप ध्यान से सुनें। आजकल आपमें से कई मुनि बड़प्पन दिखाते हैं, अपने को सर्वोत्कृष्ट मान कर दूसरों को धिक्कारते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति अयोग्य है। कई तो थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर अपने को बहुत बड़ा विद्वान समझने लगते हैं और विद्वत्ता के घमंड में दूसरों का अनादर करते हैं। वे विद्या को बढ़ा नहीं सकते और विद्या के अहंकार में ही अपने चारित्र को मलिन कर देते हैं। किसी भी मुनि को जाति, तप और बुद्धि का अहंकार कदापि नहीं करना चाहिये। इसमें भी विशेष कर विद्या का घमंड तो कभी भी नहीं करना चाहिये क्योंकि उससे ज्ञानवृद्धि बन्द होकर ज्ञान नष्ट होता है। अल्पज्ञान से घमंडी बने मुनि अपने को पंडित मानकर दूसरों से पूछने या ज्ञानाभ्यास करने में अपनी हीनता मानते हैं जिससे वे हमेशा शंकित रहते हैं और ज्ञान की वृद्धि नहीं कर सकते।

हे मुनियो ! इस प्रसंग पर मुझे यह भी कहना पड़ेगा कि मुनियों को विद्या आदि का अहंकार कराने में गृहस्थ श्रावक अधिक भाग लेते हैं। मूर्ख और अज्ञानी श्रावक अल्पज्ञ और अस्थिर हृदय साधुओं को विद्वान समझ बैठते हैं और लोगों में उनका बहुमान करते हैं, जिससे अल्पज्ञ मुनियों में घमंड उत्पन्न हो जाता है। अतः आप कभी भी गृहस्थों की प्रशंसा का ख्याल

न रखें। गृहस्थ श्रावक गुरु भाव से यद्यपि आपका सम्मान करेंगे, तथापि आप अपने स्वरूप को पहचानें। स्वयं अविद्वान होकर भी अपने को विद्वान मान बैठना, अतपस्वी होकर भी तपस्वी मान बैठना और अबुद्धिमान होकर भी बुद्धिमान मान बैठना, इससे बड़ा अज्ञान कोई नहीं। इस विषय पर महान उपकारी शय्यंभव सूरि ने 'दशवैकालिक' सूत्र में निम्न गाथा कही है—

"न बाहिरं परिभवे, उत्ताणं न समुक्कसे।
सुअलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए।।"

"साधु अपने सिवाय अन्य किसी का भी तिरस्कार न करे। अपने को सबसे उत्कृष्ट न माने। ज्ञान से या किसी भी वस्तु की प्राप्ति होने से घमंड न करे। जाति, तप और बुद्धि का भी घमंड न करे।" हे मुनियो! इस गाथा को अपने हृदय में स्थापित कर रखें। फिर उस महासूत्र में लिखा है कि साधु को जान या अजान में राग-द्वेष से मूल गुण या उत्तर गुण की विराधना हो जाय तो प्रायश्चित्त कर अपनी आत्मा को संवारना चाहिए अर्थात् भाव से निवृत्त हो, आलोचना वगैरह कर आत्मा को संवारे। दूसरी कोई विराधना न करे। पवित्र, निरन्तर शुद्ध हृदय और इन्द्रियों को वश में रखने वाला मुनि गुरु के समक्ष सावद्य व्यापार की आलोचना करे, कोई भी बात छिपा कर न रखे। अपने गुरु आचार्य की आज्ञा का पालन करे। गुरु अपने वचन से जो आज्ञा प्रदान करें, उसे शिष्य अपने शरीर से तुरन्त संपादन करे।

हे मुनियो! एक अन्य उपयोगी विषय पर सूत्रकार ने उत्तम उद्बोधक निम्न गाथाएँ कही है जिसे ध्यान से सुनें—

"बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खित्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए।।1।।
जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे।।2।।

"साधु को अपने बल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर क्षेत्र और काल की जाँच कर अपने कर्त्तव्य में जुड़ जाना चाहिये।"

"जब तक वृद्धावस्था दुःख नहीं देती, जब तक शरीर में रोग नहीं बढ़ते और जब तक इन्द्रियां क्षीण नहीं होतीं, तब तक मुनि को धर्म का आचरण करना चाहिये।"

ये दोनों गाथाएँ आपको कंठस्थ कर लेनी चाहिये। इनके अर्थ का बराबर विचार कर यदि आप तदनुसार, प्रवर्तन करेंगे तो आपका चारित्र जीवन कृतार्थ होगा और आपको अपने साधु जीवन का पूर्ण फल प्राप्त होगा। आप इस विषय पर दीर्घ विचार करें। इस भयंकर संसार से मुक्त होकर आपने चारित्र मार्ग क्यों ग्रहण किया? गृहवास रूपी कारागार से मुक्त होने का आपका क्या उद्देश्य था? आपके मुनि जीवन को सार्थक करने का कौनसा मार्ग है? इन सब प्रश्नों के उत्तर में ही इन गाथाओं का अर्थ रहा हुआ है। यही आपकी सर्वोत्तम शिक्षा है।

हे मुनियो! आपको अपने चारित्र जीवन में मुख्य रूप से चार दोषों का त्याग करना चाहिये। जब तक इन चार दोषों का त्याग नहीं करेंगे, तब तक आपका चारित्र, आपका मुनित्व और आपका अनगारत्व सिद्ध नहीं होगा। वे चार दोष हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चार दोषों का त्याग करने से ही आपकी आत्मा का हित होगा। इस विषय पर महामुनि शय्यंभव सूरि निम्न दो गाथा कहते हैं, जिन्हें आप अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करें:—

"कोहं माणं च मायं च, लोहं च पापवड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसेउ, इच्छंतो हियमप्पणो॥"

"क्रोध, मान, माया और लोभ–ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा के हित की इच्छा रखने वाले मुनि इन चार दोषों का त्याग करे।"

इन चार दोषों से क्या हानि होती है, उसे सूत्रकार ने नीचे की गाथा मे प्रदर्शित किया है:—

"कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो ।।"

"क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है ।"

हे अनगारो । इस गाथा पर गहरा विचार करें । यदि आप क्रोध रखेंगे तो संघ आपको प्रेम नहीं करेगा । यदि आप मान रखेंगे तो लोग आपको अविनीत समझकर आपसे दूर रहेंगे । इतना ही नहीं, आपके गुरु और शिष्य भी आपसे अलग हो जायेंगे । यदि आप कपट रखेंगे तो कोई आपके साथ मित्रता नहीं रखेगा । यदि आप में शिष्य-लोभ, श्रावक-लोभ या परिग्रह लोभ रहेगा तो लोगों को आपके प्रति रही हुई सब अच्छी भावना का नाश हो जायगा ।

हे प्रिय अनगारो ! ये चार दोष अत्यन्त भयंकर हैं, अतः आपको इन से दूर रहना चाहिए । फिर भी यदि पूर्व कर्म के उदय से इनमें से कोई भी दोष आप में प्रकट हो जाय तो उसे नष्ट करने का शीघ्र उपाय करना चाहिए । इसके उपाय के लिये शय्यंभव सूरि ने निम्न गाथा कही है, उसे याद रखें:-

"उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेन, लोभं संतोषओ जिणे ।।"

"उपशम (शांति) से क्रोध का नाश करें, मृदुता से मान का नाश करें, सरलता से माया का नाश करें और संतोष से लोभ का नाश करें ।"

हे मुनियो ! यदि आपमें क्रोध का उदय हो तो क्षमा रूप उपशम को धारण करें, इस क्षमा गुण से आपका क्रोध नष्ट

होगा। जब आप में मान का उदय हो तब मन में मृदुता रखें, कोमलता से अहंकार का नाश होता है। जब माया (कपट) का उदय हो तब सरलता धारण करे, सरलता के प्रभाव से कपट का नाश स्वतः ही हो जाता है। जब लोभ का उदय हो तो सन्तोष रखें, सन्तोष के प्रभाव से लोभ का नाश होगा। इन उपायों से चारों महा दोष विनष्ट होंगे।

हे अनगारो! यदि आप इन चार कषायों की उपेक्षा करेंगे तो ये आपके चारित्र जीवन को मलिन कर देंगे। इतना ही नहीं ये चार दोष आपको इस संसार-सागर में बार-बार भटकाते रहेंगे। इस पर 'दशवैकालिक' सूत्र में निम्न गाथा कही है—

"चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥"

"ये चारों संपूर्ण कषाय पुनर्भवरूपी वृक्ष के मूल का सिंचन करते हैं।" महानुभाव शय्यंभव सूरि ने इस महा सूत्र में इस विषय पर बहुत लिखा है और कषायों को जीतने के लिये अलग-अलग उपाय बताये हैं—

"रायणिएसु विणयं पउंजे,
धुवसीलयं सययं न हावइज्जा।
कुम्मुव्व अल्लीण पलीण गुत्तो,
परक्कमिज्जा तमसंजमंमि ॥"

"जो मुनि दीर्घकाल से दीक्षित हैं, उनका विनय करें। अठारह हजार शीलांग रूप शील का त्याग न करें और तप संयम में कछुए की तरह अंगोपांगों को नियमों में रखकर प्रवृत्ति करें।"

हे मुनियो! कषायों को जीतने के लिए ये महामुनि अन्य उपाय बताते हैं। मुनि अधिक नींद न लें। अधिक हँसे नहीं

और एकान्त में बातचीत न करें। हमेशा स्वाध्याय में तत्पर रहें। पवित्र मुनियों को अपने मन, वचन और काया के तीनों योगों को क्षमा आदि दश गुण वाले श्रमण धर्म में प्रयुक्त करना चाहिये। सर्वदा प्रमाद को त्याग कर उत्साह रखें। इस प्रकार प्रवृति करने वाले मुनि ज्ञानादि का लाभ प्राप्त करते हैं। मुनि को बहुश्रुत, वृद्ध मुनि की सेवा करना चाहिये, उसके पास उपयोग पूर्वक जितेद्रिय होकर बैठें। बड़े आचार्य के पास भी हमेशा विनय से बैठें, उनके आगे या बाजू में न बैठे और पांव पर पांव चढ़ाकर न बैठे। बिना पूछे गुरु से नहीं बोले, गुरु बोल रहे हो तो बीच में न बोले। पीठ पीछे गुरु की निन्दा न करे। जिस भाषा के बोलने से गुरु को क्रोध आवे, ऐसी भाषा न बोले। उभय लोक विरुद्ध भाषा न बोले। गुरु के पास बोलने का प्रसंग आवे तो जो बात स्वयं ने जैसी देखी हो वैसी ही कहे। थोडी, शंकारहित, स्पष्ट, परिचय युक्त और उद्वेग रहित भाषा न उच्च, न मन्द बल्कि मध्यम स्वर से बोले।

हे मुनियो ! वर्तमान काल में कितने ही पंडित अहंकारी मुनि अन्य साधारण मुनियों की मजाक उड़ाते हैं, यह बहुत ही अनुचित है। कोई मुनि अल्प बुद्धि और कोई महान बुद्धि वाला हो तो सामान्य वुद्धि वाले मुनि की निन्दा न करे। यह दुराचार गिना जाता है और इससे चारित्र दूषित होता है। यदि कोई मुनि अभ्यास में भूल जाय या व्याकरण संबंधी कोई त्रुटि करे तो उस मुनि का उपहास नहीं करना चाहिये। इस विषय पर शय्यंभव सूरि निम्न गाथा लिखते हैं—

"आयार पन्नति घरं, दिट्ठिवाय महिज्जगं।
वाय विक्खलिअं, गच्चा न तं उवह से मुणि ।।"

"आचारंग, भगवती और दृष्टिवाद अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्ण विकार-आदि पढ़ा हुआ मुनि यदि उसमें स्खलित हो तो दूसरे मुनि उसका उपहास न करें।"

हे मुनियो ! एक अन्य बात को भी आप लक्ष्य में रखें। आजकल कई गृहस्थ श्रावक वहमी होते हैं। वे ऐसा समझते हैं कि मुनि मंत्र, तंत्र, औषधि आदि के जानकार या लब्धि-धारी होते हैं, अतः वे स्वार्थवश आपकी सेवा करते हैं। पर आपको उनके स्वार्थ को उत्तेजन नहीं देना चाहिये। ज्योतिष, स्वप्न, योग, मंत्र, तंत्र आदि संशयपूर्ण विद्याओं में अपने को प्रयुक्त न करें। यदि आप इनमें से कुछ जानते हों तो भी इस बारे में लोगों को कुछ न बतावें। इस विषय में सूत्रकार निम्न गाथा लिखते हैं:—

"नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंत भेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूआहिगरणं पयं॥"

"कोई गृहस्थ पूछे तो भी साधु नक्षत्र, अच्छे बुरे स्वप्न, वशीकरण आदि योग, भूत, भविष्य, मंत्र और औषधि न कहे, क्योंकि यह सब बताने से हिंसा होने की सम्भावना है।"

इस गाथा का मनन कर आपको सर्वदा प्रवर्तन करना चाहिये। आजकल जो लोग भ्रष्ट हुए हैं, उसका कारण भी यह विद्या ही है। मंत्र, तंत्र और औषधि उपचार से लोगों में धूर्त विद्या करने वाले अपने यति धर्म और गृहस्थ धर्म दोनों से भ्रष्ट हुए हैं। इन उभय भ्रष्ट की दुर्गति होने वाली है। अतः आपको इस धूर्त विद्या से दूर रहना चाहिए। यदि आप इस विद्या को सत्य रूप में जानते हों तो भी उसे जानकर चुप रहना चाहिये, लोगों में उसका प्रचार नहीं करना चाहिये।

हे मुनियो ! इसके अतिरिक्त भी इस सूत्र में आपके लिये बहुत से नियम लिखे हैं, वे सब आप अपने लक्ष्य में रखें। अपने रहने का स्थान बहुत योग्य रखें। यदि आपके रहने के स्थान पर दूसरे साधु न हों तो आप स्त्रियों से परिचय नहीं रखें क्योंकि उससे शंका उत्पन्न होती है। यदि योग्यता दिखाई दे तो पुरुषों के साथ अल्प प्रसंग साधु के साथ ही रखें, गृहस्थ

के साथ नहीं रखें। इस विषय पर शय्यंभव सूरि उच्च स्वर में निम्न घोष करते हैं :—

"गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहुहिं संथवम् ।"

अर्थात् गृहस्थ का परिचय न रखें, साधु का परिचय रखें। हे मुनियो ! आजकल कई मुनि उपाश्रय में स्त्रियों से परिचय बढ़ाते हुए देखे जाते हैं, यह अनाचार के लक्षण हैं। कई वार सुबह सूर्योदय के पहले और कई बार दोपहर में एकांत में श्राविकाएँ साधु को वन्दना करने उपाश्रय में आती हैं। यह रीति धिक्कारने योग्य है। यद्यपि मुनियों की मनोवृत्ति शुद्ध होती है, आस्तिक श्राविका शुद्ध भाव से मुनि के पास बार-बार आती हैं, तथापि इस विषय पर बहुत सावधानी से विचार करना चाहिए। ऐसी प्रवृति से विकार का वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। रमणियों से सर्व प्रकार का परिचय निन्दनीय है। इस विषय पर 'दशवैकालिक' सूत्र में निम्न गाथा उल्लिखित है—

"जहा कुकुडपोऊस्स, निच्चं कुललओ भयं ।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थी विग्गहो भयं ॥"

"जैसे मुर्गे के बच्चे को हमेशा बिल्ली का भय बना रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय रहता है।" शरीर शब्द का प्रयोग यह बताता है कि ब्रह्मचारी को स्त्री के मृत शरीर से भी भय रखना चाहिए। यहाँ तक लिखा है कि दिवाल पर स्त्री की मूर्ति चित्रित हो तो उसे भी ब्रह्मचारी मुनि न देखें। महामुनि शय्यंभवसूरि ने इस विषय पर कहा है:—

"चित्त भित्तिं न निज्जाए, नारिंवा सुअलंकिअं ।
भक्खरंपिव दटठूण दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

"मुनि को चित्रलिखित स्त्री को भी नहीं देखना चाहिये। तब अलंकृत सजीव स्त्री को देखने का तो प्रश्न ही नहीं

उठता। यदि अचानक दिखाई दे जाए तो सूर्य को देखकर जैसे दृष्टि घुमा लेते हैं, वैसे ही दृष्टि को तुरन्त निवृत्त कर लेना चाहिए।"

इस विषय पर सूत्रकार और भी लिखते हैं :—

"हत्थपायपलिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं।
अविवाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए॥"

"जिसके हाथ पैर कट गये हों, कान और नाक गल गये हों, सौ वर्ष की बूड्ढी हो गई हो, ऐसी स्त्री से भी साधु दूर रहे।"

मुनियो! विचार करिये! आपके ब्रह्मचर्य को अखण्ड रखने के लिये सूत्रकार ने कैसी उत्तम सूचना दी है। इस उत्तम गाथा को भूलकर यदि आप श्राविकाओं से परिचय बढ़ायें, उनके साथ वार्तालाप करें, उनके बच्चों को प्रेम से बुलावें और अन्य कई प्रकार की स्वार्थी खुशामद करें तो यह आपका कितना अनाचार है। वर्तमान समय में कितने ही मुनियों में यह अनाचार प्रवेश करने लगा है, जिसे दूर करने के लिये ही मेरा इस लोक में अवतरण हुआ है।

हे अनगारो! आप इस अनाचार से सदा दूर रहें। यह अनाचार आपके मुनि जीवन को मलिन कर आपको अधोगति में ले जायेगा। महानुभाव शय्यंभव सूरि ने इस विषय पर बहुत ही उत्तम स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते हैं कि ब्रह्मचारी मुनियों का विनाश करने वाले तीन प्रकार के विष हैं। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने निम्न गाथा में किया है—

"विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीअं रस भोअणं।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥"

"शरीर का शृंगार, स्त्री का संसर्ग और गरिष्ठ भोजन ये तीनों आत्मा का हित चाहने वाले मुनि के लिये तालपुट विष के समान हैं।"

हे मुनियो ! इस गाथा का भावार्थ ध्यान में रखें। यदि आपको अपना मुनि जीवन सार्थक करना हो, अपने निर्मल चारित्र को प्रकाशित करना हो तो शरीर शोभा, स्त्री संसर्ग और रस भोजन इन तीनों का त्याग करें, क्योंकि ये आपके चारित्र को दूषित किये विना नहीं रहेंगे।

हे मुनियो ! आपको किसी भी मनोहर वस्तु पर राग नहीं करना चाहिये और निकम्मी वस्तु पर द्वेष भी नहीं करना चाहिये। आपको तो सुन्दर और असुन्दर वस्तु के परिणाम को देखना चाहिये। ये सभी वस्तुएं पुद्गलिक होने से नाशवान हैं, ऐसा निश्चय कर उन पर उदासीनता रखें, जिससे उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा ही उत्पन्न नहीं होगी। निरभिलाषी बनकर शांत आत्मा से आपको विचरण करना चाहिए। हे मुनियो ! आप मन में सोचें कि आपने संयम गुण को स्वीकार कर, गृहवास से निकल कर चारित्र जैसे उत्तम पदार्थ को प्राप्त किया है। अपनी इस श्रद्धा को दिन-प्रतिदिन अधिक बढ़ावें और आचार्यों द्वारा निर्देशित मूल गुण और उत्तर गुण के प्रति प्रीति रखें। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने से आप तप, संयम और स्वाध्याय की सुख-पूर्वक साधना कर सकेंगे। चतुरंग सेना के समक्ष जैसे शूरवीर निडर खड़ा रहता है, उसी प्रकार आप कषाय की चतुरंग सेना के सामने तप वगैरह शस्त्र लेकर डट कर खड़े रह सकेंगे।

हे मुनियो ! आप स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर रहें। लब्धि आदि की अपेक्षा न रखें अपने हृदय को शुद्ध रखें जिससे आपके पूर्वकृत कर्मों का मैल धुल जायेगा।

हे अनगारो ! इस 'आचार प्रणिधि' नामक अध्ययन की जो अंतिम गाथा है, वह मैं आपको सुनाती हूं, उसे ध्यान पूर्वक सुनें। इस गाथा के अर्थ का विचार करने से आपकी मनोवृत्ति निर्मल बनेगी :—

"से तारिसे दुक्ख सहे जिइंदिए,
सुणजुत्ते अममे अकिंचणे।

विरायई कम्मघणंमि अवगए,
कसिणब्भपुडावगमे व चंदमि, तिव्बेमि ।।"

"परिषह को सहन करने वाले, शास्त्रों के जानकार, ममता से रहित और जितेंद्रिय ऐसे मुनि के जब अपने ज्ञानवर्णी आदि कर्मरूपी बादल दूर हो जाते हैं, तब वह चंद्रमा की तरह सुशोभित होता है ।"

हे मुनियो ! आप यदि इस 'आचार प्रणिधि' अध्ययन का अभ्यास कर और मनन कर तदनुसार प्रवृत्ति करेंगे तो आप ऊपर की गाथा में कहे हुए उत्तम गुणों से युक्त होकर चंद्रमा की भाँति निर्मलता से प्रकाशित हो जायेंगे । परिषहों को सहन करना, शास्त्रों का अभ्यास करना, सर्व प्रकार की ममता को छोड़ देना और परिग्रहों का त्याग करना, ये चारित्र धर्म के सर्वोतम मार्ग हैं ।

प्राचीन जैन मुनि इस प्रकार चारित्र धर्म को पालते थे और स्वर्ग व मोक्ष लाभ को प्राप्त होते थे ।

हे मुनियो ! आप सब भी उन प्राचीन महर्षियों के परि-वार ही हैं । आपके गुरुओं से यह परम्परा श्री वीरप्रभु के चरणों तक पहुंचती है और इसीसे आप ज्ञातपुत्र कहाते हैं । अतः आपको अपने शुद्ध धर्म का अनुसरण कर तदनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

दीक्षाकुमारी ने आनंद पूर्वक कहा, "यदि आप की इच्छा हो तो आप ऐसा नियम ग्रहण करें कि आज से आप सब एकता से रहेंगे, गच्छ या संघाड़ का कोई भेद भाव नहीं रखेंगे । आप के गच्छ के नेताओं ने आपको जो समाचारी बताई हो, तदनुसार प्रवृत्ति करेंगे । आप सब एक ही वीरप्रभु के पुत्र हैं ऐसा मानकर परस्पर संगठन की वृद्धि करेंगे । कोई भी मुनि किसी भी दूसरे मुनि पर रागद्वेष नहीं रखेंगे । छोटे साधु बड़े साधुओं का सम्मान करेंगे । किसी की निन्दा नहीं करेंगे ।

यदि आप ऐसा नियम ग्रहण करें तो मुझे बहुत संतोष होगा और मैं समझूंगी कि मेरा अवतरण सफल हुआ।" अंत में मुझे आपको एक सूचना देनी है वह आप ध्यान से सुनें—

"वर्तमान काल बहुत ही विपरीत चल रहा है। भारत की राज्य लक्ष्मी और व्यापार लक्ष्मी विदेशी शासन के अधीन है जिससे अपनी जैन प्रजा पराधीनता से व्यापार कर रही है, उस अपूर्ण और अनिर्धारित व्यापार से चाहिये उतना लाभ अपनी जैन प्रजा को नहीं मिल सकता, अत: जैन प्रजा का अधिकांश भाग गरीबी की स्थिति में आ गया है। ऐसे वक्त में आपको धनवान श्रावकों को श्रावक क्षेत्र की उन्नति के लिये उपदेश देना चाहिये। जैसे भी हो सके इस उपयोगी क्षेत्र की पुष्टि की आवश्यकता है। यदि पहले श्रावक क्षेत्र का उद्धार न हो तो फिर अन्य क्षेत्रों का उद्धार होना मुश्किल है क्योंकि सर्व क्षेत्रों का मूल श्रावक क्षेत्र है। उसके पश्चात् ज्ञान क्षेत्र का उद्धार करने का प्रयत्न करें, यह क्षेत्र भी सबसे उपयोगी है: ज्ञान क्षेत्र की उन्नति में श्रावक क्षेत्र की भी स्वाभाविक उन्नति समायी हुई है।" इतना कहकर महादेवी अचानक अदृश्य हो गई।

◆ ◆ ◆

प्रवास (9)

एक विशाल नगरी में हजारों का जन समूह एकत्रित हो रहा था। वहाँ वहुत कोलाहल हो रहा था। कोई ऊँचे स्वर से बोल कर दूसरों को उत्तेजित कर रहा था, कोई गम्भीरता से दूसरों को शांत कर रहा था, कोई उत्तेजित और दुःखी होकर जाने को तैयारी कर रहा था, कोई उद्दंड होकर दूसरों को हराने का प्रयत्न कर रहा था। वहुत समय तक इसी प्रकार गोलमाल होता रहा तव एक आगेवान पुरुष ने खड़े होकर हाथ उठाकर उच्च स्वर में सब से प्रार्थना की—"स्वधर्मी वन्धुओ ! शांत होइये, जो कार्य करने का है, वह इस प्रकार की उद्दंडता से नहीं हो सकेगा। हमको गुरुओं की मर्यादा को कायम रखकर काम करना है।"

उसके ऐसे वचन सुनकर लोग शान्त हुए, कोलाहल वन्द हुआ। फिर दूसरे पुरुष ने शांति से कहा भाइयो ! अपन एकत्रित होकर उपाश्रय में चलें और दुराग्रह धारण किये महाराज को विनतिपूर्वक समझावें।" तीसरे ने कहा इससे कुछ भी नहीं होगा। महाराज कभी भी अपने आग्रह को नहीं छोड़ेंगे। वे स्वयं ही उद्दंड हैं। अपने गुरु के विरुद्ध होकर प्रवृत्ति कर रहे हैं, मुनियों के ऐसे लक्षण नहीं होते। चौथे ने क्रोधित होकर कहा—"उद्दंड महाराज क्या समझते हैं ? ऐसे उद्दंड साधु को संघ द्वारा दंड दिया जाना चाहिये। मुनियों को नियम में रखना संघ का काम है और संघ को नियम में रखना मुनियों का काम है। ऐसे उद्धत, मर्यादाहीन और अविनित साधु को समझाना चाहिये। यदि संघ ऐसे मुनियों के प्रति उपेक्षा रखेगा तो मुनि मर्यादा में नहीं रहेंगे और जैसा-तैसा

व्यवहार कर जिन शासन की निन्दा करवायेंगे।" पाँचवे ने मुख पर लाली लाते हुए कहा, वे जवान मुनि क्या समझते हैं अपने को ? कल तक जो गरीब वणिक था, आज एक बड़ा मुनि बन कर बैठ गया, इससे क्या हो गया ? दूसरे के लड़के को छिपाकर दीक्षा देना और गरीब श्रावक के परिवार को निराश्रित कर देना, यह कोई मुनिधर्म है ?" यह सुनकर एक गरीब श्रावक खड़ा होकर बोल पड़ा, "अरे ! जरा सोचकर बोल ! मुनि महाराज को ऐसे शब्द नहीं कहने चाहिये। चाहे जैसे भी हो, आखिर वे अपने गुरु है। गुरु की निंदा करने वाले श्रावक को संघ के बाहर निकाल देना चाहिये।" पहले वाले श्रावक ने अधिक क्रोध से कहा—"मुझे संघ के बाहर निकालने वाला कौन है ? मैंने संघ का क्या गुनाह किया है ? एक अनाचारी साधु का पक्ष लेकर यदि मुझे संघ के बाहर निकालेंगे तो फिर संघ का न्याय कहाँ रहा ?" फिर अग्रणी ने खड़े होकर सब को शांत किया।

इस प्रकार कोलाहल हो रहा था। उस समय अन्तरिक्ष में अदृश्य दीक्षाकुमारी उस गोलमाल को देख रही थी और ध्यान पूर्वक सब की बात सुन रही थी। लोगों की बात सुन-कर महेश्वरी को बहुत कौतुक हुआ।

अन्त में संघ के आगेवानों ने निश्चय किया कि 'हम इकट्ठे होकर उस जवान मुनि के वृद्ध गुरु से बात करें और उनसे अपने दराग्रही शिष्य को समझाने की विनती करें" फिर संघ के नेता एकत्रित होकर उपाश्रय में आये और वृद्ध गुरु को नमस्कार कर उनके समक्ष बैठ गये। गुरुजी की सुखसाता पूछने के पश्चात् संघ के नायक ने कहा, "महाराज ! आपके शिष्य को समझाइये और उस छिपाये हुए श्रावक के बालक पुत्र को दीक्षा न देने की आज्ञा दीजिये।" संघ के नायक की विनती सुनकर वृद्ध गुरु सोच में पड़ गये क्योंकि वे बहुत ही विद्वान, देश-काल को जानने वाले और चारित्र के स्वरूप को समझने वाले थे। वृद्ध गुरु ने विचार कर कहा, "सेठजी,

आपका कहना सही है, पर मेरा यह शिष्य मेरी आज्ञा में नहीं है। वह उच्छृंखल है। यदि मैं उसे कहूंगा तो वह और अधिक दुराग्रही हो जायेगा और अपनी इच्छानुसार करेगा। मुझे इस शिष्य से थोड़ा भी संतोष नहीं है। ऐसे उन्मत्त को दीक्षा देकर मुझे बहुत पश्चात्ताप हो रहा है। जो मुनि बिना अधिकारी की जाँच किये जिस किसी को दीक्षा (महाव्रत की) दे देते हैं, उनको अन्त में पश्चाताप करना पड़ता है। श्रावकजी! मैं भली प्रकार जानता हूं कि ऐसे अनुपयुक्त श्रावक के बालक को दीक्षा नहीं देनी चाहिये। ऐसे अज्ञानी बालक महाव्रतों के स्वरूप को क्या समझेगा। उसमें ज्ञान, वैराग्य और आचार कहां से आयेगा? यदि शायद उसमें ये गुण हों तो भी अगर वह दीक्षा लेने की स्थिति में नहीं है तो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिये। जिस बालक के वृद्ध माता पिता निराश्रित हों, जिनको वृद्धावस्था में पुत्र-सेवा की आवश्यकता हो और जिस पर कुटुम्ब के आश्रितों के पोषण का आधार हो, ऐसे बालक को उसके बड़ों की आज्ञा के बिना दीक्षा देना अनुचित है।"

वृद्ध मुनि के उपर्युक्त वचन सुनकर संघ के नेता प्रसन्न हुए और उन महामुनि के सद्विचारों का उन्होंने अभिनन्दन किया। फिर एक गृहस्थ ने नम्रता से कहा, 'महानुभाव आपके विचार सुनकर हमें बहुत संतोष है। यह निश्चित है कि यदि वर्तमान काल में आपके जैसे विचार रखने वाले सभी मुनि हों तो आर्हत धर्म का महान उदय हो और चारित्र धर्म की विजय हो। हे पूज्य गुरु! अब कृपा कर आप अपने शिष्य को ज्ञान देकर समझाइये। नहीं तो इस तीर्थ रूप संघ में विक्षेप पड़ेगा। आपत्ति के समय संघ की मदद करनी चाहिये।

इस समय अन्तरिक्ष में अदृश्य हुई दीक्षाकुमारी ने सोचा कि इस प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि कोई उद्धत तरुण मुनि श्रावक के मुग्ध बालक को दीक्षा देना चाहता है और इस हेतु उस अविचारी मुनि ने उस बालक को कहीं छिपा रखा.

है, जिससे इस नगर का जैन संघ उत्तेजित हो गया है और
वृद्ध मुनि के पास आकर विनती कर रहा है। यह विद्वान मुनि
समय को पहचानते हैं पर उनका युवा शिष्य गुरु की आज्ञा
का उल्लंघन कर ऐसा विपरीत कार्य करने को तैयार है। अब
आगे क्या होता है, यह देखकर फिर मैं अपना प्रभाव दिखा
ऊँगी। ऐसा सोचते हुए दीक्षाकुमारी अदृश्य रह कर वह
तमाशा देखती रही।

श्रावक गृहस्थ की प्रार्थना पर वृद्ध गुरु ने एक शिष्य को
भेज कर उस उद्धत मुनि को बुलवाया। वह तरुण मुनि आये
तो संघ के लोगों ने खड़े होकर उनको मान दिया।

तरुण मुनि उन्मत्त की तरह से आकर गुरु के सामने खड़े
होकर बोले, "कहिये क्या है ?" ऊँचे स्वर से ऐसा बोलकर
उन्होंने विनय का भंग किया। वृद्ध गुरु ने शांति से कहा, "इस
नगर का संघ तुम्हारे लिये मुझे समझाने आया है। जिस
बालक को दीक्षा देने की तेरी इच्छा है, उसे संघ को सौंप देना
चाहिये। जो काम हमको अच्छा लगता हो पर यदि वह संघ
विरुद्ध या लोक विरुद्ध हो तो ऐसे काम को छोड़ देना चाहिये,
उसके लिये दुराग्रह नहीं करना चाहिये।" गुरु के वचन
सुनकर युवा शिष्य ने गुरु मर्यादा का भंग करते हुए उच्च स्वर
में कहा, "महाराज ! आपको मेरे विषय में मध्यस्थ बनने की
आवश्यकता नहीं है। यहाँ के श्रावक लुच्चे हैं। मैं उस श्रावक
के बच्चे के बाबत कुछ भी नहीं जानता। वह कहीं भी गया
होगा, मुझे नहीं मालुम। यदि उसको दीक्षा लेनी होगी तो
कहीं भी जाकर ले लेगा। उबकाई आया हुआ भोजन कभी
भी पेट में नहीं टिकता। महाराज ! आप भी बहुत भोले हैं,
ये श्रावक आपको जैसे भी भ्रमित करते हैं, वैसे ही हो
जाते हो।"

वृद्ध गुरु ने शांत स्वर में कहा, 'शिष्य तुम जानते हो कि
हम पाँच महाव्रतधारी मुनि हैं। झूठ नहीं बोलना, यह हमारा

एक महाव्रत है। अतः तुझे सच बोलना चाहिये। क्या वास्तव में तुम्हें उस बालक के बारे में कुछ मालुम नहीं? झूठ मत बोलना।" युवा मुनि ने क्रोधावेश में कहा, "महाराज, आपको मैंने एक बार कह दिया कि आप मेरे विषय में बीच में न पड़ें। मैं झूठ बोल रहा हूं या सत्य, इस विषय में आपको जानने की क्या आवश्यकता है? यदि आपको मुझे साथ रखना हो, रखें नहीं तो मैं अकेला ही विचरण करुंगा। यदि मेरे में देवत्व होगा तो मैं जहाँ कहीं भी जाऊंगा वहाँ मुझे आहार-पानी मिलेगा। मुझे आपकी आवश्यकता नहीं है। फिर मुझ में इतना सामर्थ्य है कि मैं आपसे अधिक शिष्य बना सकूँगा। धनवान श्रावकों के बहुत से बालक मेरे पास दीक्षा लेने को तैयार हैं। यदि मैं आपसे अलग होकर स्वतन्त्र बनूं तो मेरे पास शिष्यों का बड़ा परिवार होगा।"

उस युवा मुनि के ऐसे उद्धत वचन सुनकर वे वृद्ध मुनि चुप रहे। संघ के आगेवान भी असंमजस में पड़ कर कुछ न बोल सके। इस समय अदृश्य रही हुई दीक्षाकुमारी ने अपने मन में विचार किया कि यह युवा मुनि सच ही अविनयी है। अपने पूज्य गुरु के समक्ष वह कैसे अमर्यादित वचन बोलता है। ऐसे उन्मत्त मुनियों को शिक्षा देना ही मेरा कर्त्तव्य है। ऐसा सोचकर उस महादेवी ने उच्च स्वर में निम्न गाथा कही—

"सिआ हु सीसेण गिरिं पि भिंदे,
सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे।
सिआ न भिंदिज्ज वसत्ति अग्गं,
न आवि मुक्खो गुरु हीलणाए॥"

'किसी समर्थ पुरुष द्वारा मस्तक से पर्वत तोड़ना शायद सम्भव हो सके, कुपित सिंह शायद मंत्र आदि के प्रभाव से भक्षण न करे, शायद तीक्ष्ण शस्त्र का प्रहार भी देव आदि के अनुग्रह से असर न करे, पर गुरु का अविनय करने वाले को तो किसी भी प्रकार मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।'

इस गाथा को सुनते ही सब चकित हो गये और चारों तरफ देखने लगे पर कोई दिखाई नहीं दिया। क्षण भर बाद ही दीक्षाकुमारी अपने शरीर की कांति से उपाश्रय की भूमि पर प्रकट हुई। उस दिव्यमूर्ति को देखकर वे वृद्ध मुनि, उनका शिष्य और संघ के नेता चकित हुए। उस मुर्ति के दिव्य गौरव को देखकर उन्होंने अपने मस्तक झुकाये। दीक्षाकुमारी ने उच्च स्वर से कहा, 'वृद्ध मुनि! आपके स्वभाव, आचार और चारित्र को धन्यवाद है। आपके पवित्र हृदय और विचारों को सुनकर मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। इस भारतवष में जब आपके जैसे शांत स्वरूप और सद्गुणी मुनि प्रकट होंगे तभी आर्हत धर्म का उदय होगा। वीर शासन के देवता आपके जैसे मुनियों को सहायता करें।" इस प्रकार वृद्ध मुनि का अभिनंदन करने के पश्चात् दीक्षाकुमारी ने उस उन्मत्त तरुण मुनि को संबोधित करते हुए कहा, "हे मत्त मुनि! तुम्हारी प्रवृत्ति को देखकर मुझे बहुत अफसोस है। तुम्हारे जैसे अविनीत मुनि मैंने आज तक नहीं देखे। तुम्हारे उन्मत्त मन का प्रवर्तन बहुत ही निन्दनीय है। ऐसे पवित्र वृद्ध गुरु के समक्ष तुमने जो वचन कहे हैं, वैसे वचन जैन मुनि के मुख से निकलने ही नहीं चाहिये। जैन धर्म का मूल विनय है। जैन मुनि विनय से अलंकृत हैं, तुम्हारे जैसे अधर्म मुनि द्वारा ही जैन धर्म की निंदा होती है। पवित्र वृद्ध गुरु के समक्ष शिष्य को कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये, उसे गुरु की आज्ञा का पालन किस प्रकार करना चाहिये, इस शिक्षा से तुम बहुत दूर हो। "आपको मेरे बारे में बीच में नहीं पड़ना चाहिये" ऐसे वचन वृद्ध गुरु के समक्ष लघु शिष्य कहे, यह कैसा अविनय है! ये पवित्र गुरु तेरे ऐसे अविनीत वचन सुनकर भी कुछ नहीं बोलते, यह इनकी कैसी शांति और सहन शीलता है! कैसी दया और कैसी क्षमता है। धन्य है इन पवित्र मुनि के जीवन को। हे अविनीत मुनि! थोड़ा अपने मन में सोच। ऐसे पवित्र और वृद्ध मुनि की सेवा कर अपने जीवन को उज्ज्वल कर। हे उन्मत्त मुनि! तुझे जब स्वतंत्र रहना था, अपनी इच्छानुसार

स्वच्छंद होकर चलना था, संघ और गुरु की आवश्यकता न थी, तब तूने चारित्र क्यों लिया? तेरे ऐसे चारित्र से तो शांत हृदय के गृहस्थ अधिक अच्छे हैं। हे अधम अनगार! इस समय तेरे व्यवहार को देखकर मुझे बहुत दुःख है और मेरी इच्छा है कि शरीर में मेरा जो स्वरूप (दीक्षा) रहा हुआ है, उसे वापस छीन लूं।"

दीक्षाकुमारी की फटकार सुनकर वह मत्त मुनि कांपने लगा और नम्र मुख से दोनों हाथ जोड़कर उन महादेवी के समक्ष खड़ा हो गया। उस समय वृद्ध मुनि ने हाथ जोड़कर कहा, "महादेवी! आपका स्वरूप जब हमारे अंग में है तब तो मुझे लगता है आप साक्षात् दीक्षाकुमारी हैं। महादेवी! इस मुग्ध मुनि पर कृपा करें और उसे क्षमा प्रदान करें। दयालु माता-पिता बच्चे के अपराध को माफ कर देते हैं। वृद्ध मुनि के वचन सुनकर दीक्षाकुमारी ने प्रसन्न होकर कहा, "महामुनि! आपके पवित्र हृदय को अतिशय धन्यवाद! थोड़ी देर पहले यह शिष्य आपकी अविनय कर रहा था, फिर भी आप इसके अविनय के बदले उसे क्षमा करवा रहे हैं, यह देखकर मुझे बहुत ही आनन्द हुआ है। आपके सुन्दर शांत स्वभाव को देखकर मुझे आर्हत धर्म के प्राचीन मुनियों की याद आ रही है। पूर्वकाल में पवित्र जैन मुनि आप जैसे ही दयालु होते थे जिससे भारतवर्ष की आर्य प्रजा में जैन धर्म का उद्योत होता था। महामुनि! आपके जीवन और चारित्र को धन्य है! मैं आजकल बहुत समय से भारतवर्ष में भ्रमण कर रही हूँ। मेरे आठ प्रवास पूर्ण होकर यह नौवाँ प्रवास चल रहा है इस प्रवास से मुझे बहुत सन्तोष प्राप्त हुआ है, ऐसा संतोष मुझे अन्य किसी भी प्रवास में प्राप्त नहीं हुआ।"

"जब मेरा आर्य भूमि पर अवतरण हुआ, तुरन्त ही मुझे एक महामुनि से संतोष प्राप्त हुआ था। वे महामुनि सुधा विजय के नाम से प्रख्यात हैं। 'दशवैकालिक' सूत्र के अभ्यासी और उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले मुनि सुधाविजय के

दर्शन से संतोष प्राप्त कर मैं अपने प्रवास पर निकली थी। उसके बाद आज इस नौवें प्रवास में मुझे संतोष मिला है। हे महामुनि ! आपका नाम क्या है? आपके यह एक ही शिष्य हैं या और भी शिष्य हैं ?"

वृद्ध मुनि ने गम्भीर वाणी से कहा. 'महादेवी ! मेरा नाम अमृतविजय है। मेरे चार शिष्य हैं जिसमें यह नवदीक्षित लघु शिष्य भी है।'

मुनि का नाम सुनते ही महादेवी प्रसन्न होकर बोली, "वाह ! जैसा नाम वैसा ही गुण ! अमृत से किसको संतोष न हो? सुधा और अमृत ये दोनों समानार्थक नाम हैं, तब सुधा विजय और अमृतविजय दोनों अमृत गुण से संतोष प्रदान करें तो इसमें कौनसा आश्चर्य ? हे वृद्ध मुनि ! कहिये आपके इस अविनीत शिष्य को क्या दंड दिया जाय? क्योंकि अविनीत शिष्य बिना दंड के नहीं सुधरते।"

वृद्ध मुनि ने नम्रता पूर्वक कहा, महेश्वरी ! उस शिष्य को दंड न देकर मुझे ही दड दीजिये क्योंकि उसके साथ मैं भी अपराधी हूँ। दीक्षाकुमारी ने आश्चर्य से पूछा, "आप कैसे अपराधी हो सकते हैं? अवश्य वह आपका शिष्य ही अपराधी है।"

वृद्धमुनि—"महेश्वरी ! गुण-दोष की परीक्षा किये बिना मैंने ऐसे अविनीत युवक को दीक्षा दी, अतः मैं ही अपराधी हूँ। दीक्षा देने वाले मुनि को पात्र-अपात्र का विचार करना चाहिये। यह श्रावक दीक्षा देने के योग्य है या नहीं, इस बात का अच्छी तरह विचार करके ही गुरु को दीक्षा देनी चाहिये। मैंने इसका विचार किए बिना ही ऐसे अविनीत को दीक्षा दे दी, इसका मुझे बहुत पश्चात्ताप है।"

दीक्षाकुमारी—"वृद्ध मुनि ! आपका कहना सत्य है पर बाद में उसे अधिकारी बनाने के लिये आपने उसको अच्छा

अभ्यास कराया है। ऐसा विद्वान होकर ऐसा अविनय करता है अत: वह स्वयं ही दोष-पात्र है और उसे ही दंड देना चाहिये।"

उस समय वह तरुण मुनि भयभीत होकर दीक्षाकुमारी के चरणों में गिर गया और विनीत होकर बोला, "धर्ममाता! क्षमा करें। मैं आपका मूर्ख और मुग्ध बालक हूँ। पुत्र कुपुत्र हो सकता है पर माता कुमाता नहीं हो सकती। पूर्वकृत पापकर्मों के उदय से मुझे कुबुद्धि उत्पन्न हुई, जिससे मैंने गुरुजी का अविनय किया। मुझे क्षमा कर दें और मेरे मलिन चारित्र को उज्ज्वल बनाने के लिये कुछ उत्तम उपदेश देने की कृपा करें।"

दीक्षाकुमारी—"हे मुग्ध मुनि! पहले तो अपने इन वृद्ध गुरुजी के चरणों में नमस्कार कर उनसे माफी माँग, फिर मैं जो कुछ पुंछू उसका उत्तर दे।"

तरुण मुनि—"माता जैसी आपकी आज्ञा।

इतना कहकर वह युवक मुनि अपने वृद्ध गुरुजी के चरणों में गिर पड़ा और बारंबार उनसे क्षमायाचना करने लगा। दयालु गुरु ने अपने मुग्ध शिष्य के सिर पर हाथ फेरा और उसे हृदय से क्षमा कर दिया।

दीक्षाकुमारी—"हे तरुण मुनि! तुम इन शांतमूर्ति कृपालु मुनि के हृदय का अवलोकन करो। तुम्हारे अविनय को अपने मन में जरा भी न रखकर इन्होंने तुम्हारे ऊपर कितना शुद्ध प्रेम प्रदर्शित किया है! हे प्रमत्त! तुम्हें भी ऐसी शिक्षा लेनी चाहिये। ऐसी शिक्षा से ही तुम्हारे जीवन और चारित्र की उन्नति होगी।"

तरुण मुनि—"धर्ममाता! आपका वचन सत्य है। मेरे अनुतापित हृदय में इस शिक्षा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है।"

दीक्षाकुमारी—"हे तरुण मुनि ! तुमने क्या अभ्यास किया है ?"

तरुण मुनि—"मैंने संस्कृत और मागधी भाषा का अभ्यास किया है जिससे मैं जैन साहित्य पढ़ सकता हूं ।"

दीक्षाकुमारी—"तुमने कोई सूत्र ग्रंथ पढ़ा है ?"

तरुण मुनि—"हाँ, एक दो ग्रंथ पढ़े हैं, पर वे अपूर्ण पढ़े हैं ।'

दीक्षाकुमारी—"क्या तुमने 'दशवैकालिक सूत्र' पढ़ा है ?

तरुण मुनि—" हाँ, उसके छः अध्ययन पढ़े हैं ।

दीक्षाकुमारी—,'फिर भी इतना अविनय करते हो, इसका कारण ?

तरुण मुनि—"पूर्वकृत कर्मों का उदय ।"

दीक्षाकुमारी--चारित्र लेने के बाद कर्म के योग को समझना चाहिये । निकाचित कर्म के लिये तो कोई उपाय नहीं है क्योंकि वह तो पराधीन है, पर जो बात अपने वश में है, उस पर तो विचार करना ही चाहिये ।

तरुण मुनि—महादेवी ! अपने वश की क्या बात है, जरा समझाइये ।

दीक्षाकुमारी— तुम विद्वान होकर नहीं समझते, यह अफसोस की बात है । हे मुनि ! अभी गुरु का अविनय कर, झूठ बोलकर जो नये कर्म बांधे हैं, उन्हें रोकना तो अपने वश की बात ही थी । फिर तुमने यह सब क्यों किया ? तुम तो जानते हो कि अनेक दुराचारों के सेवन से कर्म बन्धते हैं, फिर तुम दुराचार का सेवन क्यों करते हो ?

तरुण मुनि हे महादेवी ! अब यह बात मेरी समझ में आगई । मुझे क्षमा करें, फिर से ऐसी भूल नहीं होगी ।

दीक्षाकुमारी—"हे मुनि ! यदि ऐसा उत्तम लक्ष्य रखोगे तो तुम्हारा जीवन सुधरेगा। यदि तुम्हें अपना जीवन सुधारना हो तो हमेशा 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन-मनन करते रहो। इस महासूत्र को पूरा पढ़ना और इसमें विशेष कर नवें अध्ययन पर अधिक ध्यान देना, क्योंकि यह अध्ययन तुम्हारे जैसे तरुण मुनि के लिये बहुत उपयोगी है। यदि तुमने इस अध्ययन को पढ़ा होता और उस पर मनन किया होता तो तुम्हारा ऐसा विपरीत प्रवर्तन नहीं होता। गुरु का विनय कैसे रखना, गुरु के पास से शिक्षा किस प्रकार ग्रहण करना और गुरु की परिचर्या किस प्रकार करनी, इसके सिवाय अन्य कितनी ही उपयोगी शिक्षा इस अध्ययन में दी गयी है। यदि तुमने एक निष्ठा से उस पवित्र और उपयोगी अध्ययन का मनन किया होता तो तुम्हारे मुख से ऐसे अविनीत वचन न निकलते।"

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर उस युवक मुनि ने हाथ जोड़कर कहा, "धर्ममाता ! आप मुझे उसी अध्ययन का उपदेश दीजिये। आपके मुख से निकली दिव्य वाणी मेरे हृदय पर भारी असर करेगी।" वृद्ध मुनि ने अनुमोदन किया, "धर्ममाता ! कृपाकर इस अध्ययन का उपदेश दीजिये। आपके दिव्य उपदेश से मेरे मुग्ध शिष्य का उपकार होगा।"

दीक्षाकुमारी ने आनन्दपूर्वक कहा, "हे मुग्ध मुनि ! तुम्हारी मनोवृत्ति अच्छे परिणाम वाली देखकर मुझे संतोष हुआ। तुम्हारे इस परिणाम को पुष्टि मिले, ऐसा उपदेश देती हूं, शांत चित्त होकर सुनो"—

विश्व के महान् उपकारी शय्यंभवसूरि ने 'दशवैकालिक सूत्र' लिखा है। उसमें नौवां 'विनय समाधि' नामक अध्ययन है। उस अध्ययन में मुनि के विनय के बारे में अच्छा विवेचन किया गया है। अपनी समाचारी का अनुसरण करने वाला साधु विनय सम्पन्न ही होता है और प्रत्येक जैन साधु को

विनय सम्पन्न होना चाहिये, इत्यादि उत्तप अधिकार इस अध्ययन में वर्णित है।

हे मुनि ! इस पवित्र अध्ययन की पहली गाथा में कहा है कि जो मुनि अहंकार, क्रोध, कपट, या प्रमाद से अपने गुरु के पास से विनय की शिक्षा नहीं लेता, उस मुनि की अपनी ज्ञान सम्पति नष्ट हो जाती है। अर्थात् उपर्युक्त कारणों से जो मुनि विनय की शिक्षा नहीं लेता, उस मुनि को फिर ज्ञान सम्पति की प्राप्ति नहीं होती जिससे उसमें किसी प्रकार के गुण का प्रवेश नहीं होता। ग्रंथकार इस विषय की पुष्टि में बांस का उदाहरण देते हैं। जैसे बांस के फल उसके नाश के लिये होते हैं, वैसे ही यदि मुनि में अहंभाव आदि उत्पन्न हों तो वे उसके ज्ञान रूपी प्राण का नाश करने वाले हो जाते हैं।

हे तरुण मुनि ! यह बात तुम अपने लक्ष्य में रखना। मुनि को विनय का शिक्षण सर्वप्रथम आवश्यक है। जब तक विनय की शिक्षा प्राप्त न होगी, तब तक मुनि अपने चारित्र जीवन की उन्नति नहीं कर सकता।

हे युवक अनगार ! दूसरी एक और बात तुम्हें मनन करनी चाहिये। तुमने जिनके पास दीक्षा ली हो या जो उपदेशदान या विद्यादान से तुम्हारे उपकारी गुरु हुए हो, ऐसे गुरु की कभी भी निंदा या अपमान नहीं करना चाहिये। यदि कोई गुरु अल्प विद्या वाले या किसी प्रकार की कमी वाले हों, तो भी उनका अनादर नहीं करना चाहिये। इस विषय में इस 'विनय समाधि' अध्ययन में निम्न गाथा वर्णित है, जिसका तुम्हें सदा मनन करना चाहिये—

"जे आवि मंदित्ति गुरुं वइत्ता,
डहरे इमे अप्प सूअत्ति नच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा,
करंति आसायण ते गुरुणं ॥"

"जो द्रव्य मुनि अपने गुरु को 'ये मंद बुद्धि हैं, बूढ़े हैं, अल्पश्रुत हैं, ऐसे शब्दों से निन्दा करते हैं, वे मिथ्यात्व को प्राप्त कर गुरु की आशातना करते हैं।" हे मुग्ध मुनि ! इस गाथा के अर्थ को समझ कर अब कभी गुरु का अपमान नहीं करना। यदि कोई गुरु मंद बुद्धि हो और स्वयं विद्वान् हो तो भी उन पर समभाव रखे। जिन्हें तुमने गुरु का पद दिया है, उनकी तुम्हें मन, वचन, काया के शुद्ध योग से सेवा करनी चाहिये। उनकी निन्दा न करे। गुरु की निन्दा करने से अनेक प्रकार के अनर्थ होते हैं। इस विषय पर सूत्रकार ने लिखा है कि कोई वयोवृद्ध गुरु कर्म की विचित्रता से अथवा स्वभाव से बुद्धि रहित हो, चढ़ती उम्र के कारण मंद हो, कोई बुद्धियुक्त हो, कोई ज्ञानयुक्त हो, कोई मंद ज्ञान वाले हों, और कोई अच्छे ज्ञान वाले हों; पर यदि उनमें अच्छे आचार, अच्छे भाव और अच्छे गुण हों तो ऐसे मुनियों की कभी भी निंदा नहीं करनी चाहिये। उनकी निंदा करने से शिष्य का अनर्थ होता है, इसे बताने के लिये सूत्रकार ने उदाहरण दिया है कि 'जेहीलिजा सिहिखि भास कुज्जा, अर्थात् जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही गुरु की निंदा करने वाला शिष्य अपने ज्ञानादि गुणों के समूह को नष्ट कर देता है। हे मुनि ! कभी अपने गुरु अल्प वय के हों तो ऐसा नहीं समझना कि ऐसे छोटे गुरु क्या हुए ? क्योंकि गुरु पद उम्र की अपेक्षा से न होकर गुण की अपेक्षा से होता है। इस विषय पर सूत्रकार निम्न दृष्टांत देते हैं—

"जे आवि नागं महरंति नच्चा,
आसायए से अहिआय होइ।
एवायरिअंपि हु हीलयंतो,
निअच्छई जाइपहं खु मंदो ॥"

"सर्प को छोटा समझ कर यदि कोई उसे छेड़े तो सर्प उसका प्राण हरण करता है, वैसे ही यदि किसी कारण वश गुरु उम्र में अपने से छोटा हो और शिष्य उसकी निंदा करे तो

वह वेइन्द्रिय जाति के जीवों में जन्म लेता है, अर्थात् संसार में परिभ्रमण करता है।"

हे मुनि! ऐसे अनर्थ का विचार कर कभी भी अपने गुरु की निंदा न करें। गुरु का अनादार करने से तुम्हारे मुनि जीवन में अनेक उपद्रव उत्पन्न होंगे। सूत्रकार ने इस विषय पर बहुत विवेचन किया है। उन्होंने तो यहां तक लिखा है कि जो गुरु की आशातना करता है वह प्रज्वलित अग्नि में पैर रखकर खड़ा होता है, जहरी सर्प को छेड़ता है, और जीने के लिये विषपान करता है। इन उपमाओं से विचार करें कि गुरु की निंदा कितना जोखम भरा काम है। इससे शिष्य कभी भी इस लोक या परलोक में उन्नति नहीं कर सकता। कभी देव योग से अग्नि न जलाये, सर्प न काटे, विष मार न सके पर गुरु की निन्दा करने वाला शिष्य सद्गति-मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः सूत्रकार नीचे की अर्ध गाथा से पुकार कर कहते है कि मोक्ष की इच्छा वाले शिष्य को गुरु को सर्व प्रकार से प्रसन्न रखना चाहिये—

"तम्हा अणावाह सुहाभिकखी,
गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा।"

"अतः अनाबाध-मोक्ष के सुख की इच्छा करने वाला शिष्य गुरु को प्रसन्न रखने में सदा अभिमुख रहे।"

हे मत्त मुनि! जब तुम इस गाथा पर विचार करोगे तब तुम्हें समझ में आयेगा कि गुरु कैसी उत्तम और दिव्य वस्तु है। शिष्य को हमेशा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिये। ऐसे पवित्र और पूजनीय गुरु के समक्ष अविनीत वचन बोलना उनका अनादर करना और उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना, यह कैसा अनाचार है! ऐसा अनाचार करने वाला शिष्य शास्त्र और धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला गिना जाता है। इससे चारित्र योग को प्राप्त करके भी वह अंत में दुर्गति को प्राप्त होता है।

हे मुनि ! महोपकारी शय्यंभवसूरि ने यह भी लिखा है कि अग्नि की उपासना करने वाला ब्राह्मण 'अग्नये स्वाहा' मंत्र से आहुति देकर जैसे अग्नि की सेवा करता है, वैसे ही मुनि स्वयं अनंत ज्ञान का स्वामी हो तो भी उसे अपने गुरु की सेवा करनी चाहिये ।

हे तरुण मुनि ! ऊपर की गाथा में जो गुरु को प्रसन्न रखने के लिये कहा है, उसे सूत्रकार निम्न गाथा में और स्पष्ट करते हैं—

'जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भो मणसा अ निच्चं ।।'

"जिस गुरु के पास सिद्धान्त के पद सीखे हों, उस गुरु का शिष्य विनय करे, शरीर से, मस्तक से, हाथ जोड़कर और वाणी से 'सिर झुका कर वन्दना करता हूं' ऐसा कहकर मन में उत्तम भावना धारण करके—इस प्रकार मन, वचन और शरीर से नित्य गुरु का सत्कार करे ।"

तरुण मुनि ! इस गाथा के बाद सूत्रकार एक दूसरी गाथा कहते हैं जो बहुत ही सुन्दर है, उसे ध्यान से सुनें—

"लज्जा दया संजम बंभचेरं,
कल्लाण भागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरु सययमणुसासयंति,
तंहिं गुरु सययं पूअयामि ।।"

गुरु के पास शिष्य को इस प्रकार सोचना चाहिये, "लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य ये चारों बातें मोक्ष के इच्छुक जीव को विशुद्धि के लिये अर्थात् कर्मरूपी मल को दूर करने के लिये आवश्यक हैं । ये चारों शिक्षा मेरे गुरु हमेशा मुझे देते हैं, ऐसे गुरु की मैं सदा पूजा करता हूं ।"

हे मुनि ! विचार करें, गुरु का आपके ऊपर कितना बड़ा उपकार है । इस जगत् में मुनि जीवन को उज्ज्वल करने के

लिये चार आचरण लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य हैं। इन चारों आचरणों को गुरु के पास से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे उपकारी गुरु का अनादर करना कितनी शर्म की बात है। ऐसा अविनीत शिष्य चारित्र से भ्रष्ट हो तो इसमें क्या बड़ी बात? यदि शिष्य को अपना चारित्र निर्मल रखना हो तो उसे मन, वचन, काया से गुरु की भक्ति करनी चाहिये। हे मुनि! गुरु के प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिये सूत्रकार ने बाद में जो सूर्य, चंद्र की उपमा का वर्णन किया है, उसे ध्यान से सुनो—

"जहा निसंते तवणच्चिमाली,
पभासई केवल भारहं तु।
एवायरिओ सुअसील बुद्धिए,
विरायई सुरमज्मे व इंदो॥"

"जैसे रात्रि की समाप्ति और दिन के आगमन पर यह तप्त सूर्य इस सम्पूर्ण भारत को प्रकाशित करता है, वैसे ही आचार्य गुरु श्रुत, शील और बुद्धि से जीव आदि पदार्थों को प्रकाशित करते हैं और साधुओं से घिरे हुए वे गुरुदेव देवताओं में इन्द्र की भाँति सुशोभित होते हैं।"

इस प्रकार सूर्य की उपमा देने के बाद निम्न गाथा में चंद्रमा की उपमा देकर वर्णन करते हैं—

"जहा ससी कोमुइ जोग जुत्तो,
नखत्त तारागण परिवुडप्पा।
खे सोहइ विमले अब्भमुक्के,
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्जे॥"

"जैसे कार्तिक की पूर्णिमा का उदित चंद्रमा नक्षत्र, तारे और ग्रहों से घिरा हुआ बादल रहित निर्मल आकाश में शोभित होता है, वैसे ही आचार्य गुरु मुनियों के मध्य में सुशोभित होता है।"

हे तरुण मुनि ! ऐसे महान् उपकारी गुरु की कौन सा शिष्य सेवा-भक्ति नहीं करता ? इस गाथा के भावार्थ को अपने हृदय में स्थापित कर तुम्हें इन प्रभावित गुरु का विनय करना चाहिये। मन, वचन, काया की शुद्धि से तुम्हें इनकी सेवा-भक्ति करनी चाहिये।

हे मुनि ! यदि तुम्हें ज्ञानादि रत्नों की प्राप्ति की इच्छा हो और उनसे अपने चारित्र को उज्ज्वल कर प्रसिद्धि प्राप्त करना हो तो तुम्हें अपने गुरु की भक्ति, सेवा और विनय करना चाहिये। हे मुनि ! तुम्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि गुरु की सेवा, भक्ति और विनय करने से केवल ज्ञान आदि का ही लाभ होता है, अपितु उससे कर्म-निर्जरा भी होती है। अतः कर्म-निर्जरा की इच्छा रखने वाले शिष्य को गुरु की सेवा, भक्ति करनी चाहिये। इस विषय पर महोपकारी शय्यंभवसूरि अपने विनय समाधि अध्ययन में निम्न पवित्र और बोधक गाथा लिखते हैं—

"महागरा आयरिया महेसी,
समाहि जोगे सुअसील बुद्धिए।
संपाविउकामे अणुत्तराइं,
आराहए तोसइ धम्मकामी ॥"

उत्कृष्ट ज्ञानादि भावरत्नों को प्राप्त करने की इच्छा वाला श्रुत चारित्र रूप धर्म का अभिलाषी मुनि ज्ञानादि के रत्नों के भंडार, श्रुत, चारित्र और बुद्धि से युक्त समाधिवत महर्षि आचार्य महाराज की आराधना करे और उनकी विनय-भक्ति करके उन्हें प्रसन्न रखे।

हे पवित्र मुनि ! इस पर से तुम्हें मालूम पड़ेगा कि गुरु की आराधना से शिष्य ज्ञान तथा कर्म की निर्जरा को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, पर गुरु की शुद्ध भक्ति करने वाला पवित्र शिष्य सिद्धि पद को भी प्राप्त करता है। इस विषय में

महान् शय्यंभवसूरि नवमें अध्ययन के प्रथम उद्देश्य की समाप्ति में निम्न गाथा लिखते हैं—

"सुच्चाण मेहावि सुभासिआई,
सुस्सूसए आयरि अप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे,
से पावइ सिद्धिमणुत्तरं त्तिबेमि ॥"

"बुद्धिमान् साधु गुरु की आराधना के फल रूप सुभाषित को सुनकर, प्रमाद रहित होकर और गुरु की सेवा में तत्पर रहकर अनेक ज्ञानादि गुणों की आराधना कर, उत्तम सिद्धि को प्राप्त करते है ।"

हे तरुण शिष्य ! इस प्रकार गुरु की सेवा-भक्ति की महिमा समझ कर तुम्हें अपने इन वृद्ध गुरु की शुद्ध हृदय से सेवा करनी चाहिये, उनका विनय करना चाहिये और उनकी आज्ञा माननी चाहिये । अब कभी भी उनका अविनय नहीं करोगे । तुम्हें पूर्व के पुण्य योग से ऐसे उत्तम गुरु प्राप्त हुए हैं, उसका पूर्ण लाभ प्राप्त करो ।

हे मुनि ! चालू प्रसंग में तुम्हें कहना है कि तुमने श्रावक के जिस बालक को दीक्षा देने के लिये छिपाया है, उसे वापस सौंप दो । वह बालक अभी दीक्षा का अधिकारी नहीं हुआ है । माता-पिता की आज्ञा बिना, भाग कर आये हुए और चारित्र धर्म के स्वरूप को नहीं समझने वाले मुग्ध बालक को दीक्षा देना योग्य नहीं हैं । फिर भी तुम्हें योग्य लगता हो तो भी उसके माता-पिता की स्थिति तुम्हें जाननी चाहिये । फिर इस संघ के आगेवान तुम्हें कुछ कहने को आये हैं, उसे भी तुम्हें सुनना चाहिये क्योंकि संघ भी चतुर्विध संघ का एक भाग होने से उसकी आज्ञा भी मान्य है । यदि तुम सबका वचन भी अमान्य कर दो तो भी तुम्हारे उपकारी परम पूज्य वृद्ध गुरु की आज्ञा को भी तुम्हें मान्य करना ही चाहिये । गुरु के विनय और

भक्ति के लिये मैंने तुम्हें अभी-अभी उपदेश दिया है, उसे अपने हृदय में स्थापित कर विचार करो। ऐसे परम पवित्र गुरु के वचन को मान्य कर छिपाये हुए श्रावक पुत्र को वापस कर दो।

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर तरुण मुनि के हृदय पर अच्छा असर हुआ। तुरंत ही खड़े होकर उसने पहले दीक्षाकुमारी को और फिर अपने गुरु के चरणों में वन्दन किया, फिर हाथ जोड़कर विनय पूर्वक कहा "महेश्वरी ! आपने मेरा महान् उपकार किया है, मेरे चारित्र जीवन को बड़ा जीवन प्रदान किया है। अब से मैं इन उपकारी वृद्ध गुरु की आज्ञा में रहूँगा और शुद्ध हृदय से उनकी सेवा-भक्ति करूँगा।" फिर उसने गुरु को संबोधित कर कहा, "हे महोपकारी पूज्य गुरुदेव ! आपके इस अल्पमति शिष्य ने मन, वचन, काया से आपकी जो भी विराधना की हो उसके लिये क्षमा प्रदान करें।" फिर दीक्षाकुमारी से कहा—धर्ममाता ! मैंने कपट पूर्वक उस श्रावक पुत्र को इसी नगर के एक मेरे रागी श्रावक के घर में छिपा रखा है! मैं अब उसे दीक्षा नहीं दूंगा, भविष्य में भी ऐसा अनुचित कार्य कभी भी नहीं करूँगा। मैं स्वयं ही लघु शिष्य हूं अतः अब मेरी शिष्य बनाने की इच्छा ही नहीं है। मेरे गुरुजी की जैसी इच्छा होगी, तदनुसार करूँगा।" फिर संघ के आगेवानों से कहा, "हे उत्तम श्रावको ! मैंने आपका कुछ भी अविनय किया हो तो आप मुझे क्षमा करें। साधु के रूप में मैं भी संघ का एक बालक हूँ।"

इतना कह वह तरुण मुनि गुरु के चरणों में बार-बार नमस्कार करने लगा और उनसे क्षमा-याचना करने लगा। दीक्षाकुमारी ने उसकी शुद्ध वृत्ति देखकर प्रसन्न होकर सबके समक्ष उच्च स्वर में कहा, "यह तरुण मुनि अब सर्व प्रकार से शुद्ध वृत्ति वाले बने हैं, सर्व संघ अब उन्हें शुद्ध मुनि जानकर उनका मान करे।" फिर वृद्ध मुनि ने गंभीरता से कहा, "धर्ममाता ! आपने मेरा और मेरे शिष्य का उद्धार किया,

जिससे मैं आपका आभारी हूँ। महादेवी! इस संसार में आपकी विजय हो। वृद्धमुनि को 'तथास्तु' कह दीक्षाकुमारी अदृश्य हो गई। सभी लोग दिव्य मूर्ति के दर्शन के लिये इधर-उधर देखने लगे। जब वह दिखाई न दी तब संघ के आगेवानों ने आदीश्वर भगवान की जय बोल, मुनियों को नमस्कार कर अपने स्थान को प्रस्थान किया।

प्रवास (10)

एक उपाश्रय में चारों ओर शांति का साम्राज्य छाया हुआ था। कहीं कोई श्रावक या श्राविका दिखाई नहीं दे रहे थे। उपाश्रय के बीच एक बड़ा कमरा था, जिसमें सिर्फ दो मुनि बैठे हुए आपस में बातचीत कर रहे थे:—

सत्य विजय—क्यों सुख विजय, वह छोकरा अभी तक नहीं आया ?

सुख विजय—मेरे ख्याल से कहीं वह दूसरे उपाश्रय में चला गया होगा।

सत्य विजय—हाँ, मुझे भी ऐसा लग रहा है क्योंकि अन्य उपाश्रय के साधुओं को भी इस बात का पता लग गया है कि यह छोकरा दीक्षा लेने वाला है।

सुख विजय—फिर अपने को क्या करना चाहिये ?

सत्य विजय—अगर आपकी इच्छा हो तो मैं अपने एक रागी श्रावक को गुप्त रूप से भेजकर उसका पता लगवाऊँ ?

सुख विजय—यदि ऐसा हो सके तो अच्छा है, नहीं तो छोकरा अपने हाथ से निकल जायेगा।

सत्य विजय—मैं मेहनत करूं उससे मुझे क्या लाभ ?

सुख विजय—वह छोकरा दीक्षा लेगा इसमें तो लाभ ही है।

सत्य विजय—यह तो ठीक, पर वह किसका शिष्य होगा ? इस विषय पर तो अभी कुछ विचार किया ही नहीं।

सुख विजय—वह शिष्य तो मेरा ही होगा क्योंकि शुरु से ही उसे मेरा उपदेश लगा है।

सत्य विजय—साधु होकर आप झूठ क्यों बोलते हैं, उसे पहले मैंने उपदेश दिया था।

सुख विजय—मैं झूठ नहीं बोलता, तुम ही झूठ बोल रहे हो। जरा मन में सोच कर देखो।

सत्य विजय—इसमें सोचना क्या है, मैं जो कह रहा हूँ, उसमें जरा भी झूठ नहीं है।

सुख विजय—सत्य विजय, इस बात का निश्चय करने के बाद ही मुझे रास्ता दिखाई देगा। तुम स्वयं अपना स्वार्थ साधन करने के लिये तत्पर हो रहे हो, पर जरा भी विचार नहीं करते कि जिसने मेहनत की और मेहनत कर रहा है, उसे उसका लाभ मिलना चाहिये।

सत्य विजय—अरे सुख विजय! इस समय इस प्रकार की बाधा उत्पन्न करने का अवसर नहीं है। यदि हम वाद-विवाद में समय नष्ट करेंगे तो यह छोकरा हमारे हाथ से निकल जायेगा और अपन दोनों लटकते रह जायेंगे।

सुख विजय—यह तो और भी अच्छा क्योंकि दो की लड़ाई में तीसरा फायदा उठाता ही है।

सत्य विजय—भाई सुख विजय! मन में सोचो। तीसरा फायदा उठायेगा इसमें तुम्हें क्या मिलेगा। मुझे शिष्य का लाभ मिलेगा तो उसमें तुम्हें भी फायदा है क्योंकि अपन एक ही गुरु के शिष्य गुरु भाई हैं। यदि वह छोकरा मेरा शिष्य बनेगा तो तुम उसके काका गुरु बनोगे। यदि दूसरे साधु का शिष्य बनेगा तो उससे तुम्हें क्या मिलेगा?

सुख विजय—वाह, मुनि वाह! तुम्हारी भी क्या खूबी है। इतनी समझदारी की बात कर अन्त में फिर स्वार्थ की बात ले आते हो। पर यह बात नहीं बनेगी। यदि उस श्रावक के छोकरे को मेरा शिष्य बनायें तो मैं मेहनत करूं और कुछ भी करके उसे वापस ढूंढ़ लाऊं।

सत्य विजय—सुख विजय तुम समझदार होकर ऐसी बात करते हो, यह ठीक नहीं। मैं और तुम एक ही गुरु के शिष्य हैं। फिर मैं दीक्षा में दो महीने बड़ा हूँ, जिससे तुम्हें मेरी इच्छा पूरी करनी चाहिये। फिर उसके मेरे शिष्य बनने पर तुम्हें जैसे लाभ होगा वैसे लाभ किसी अन्य साधु का शिष्य बनने पर नहीं मिलेगा।

सुख विजय—सत्य विजय! तुम किसी भी तरह से समझाओ, मैं समझने का नहीं। दूसरे का शिष्य बने तो क्या हो गया, पर तुम मुझे धोखा देकर उसे अपना शिष्य बनाओ, यह बात तो कभी होगी नहीं।

इस प्रकार वे दोनों मुनि बातचीत कर रहे थे तभी वह श्रावक का लड़का वहाँ आ गया। उसे देखते ही वे दोनों आश्चर्य में पड़ गये। इसमें भी सत्य विजय अधिक सुखी हुआ क्योंकि वह जानता था कि उस लड़के पर मेरा प्रभाव अधिक है इसलिये वह मेरा शिष्य बनना स्वीकार करेगा।

लड़के को देखते ही सत्य विजय खड़े हो गये और हप से बुलाकर उसे अपने पास बिठाया व उसके मुंह पर हाथ फिराने लगे। उस वक्त सुख विजय ने आकर लड़के का हाथ पकड़ा और अपनी तरफ खींचने लगा। लड़का उनके पास जाने लगा तो सत्य विजय ने उसका हाथ खींचा। इस खींचातान में लड़का घबराया। वह बोला "महाराज! मेरे शरीर में दर्द होता है, आप इस तरह मुझे क्यों खींच रहे हैं? यदि आप ऐसा करेंगे तो मैं दीक्षा नहीं लूंगा।" सत्य विजय ने जोर से कहा, "भाई, तेरी इच्छा किसके पास जाने की है?" सुख विजय ने कहा, "भाई तू विचार कर कहना, तेरे ऊपर किसका उपकार है? तुझे पहले मदद करने वाला कौन है?" लड़के ने कहा, "मुझ पर प्रथम उपकार तो सुख विजय महाराज का ही है?" सत्य विजय ने जरा आवेश से कहा, "अरे मूर्ख! क्या मेरा उपकार भूल गया? मैंने तुझे कितनी बार बढ़िया कपड़े और

सत्य विजय—साधु होकर आप झूठ क्यों बोलते हैं, उसे पहले मैंने उपदेश दिया था।

सुख विजय—मैं झूठ नहीं बोलता, तुम ही झूठ बोल रहे हो। जरा मन में सोच कर देखो।

सत्य विजय—इसमें सोचना क्या है, मैं जो कह रहा हूँ, उसमें जरा भी झूठ नहीं है।

सुख विजय—सत्य विजय, इस बात का निश्चय करने के बाद ही मुझे रास्ता दिखाई देगा। तुम स्वयं अपना स्वार्थ साधन करने के लिये तत्पर हो रहे हो, पर जरा भी विचार नहीं करते कि जिसने मेहनत की और मेहनत कर रहा है, उसे उसका लाभ मिलना चाहिये।

सत्य विजय—अरे सुख विजय! इस समय इस प्रकार की बाधा उत्पन्न करने का अवसर नहीं है। यदि हम वाद-विवाद में समय नष्ट करेंगे तो यह छोकरा हमारे हाथ से निकल जायेगा और अपन दोनों लटकते रह जायेंगे।

सुख विजय—यह तो और भी अच्छा क्योंकि दो की लड़ाई में तीसरा फायदा उठाता ही है।

सत्य विजय—भाई सुख विजय! मन में सोचो। तीसरा फायदा उठायेगा इसमें तुम्हें क्या मिलेगा। मुझे शिष्य का लाभ मिलेगा तो उसमें तुम्हें भी फायदा है क्योंकि अपन एक ही गुरु के शिष्य गुरु भाई हैं। यदि वह छोकरा मेरा शिष्य बनेगा तो तुम उसके काका गुरु बनोगे। यदि दूसरे साधु का शिष्य बनेगा तो उससे तुम्हें क्या मिलेगा?

सुख विजय—वाह, मुनि वाह! तुम्हारी भी क्या खूबी है। इतनी समझदारी की बात कर अन्त में फिर स्वार्थ की बात ले आते हो। पर यह बात नहीं बनेगी। यदि उस श्रावक के छोकरे को मेरा शिष्य बनायें तो मैं मेहनत करूं और कुछ भी करके उसे वापस ढूंढ़ लाऊं।

सत्य विजय—सुख विजय तुम समझदार होकर ऐसी बात करते हो, यह ठीक नहीं। मैं और तुम एक ही गुरु के शिष्य हैं। फिर मैं दीक्षा में दो महीने बड़ा हूँ, जिससे तुम्हें मेरी इच्छा पूरी करनी चाहिये। फिर उसके मेरे शिष्य बनने पर तुम्हें जैसे लाभ होगा वैसे लाभ किसी अन्य साधु का शिष्य बनने पर नहीं मिलेगा।

सुख विजय—सत्य विजय ! तुम किसी भी तरह से समझाओ, मैं समझने का नहीं। दूसरे का शिष्य बने तो क्या हो गया, पर तुम मुझे धोखा देकर उसे अपना शिष्य बनाओ, यह बात तो कभी होगी नहीं।

इस प्रकार वे दोनों मुनि बातचीत कर रहे थे तभी वह श्रावक का लड़का वहाँ आ गया। उसे देखते ही वे दोनों आश्चर्य में पड़ गये। इसमें भी सत्य विजय अधिक सुखी हुआ क्योंकि वह जानता था कि उस लड़के पर मेरा प्रभाव अधिक है इसलिये वह मेरा शिष्य बनना स्वीकार करेगा।

लड़के को देखते ही सत्य विजय खड़े हो गये और हप से बुलाकर उसे अपने पास बिठाया व उसके मुंह पर हाथ फिराने लगे। उस वक्त सुख विजय ने आकर लड़के का हाथ पकड़ा और अपनी तरफ खींचने लगा। लड़का उनके पास जाने लगा तो सत्य विजय ने उसका हाथ खींचा। इस खींचातान में लड़का घबराया। वह बोला "महाराज ! मेरे शरीर में दर्द होता है, आप इस तरह मुझे क्यों खींच रहे हैं ? यदि आप ऐसा करेंगे तो मैं दीक्षा नहीं लूंगा।" सत्य विजय ने जोर से कहा, "भाई, तेरी इच्छा किसके पास जाने की है ?" सुख विजय ने कहा, "भाई तू विचार कर कहना, तेरे ऊपर किसका उपकार है ? तुझे पहले मदद करने वाला कौन है ?" लड़के ने कहा, "मुझ पर प्रथम उपकार तो सुख विजय महाराज का ही है ?" सत्य विजय ने जरा आवेश से कहा, "अरे मूर्ख ! क्या मेरा उपकार भूल गया ? मैंने तुझे कितनी बार बढ़िया कपड़े और

चकाचक भोजन दिलवाया है, वह सब भूल गया ? क्या तुझे याद है कि एक बार एक श्रावक से तुझ खर्चने के लिये दस रुपये दिलवाये ? एक माह पहले एक प्रेमबाई श्राविका से पांच रुपये दिलवाये थे? तू कैसे भूल गया ?' लड़के ने कहा, "हां यह बात सच्ची है पर मुझे ज्ञान देने वाले तो सुख विजय महाराज ही हैं। लड़के के मुख से ऐसे शब्द सुनकर सुख विजय जोश मे आ गये और वे छोकरे को अपनी तरफ खीचने लगे । उस वक्त सत्य विजय ने आवेश से कहा, "सुख विजय! क्यों अन्याय करते हो? छोकरा हैरान हो रहा है । यदि कोई श्रावक या श्राविका आ जायेगे तो अपना फजीता होगा । छोकरे का हाथ छोड़ दो । इस छोकरे पर मेरा विशेष हक है क्योकि मैंने इसे द्रव्य और वस्त्र की मदद की है । इस प्रकार विशेष खींचातान को देख-कर लड़का रोने लगा और जोर-जोर से चिल्लाने लगा ।

अदृश्य रहकर दीक्षाकुमारी यह सब देख रही थी । संसारी को पुत्र की जैसी तृष्णा होती है वैसी साधुओं को शिष्य के लिये होती देख महादेवी को बहुत आश्चर्य हुआ । उस दयालु देवी ने सोचा कि यदि मैं इस समय प्रत्यक्ष नहीं होऊंगी तो यह श्रावक पुत्र विशेष दुःखी होगा । ऐसा सोचकर दीक्षाकुमारी ने निम्न गाथा का उच्चारण किया—

"जे आवि चंडे मइइढ्ढिगारवे,
पिसुणे नरे साहसहीण पेसणे ।

अदिट्ठ धम्मे विणए अकोविए,
असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ।।

"जो मनुष्य चारित्र ग्रहण करने के बाद भी क्रोधी रहे, बुद्धि के अहंकार में मग्न रहे, अकृत्य करने का साहस करे, आसक्त हो, गुरु की आज्ञा में न रहे, चारित्र धर्म के अनुसार प्रवृत्ति न करे, अविनीत रहे और जो वस्तु मिले उसे दूसरे साधु को न देकर स्वयं ही हड़प कर जाय, ऐसे मुनि को कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता ।"

इस गाथा को सुनकर दोनों मुनि चकित हुए। तुरन्त ही उस श्रावक के लड़के को छोड़कर यह देखने लगे कि यह आवाज कहां से आई है। क्षण भर जब कोई दिखाई नहीं दिया तब उपाश्रय के आसपास देखने लगे। उस समय सत्य विजय ने डरकर सुख विजय से पूछा, "यह आवाज कहां से आ रही है? यह गाथा तुम्हें समझ में आई?" सुख विजय ने कहा कोई व्यक्ति दिखाई तो नहीं देता। यह गाथा किस सूत्र की है यह भी बराबर ध्यान नहीं आता। अनुमान से लगता है कि यह 'दशवैकालिक' सूत्र की होनी चाहिये क्योंकि बहुत वर्ष पहले मैंने इस सूत्र को एक बार पढ़ा था।"

इस प्रकार दोनों मुनि सोच रहे थे, इतने में ही दीक्षा-कुमारी उनके समक्ष प्रत्यक्ष होकर खड़ी हो गई। उस दिव्य मूर्ति को देखकर दोनों मुनि और वह बालक चकित हो गये। सबने मिलकर महादेवी को प्रणाम किया। महादेवी ने आवेश से कहा, "मुनियो! तुम्हारे नाटक को देखकर मुझे बहुत अफसोस हो रहा है। तुम साधु बनकर भी संसारियों के जैसी चेष्टा करते हो। तुम्हारे जैसे तृष्णा युक्त पुरुष क्यों दीक्षा लेते हैं? तुम्हें शिष्य बनाने की तृष्णा ऐसी क्यों रखनी चाहिये? शिष्यों की क्या आवश्यकता है? शिष्य बिना तुम्हारे संघाड़े का विनाश नहीं होगा। पृथ्वी पर अनेक साधु होते ही रहते हैं। वीरप्रभु के वंश का उच्छेद वर्तमान काल में तो नहीं होगा। जब तक आर्हत् धर्म का प्रभाव प्रवर्तित है, तब तक ज्ञात पुत्र का परिवार तो चलता ही रहेगा।

हे मुनियो! आप एक मूर्ख संसारी की भांति चेष्टा कर इस मुग्ध बालक को क्यों दुःख दे रहे हैं। उसकी उम्र, बुद्धि और गुण तो देखो। ऐसा छोटा बालक चारित्र में क्या समझेगा? साधुओं को कैसा विनय रखना चाहिये, कैसा परिषह सहन करना चाहिये और किस प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिये, ये सब बातें यह मुग्ध बालक कहां से जानता होगा? ऐसे अज्ञ बालक को दीक्षा देना योग्य नहीं। ज्ञानी

तथा विद्वान् मुनि को पूर्ण अधिकारी पुरुष को ही दीक्षा देनी चाहिये। इसमें भी उस व्यक्ति में विनय कितनी है, यह सबसे पहले देखना चाहिये। जो पुरुष संसार से विरक्त और विनय का अधिकारी हो, उसे ही दीक्षा देनी चाहिये। यह मुग्ध श्रावक पुत्र तो यह भी नहीं जानता होगा कि चारित्र किसे कहते हैं? इसके मन में तो बालक बुद्धि के कारण साधु बनने का उत्साह होगा। यह तो समझता होगा कि बस साधु का वेष धारण किया और साधु बन गये। ऐसे अल्प बुद्धि श्रावक पुत्र को दीक्षा देना तो अत्यन्त ही धर्म विरुद्ध कार्य है। ऐसे अनाचार के प्रवर्तन से ही वर्तमान काल में साधुओं की अवनति हो रही है। आजकल जो नये मुनि हो रहे हैं उनमें से अग्र पक्ति में गिनने योग्य मुनि बहुत थोड़े हैं, इसका कारण अधिकारी को देखे बिना दी गई दीक्षा ही मुख्य है।"

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर दोनों मुनि ने हाथ जोड़ कर कहा, "महादेवी! क्षमा करें, हम तो आपके बालक हैं। हमारे उद्धार के लिये कुछ उपदेश दीजिये।"

दीक्षाकुमारी — वर्तमान प्रसंग को देखते हुए मैं तुम्हें नौवें 'विनय समाधि' अध्ययन के दूसरे उद्देश्य का उपदेश दे रही हूं। ध्यान् पूर्वक सुनो। पहले उद्देश्य में विनय समाधि का विवेचन किया गया है और दूसरे उद्देश्य में विनय का अधिकारी कौन है, यह बताया गया है। इस विषय में जो कुछ भी कहा गया है। वह तुम्हारे जानने योग्य है, क्योंकि तुम इस बालक को आग्रह पूर्वक दीक्षा देने के लिये तत्पर हुए हो, पर यह बालक विनय का अधिकारी है या नहीं, इस पर तुम्हें विचार करना चाहिये। जब तक विनय गुण की प्राप्ति नहीं हुई हो तब तक कोई भी पुरुष चारित्र का अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि जैन धर्म ही विनय प्रधान है। फिर तुम दोनों गुरु-भाई हो, तुममें एक बड़ा और एक छोटा शिष्य है, तब लघु शिष्य को बड़े गुरु-भाई की विनय करना चाहिये। तुम्हें इस प्रकार आपस में शिष्य बनाने की खींचातान नहीं करनी चाहिये।

यद्यपि यह बालक तो दीक्षा देने के योग्य ही नहीं है, पर यदि कोई चारित्र देने के योग्य हो तो भी दीक्षा बड़े के पास ही होनी चाहिये। यदि बड़े की इच्छा हो तो वह छोटे शिष्य के नाम से दीक्षा दे सकता है। ऐसी गुरु मर्यादा का त्याग कर, खेंचातान कर तुमने इस बालक को रुलाया और दुःखी किया, यह बहुत ही अनुचित कार्य किया है। इससे सिद्ध होता है कि तुम में भी विनय की बहुत कमी है। अतः मैं तुम्हें विनय समाधि के दूसरे उद्देश्य का उपदेश दे रही हूं जिसे ध्यान पूर्वक सुनो।

दोनों मुनि—"महादेवी! आपका कथन सत्य है, हम अपनी भूल मंजूर करते हैं। हमारे में चारित्र गुण की बड़ी कमी है, अतः आप कृपा कर हमें उपदेश दीजिये।"

दीक्षाकुमारी ने कहा, मुनियों मैंने अदृश्य रहकर जो गाथा कही थी उसे तुमने सुना था। इस विषय में तुम्हें बहुत गहरा विचार करना है। मुनि को कभी भी क्रोध नहीं रखना चाहिए। क्रोधी और बुद्धि को मंद रखने वाला मुनि चारित्र को दूषित करता है। वैसे ही मुनि को किसी की निंदा व चुगली नहीं करनी चाहिये। किसी साधु ने कभी प्रमादवश कोई भूल की हो तो उसके बारे में गुरु के समक्ष चुगली नहीं करनी चाहिये। अकार्य करने में आसक्त नहीं होना चाहिये। तुमने इस श्रावक पुत्र को खींचना शुरु किया यह तुम्हारा अकार्य था। ऐसा अकृत्य तुम्हें कभी भी नहीं करना चाहिये। जो साधु गुरु की आज्ञा में न रहे, वह अपना चारित्र दूषित करता है, अतः जहाँ तक प्रौढ़ता प्राप्त न हो तब तक साधु को गुरु के पास ही रहना चाहिये और गुरु की आज्ञानुसार प्रवर्तन करना चाहिये। तुम दोनों युवा साधु बिना गुरु अकेले रहते हो इसी से अविनीत बन गये हो। इस बालक पर शिष्य बनाने की ममता से तुमने एक दूसरे की मर्यादा तोड़ी है इसका कारण मात्र गुरु के सामीप्य का अभाव है। तुम्हें गुरु के सामीप्य की आवश्यकता है। तुम अभी स्वतन्त्र रहने के

योग्य नहीं हुए हो। हे मुनियो ! तुम्हारी जैसी प्रवृत्ति करने वाले मुनियों को चारित्र का फल कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यह सब सोचकर तुम्हें अपने प्रवर्तन में सुधार करना चाहिये।

हे मुनियो ! सुनो, 'दशवैकालिक' सूत्र के विनय समाधि अध्ययन के दूसरे उद्देश्य में महोपकारी शय्यंभव सूरि ने निम्नानुसार कहा है :—

"मूलाउखंधप्प भवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुविंति साहा।
साहाप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओसि पुप्फं च फलं रसोअ ।।1।।

एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मुक्खो।
जेण किंत्ति सुअं सिन्धं, नीसेसं चाभिगच्छइ ।।2।।

"जैसे वृक्ष की जड़ में से तना निकलता है, तने में से शाखा निकलती है, शाखा से प्रशाखा निकलती है, प्रशाखा से पत्ते निकलते हैं, पत्तों से पुष्प, पुष्प से फल और फल से रस बनता है, उसी तरह धर्म रूपी कल्पवृक्ष का मूल विनय है। देवलोक की प्राप्ति तथा अच्छे कुल में उत्पत्ति आदि तो उसका तना शाखा-प्रशाखा आदि हैं। अतः विनय रूप मूल में से ही पत्र रूपी कीर्ति और पुष्प रूपी श्रुत उत्पन्न होता है। उसके बाद विनय मूल वाले धर्म रूपी कल्पवृक्ष के फल का प्रधान रस मोक्ष प्राप्त होता है।"

हे मुनियो ! इस गाथा के अर्थ पर विचार कर तुम धर्म के मूल इस विनय का सेवन करो। इससे तुम्हारा चरित्र देदीप्यमान होगा और तुम स्वर्ग और मोक्ष के अधिकारी बनोगे। हे अल्पमति मुनियो ! यदि तुम अविनय रखोगे तो इस संसार के प्रवाह में नदी की धारा में पड़े लकड़ी के टुकड़े की तरह बहते रहोगे। तुम गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म दोनों से भ्रष्ट बनोगे। हे मुनियो ! प्रथम तुम्हें सोचना है कि कैसे-कैसे दोषों से मनुष्य अविनय करता है। अविनय करने वाले

में कैसे दोष पैदा होते हैं, इस विषय में आचार्य शय्यंभव सूरि ने निम्न गाथा कही है—

"जेअ चंडे मिए थद्धे, उव्वाइ नियडी सढ़े।
बुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सो अगयं जहा ।।"

"जो क्रोधी, मूर्ख, जाति आदि का घमंड करने वाला, अप्रिय भाषी, कपटी, और ठग हो और इन दोषों से अविनय करता हो, वह जल प्रवाह में लकड़ी की भांति इस संसार के प्रवाह में बहता है।"

मुनियो ! अविनय से ऐसे अनेक अनर्थ होते हैं। अविनीत पुरुष इस लोक और परलोक में भ्रष्ट होता है। यदि किसी पुरुप को विनय क लिये कुछ कहें और वह क्रोध करे तो वह पुरुप स्वयं आई हुई दिव्य लक्ष्मी को लकड़ी मारकर पीछे भगा देना है अर्थात् अविनीत पुरुष के पास लक्ष्मी नहीं आती। अत: प्रत्येक मुनि और गृहस्थ को भी संपत्ति के मूल विनय को अपनाना चाहिये। विनय करने से सव प्रकार की संपत्ति प्राप्त होती है।

यदि तिर्यंच अविनीत हो तो वह राजा के अधिकारियों का वाहन अश्व वन कर दु:ख भोगता है पर यदि वह विनीत हो तो राजा का वाहन वनकर राज वैभव के भोजन और अलंकार प्राप्त करता है। जब तिर्यंच भी विनय का फल प्राप्त करता है तव मनुष्य तो उसे प्राप्त करे इसमें आश्चर्य ही क्या ? इस संसार में जो स्त्री-पुरुष अविनीत होते हैं, वे दु:खी होते हैं, उन्हें कोड़े खाने पड़ते हैं परस्त्री के साथ व्यभिचार सेवन करने वाले अविनीत पुरुष के तो नाक-कान तक काट लिये जाते हैं, उन पर डंडे पड़ते हैं। वक्त पर उन्हें तलवार से घायल भी कर देते हैं। दूसरे लोग उसे असभ्य वचन बोलकर दु:खी करते हैं। उन्हें जेल में परतंत्र होकर रहना पड़ता है और कई वार भूख-प्यास भी सहन करनी पड़ती है। अत: प्रत्येक स्त्री-पुरुष को विनय धारण करना चाहिये। विनय

को धारण करने वाले स्त्री-पुरुष इस लोक में समृद्धि प्राप्त कर महान् यश को प्राप्त करते हैं और इस लोक व परलोक की सफलता प्राप्त करते हैं। वैमानिक, ज्योतिष्क, यक्ष, व्यंतर, गुह्यक और भवनवासी आदि देव भी यदि अविनय करे तो उन्हें दूसरों का दास बनकर रहना पड़ता है और दूसरे देवताओं की समृद्धि को देखकर कुढ़ना पड़ता है यदि वे देव विनय धारण करें और निरतिचार धर्म के आराधक बनें तो वे महाकल्याणक आदि में समृद्धि प्राप्त कर सुखी होते हैं। लोकोत्तर विनय में भी बहुत उत्तम फल की प्राप्ति होती है। जो आचार्य और उपाध्याय के वचनों का पालन करते हैं, उन्हें जल सिंचित वृक्ष की भाँति ग्रहण की हुई शिक्षा की वृद्धि होती है।

हे मुनियो ! इस प्रकार विनय के बारे में इस महासूत्र में बहुत लिखा है। उसमें यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति यह सोचकर कि विनय का व्यवहार करने से मेरी आजीविका अच्छी चलेगी या कोई कारीगरी सीखने की इच्छा से भी विनय करे तो उससे इस लोक के कार्य सिद्ध होते हैं, तब परलोक के लिये किये गये विनय से फल की प्राप्ति क्यों नहीं होगी ? कई मनुष्य स्वार्थ के लिये अपने शिक्षक का सत्कार करते हैं, उसे नमस्कार करते हैं और उसकी स्तुति करते हैं वे भी अपने कार्य को सिद्ध कर लेते हैं। इस पर से यह निष्कर्ष निकला कि शास्त्र सीखने वाले और मोक्ष की इच्छा वाले साधु को विनयपूर्वक गुरु की पूजा करनी चाहिये और उनकी आज्ञा माननी चाहिये। इसमें कोई दूसरी राय नहीं है। इस विषय में शय्यंभव सूरि निम्न गाथा लिखते हैं—

"किं पुणं जे सुअग्गाहो, अणंत हिअकामए।
आयरिया जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाइ वत्तए॥"

"श्रुतग्राही और मोक्षाभिलाषी साधु को गुरु की पूजा करनी चाहिये और उनकी आज्ञा माननी चाहिये, उनके वचनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये।"

उस साधु को गुरु का विनय किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय पर इस महासूत्र में निम्न गाथा वर्णित है—

"नीअं सिज्जं गइ ठाणं, नीअं च आसणाणि अ।
नीअं च पाए वंदिज्जा, नीअं कुज्जा अ अंजलिं ॥"

"गुरु की शय्या से नीचे अपनी शय्या करे, गुरु के बैठने के स्थान से नीचा बैठे, गुरु के आसन से अपना आसन नीचे रखे, हमेशा गुरु के चरणों में वंदना करे और शरीर को झुकाकर हाथ जोड़कर खड़ा रहे।"

हे मुनियो! अपने हृदय में इस विनय को स्थापित करें, उसके अनुसार प्रवर्तन करें और अपने शिष्यों मे भी ऐसा ही करवावें। इस प्रकार के व्यवहार से तुम्हारे चारित्र के गुण प्रकाशित होंगे। तुम दोनों गुरुभ्राता हो जिसमें एक बड़े और दूसरे छोटे हो, फिर भी तुम दोनों में किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रही, इसका क्या कारण है; इसका तुम स्वयं ही विचार करो। जब तुम इस बारे में दीर्घ दृष्टि से विचार करोगे, तब तुम्हें मालूम होगा कि तुममें विनय की कमी है, विनय के उपाय तुम नहीं जानते। लघु मुनि को बड़े मुनि की बहुत मर्यादा रखनी होती है। जिस प्रकार शरीर का विनय रखना चाहिये उसी प्रकार वचन का विनय रखना भी आवश्यक है। यदि तुम्हारे शरीर से या पात्र आदि की उपाधि से अज्ञात में भी गुरु को लग जाय तो तुम्हें उनसे क्षमा मांगनी चाहिये। इस विषय में महासूत्र में निम्न गाथा कही गई है—

"संघट्टा काएणं, तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणोत्ति अ ॥"

"शरीर या उपकरण से गुरु को टक्कर लग जाये तब शिष्य कहे कि मेरा अपराध क्षमा करें, भविष्य में मेरे से ऐसी गलती दुबारा नहीं होगी।"

को धारण करने वाले स्त्री-पुरुष इस लोक में समृद्धि प्राप्त कर महान् यश को प्राप्त करते हैं और इस लोक व परलोक की सफलता प्राप्त करते हैं। वैमानिक, ज्योतिष्क, यक्ष, व्यंतर, गुह्यक और भवनवासी आदि देव भी यदि अविनय करें तो उन्हें दूसरों का दास बनकर रहना पड़ता है और दूसरे देवताओं की समृद्धि को देखकर कुढ़ना पड़ता है यदि वे देव विनय धारण करें और निरतिचार धर्म के आराधक बनें तो वे महाकल्याणक आदि में समृद्धि प्राप्त कर सुखी होते हैं। लोकोत्तर विनय में भी बहुत उत्तम फल की प्राप्ति होती है। जो आचार्य और उपाध्याय के वचनों का पालन करते हैं, उन्हें जल सिंचित वृक्ष की भाँति ग्रहण की हुई शिक्षा की वृद्धि होती है।

हे मुनियो! इस प्रकार विनय के बारे में इस महासूत्र में बहुत लिखा है। उसमें यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति यह सोचकर कि विनय का व्यवहार करने से मेरी आजीविका अच्छी चलेगी या कोई कारीगरी सीखने की इच्छा से भी विनय करे तो उससे इस लोक के कार्य सिद्ध होते हैं, तब परलोक के लिये किये गये विनय से फल की प्राप्ति क्यों नहीं होगी? कई मनुष्य स्वार्थ के लिये अपने शिक्षक का सत्कार करते हैं, उसे नमस्कार करते हैं और उसकी स्तुति करते हैं वे भी अपने कार्य को सिद्ध कर लेते हैं। इस पर से यह निष्कर्ष निकला कि शास्त्र सीखने वाले और मोक्ष की इच्छा वाले साधु को विनयपूर्वक गुरु की पूजा करनी चाहिये और उनकी आज्ञा माननी चाहिये। इसमें कोई दूसरी राय नहीं है। इस विषय में शय्यंभव सूरि निम्न गाथा लिखते हैं—

"किं पुणं जे सुअग्गाही, अणंत हिअकामए।
आयरिया जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाइ वत्तऐ॥"

"श्रुतग्राही और मोक्षाभिलाषी साधु को गुरु की पूजा करनी चाहिये और उनकी आज्ञा माननी चाहिये, उनके वचनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये।"

उस साधु को गुरु का विनय किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय पर इस महासूत्र में निम्न गाथा वर्णित है—

"नीअं सिज्जं गइ ठाणं, नीअं च आसणाणि अ ।
नीअं च पाए वंदिज्जा, नीअं कुज्जा अ अजलिं ।।"

"गुरु की शय्या से नीचे अपनी शय्या करे, गुरु के बैठने के स्थान से नीचा बैठे, गुरु के आसन से अपना आसन नीचे रखे, हमेशा गुरु के चरणों में वंदना करे और शरीर को झुकाकर हाथ जोड़कर खड़ा रहे ।"

हे मुनियो ! अपने हृदय में इस विनय को स्थापित करें, उसके अनुसार प्रवंतन करें और अपने शिष्यों मे भी ऐसा ही करवावें । इस प्रकार के व्यवहार से तुम्हारे चारित्र के गुण प्रकाशित होंगे । तुम दोनों गुरुभ्राता हो जिसमें एक बड़े और दूसरे छोटे हो, फिर भी तुम दोनों में किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रही, इसका क्या कारण है; इसका तुम स्वयं ही विचार करो । जब तुम इस बारे में दीर्घ दृष्टि से विचार करोगे, तब तुम्हें मालूम होगा कि तुममें विनय की कमी है, विनय के उपाय तुम नहीं जानते । लघु मुनि को बड़े मुनि की बहुत मर्यादा रखनी होती है । जिस प्रकार शरीर का विनय रखना चाहिये उसी प्रकार वचन का विनय रखना भी आवश्यक है । यदि तुम्हारे शरीर से या पात्र आदि की उपाधि से अज्ञात में भी गुरु को लग जाय तो तुम्हें उनसे क्षमा मांगनी चाहिये । इस विषय में महासूत्र में निम्न गाथा कही गई है—

"संघट्टा काएणं, तहा उवहिणामवि ।
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणेत्ति अ ।।"

"शरीर या उपकरण से गुरु को टक्कर लग जाये तब शिष्य कहे कि मेरा अपराध क्षमा करें, भविष्य में मेरे से ऐसी गलती दुबारा नहीं होगी ।"

हे मुनियो ! इस गाथा पर विचार करें। सिर्फ भूल से भी शिष्य द्वारा गुरु का थोड़ा अविनय (संघट्टा) हो गया हो तो उसके लिये लघु शिष्य अपने से बड़े गुरु या गुरु भाई से क्षमा मांगता है और दुबारा ऐसी गलती नहीं करेगा, ऐसी प्रतिज्ञा करता है। कहाँ तुम एक बड़े और एक छोटे होकर भी एक बालक को शिष्य बनाने के लोभ से एक दूसरे के साथ खींचा-तान कर रहे हो, यह कितनी शर्म की बात है? जैन मुनि के बारे में ऐसी बात करने पर भी लज्जा आती है, पर तुम्हें प्रत्यक्ष ऐसा व्यवहार करने में भी लज्जा नहीं आती, यह कितनी आश्चर्य की बात है ?

हे मुनियो ! इसी प्रकार तुम्हें वचन से भी विनय करना चाहिये। जो उत्तम मुनि होता है वह तो बिना गुरु के कहे भी अपने आप विनय का आचरण करता है, पर जो दुर्बुद्धि शिष्य होता है वह बैल की तरह लकड़ी मार से ही रथ खींचता है यानी गुरु के कहने पर ही गुरु का कार्य करता है। अतः हमेशा उत्तम मुनि की तरह प्रवर्तन करना चाहिये। देशकाल के अनुसार स्वयं ही गुरु का विनय करना चाहिये जिससे शिष्य अपने यथार्थ धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला कहलाता है।

हे मुनियो ! फिर इस महासूत्र में बताया गया है कि अविनीत पुरुष के गुणों का नाश होता है और विनीत पुरुष के ज्ञानादि गुणों की संपत्ति की वृद्धि होती है। अतः विनय और अविनय के बारे में जिसे जानकारी होती है, उसे इस बात की भी जानकारी हो जाती है कि क्या ग्रहण करे और किसका त्याग करे ? ऐसे ही भावार्थ की निम्न गाथा है—

"विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणीअस्स य।
जस्सेय दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥"

"अविनीत के गुणों का नाश होता है और विनीत के गुणों

की संपत्ति प्राप्त होती है, ऐसा दोनों प्रकार का जिसे ज्ञान है, वह शिक्षा को प्राप्त होता है।"

हे मुनियो ! इस प्रकार विनय गुण का माहात्म्य इस महासूत्र में वर्णित है। ऐसे विनय गुणों को धारण करने वाला मुनि कैसे महाफल को प्राप्त करता है, इस विषय पर निम्न गाथा लिखकर शय्यंभव सूरि ने 'विनय समाधि' नामक नौवें अध्ययन के दूसरे उद्देश्य को समाप्त किया है—

"निद्देसवित्ति पुण जे गुरुणं,
सुअत्थधम्मा विणयंमि को विआ।
तरित्तु ते ओघमिणं दुरुत्तरं खवित्तु
कम्मं गइमुत्तमं गया त्तिवेमि ॥"

"जो गुरु की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाले, गीतार्थ और विनय में निपुण हैं, वे इस दुस्तर संसार-समुद्र को तैर कर सब कर्मों का क्षय कर, उत्तम सिद्धि गति को प्राप्त होते हैं।"

हे मुनियो ! इस गाथा के अर्थ का विचार कर तुम्हें विनय गुण की साधना का प्रयत्न करना चाहिये। जब तक तुम विनय गुण को धारण नहीं करोगे, तब तक तुम अपने यथार्थ मुनि धर्म को प्राप्त नहीं कर सकोगे। यदि तुममें विनय गुण होगा तभी तुम चारित्र धर्म का संपादन कर, अपने मुनि जीवन को सार्थक कर सकोगे। यह बात तुम्हें अपने दिल में बैठा लेनी चाहिये।

इस प्रसंग पर मुझे तुमसे कहना है कि यह श्रावक पुत्र अभी बिलकुल ही चारित्र धर्म का अधिकारी नहीं हुआ है। विनय किसको कहते हैं, विनय से क्या-क्या लाभ है, विनय बिना कितना नुकसान है, इस विषय में वह कुछ भी नहीं समझता। ऐसे मुग्ध बालक को चारित्र देने को तत्पर होना, यह कितनी अज्ञान की बात है। पहले तो इस बालक को मुनि

धर्म की शिक्षा देनी चाहिये और चारित्र धारण कर मुनि कैसी प्रवृत्ति करते हैं, यह सब समझाना चाहिये। जब मुनि धर्म के स्वरूप और उसके माहात्म्य को समझ कर योग्य पुरुष अपने हृदय में इस संसार के प्रति पूर्ण वैराग्य धारण करे, तभी उसको दीक्षा देने का निश्चय करना चाहिये। फिर भी महाव्रतों को पालने में उसकी कैसी शक्ति है, कैसा मनोबल है आदि सभी बातों का विचार कर ही दीक्षा देनी चाहिये।

हे मुनियो ! मेरे इस उपदेश को ध्यान में रखकर अपनी प्रवृत्ति को सुधारें। अब मैं दूसरे स्थान पर जा रही हूं।

देवी के अदृश्य होने पर दोनों मुनियों ने कायोत्सर्ग का ध्यान कर अपने पापों की आलोचना की, फिर बालक को घर जाने के लिये कहा, "जाओ माता-पिता की आज्ञा लेकर अपने को अच्छा लगे वैसा करो, अभी तुम्हें दीक्षा देने की हमारी इच्छा नहीं है।"

बालक बोला—"महानुभाव ! महादेवी के उपदेश से मुझे वैराग्य हुआ है अतः आप दीक्षा दें।" मुनियों ने कहा, "माता-पिता की आज्ञा लेकर चारित्र धर्म का अधिकारी बनकर आना, फिर तुझमें विनय और संयम पालने के गुण होंगे तो देशकाल को देखकर दीक्षा देंगे।" मुनियों के वचन सुन बालक अपने घर गया और वे मुनि अपने चारित्र धर्म का यथार्थ रीति से पालन करने लगे।

प्रवास (11)

एक विशाल उपाश्रय में एक विद्वान् मुनि जन समुदाय के बीच भृकुटि चढ़ाकर क्रोधावेश में बैठे थे। उनके सामने दो जवान मुनि एक तरफ बैठे थे। संघ के आगेवान एक के बाद एक विचार प्रकट करने के लिये खड़े होते। काफी देर विचार विमर्श के बाद सत्यचन्द्र नामक एक संघ का आगेवान आया, तब उन विद्वान् मुनि ने क्रोधावेश से कहा, "कहो सेठजी, क्या विचार किया? तुमने वणिक विद्या का प्रयोग शुरु किया है, यह मेरी समझ में आ गया है। ऐसी वणिक विद्या हमारे पास नहीं चलेगी, क्योंकि हम भी बनियों में से साधु बने हैं, अतः तुम्हारी सब कलाएं हमें मालूम है। कहो, क्या विचार किया है? जो भी विचार हो उसे अभी ही प्रकट कर दो। फिर भी तुम्हारे से नहीं हो सकता हो तो स्पष्ट कह दो, जिससे हम तुरन्त यहाँ से विहार कर दें।"

मुख्य मुनि के उपर्युक्त वचन सुनकर सत्यचन्द्र ने कहा, 'महाराज! हम सब ने विचार किया है कि आपकी दो प्रकार की मांगें हैं जिसमें भी कई प्रकार की अड़चने आ रही हैं।

"महाराज! आपने कहा कि साधु को साधारण पढ़ाई करनी हो तो भी बड़ी वेतन वाले शास्त्री रखने चाहिये, यह तो बिल्कुल गैर वाजिब बात है। विद्वान् साधु को अपने शिष्य को अन्य किसी भी योग्य साधु से या स्वयं ही पढ़ाना चाहिये। पढ़ाना तो उत्तम मुनि धर्म है। फिर दूसरों को पढ़ाने से अपने ज्ञान में भी वृद्धि होती है।

"दूसरे विषय में आपने कहा कि पूर्व कर्म के फलस्वरूप दुखी होते हुए संसारी श्रावकों की सहायता करने की आव-

श्यकता नहीं है और इसके बजाय पावागढ़ आदि की रचना में द्रव्य खर्च करना अधिक लाभदायक है। इस विषय में बहुत गहन विचार करने की आवश्यकता है। यदि श्रावक कमजोर स्थिति में होंगे तो पावागढ़ की रचना कौन देखेगा। प्रत्येक उत्सव की शोभा श्रावक समुदाय से होती है। जब यह समुदाय सर्व प्रकार से सुखी हो तभी वे उत्सवों में भाग लेते हैं।"

सत्यचन्द्र के उपर्युक्त वचन सुनकर उस विद्वान् मुनि को और क्रोध चढ़ गया और वे क्रोधावेश में गर्जन कर बैठे, "अरे मूर्ख सेठ ! यहाँ से चले जाओ। यह सब अकार्य करने वाला तू खुद ही है। तेरे जैसे मनुष्य को तो संघ से दूर करना चाहिये।" इस प्रकार कितने ही दुर्वचन उस मुनि के मुँह से निकल गये।

उस वक्त पवित्र दीक्षाकुमारी अदृश्य रह कर यह सब देख रही थी और सुन रही थी। मुनि के मुँह से ऐसे अयोग्य वचन निकलते देख, उसने नीचे की गाथा बोली—

"तहेव डहरं च महल्लगंवा, इत्थो पुमं पव्वइअं गिहिं वा।
नो हीलए नो विअखिसइज्जा, थंभं च कोंह च चए स पुज्जो॥"

दीक्षाकुमारी ने इस गाथा का अर्थ निम्न प्रकार से किया—

"जो मुनि अपने से छोटे-बड़े या समान वय के पुरुष या स्त्री की, साधु अथवा गृहस्थ की निंदा-अपमान एक बार भी न करे और अहंकार तथा क्रोध का त्याग करे, वह मुनि पूजा करने योग्य है।"

इस गाथा का अर्थ कितना उत्तम है। इस पर से मुनियों को समझना चाहिये कि किसी भी मनुष्य का अपमान करना मुनि धर्म के विरुद्ध है। इस गाथा की अवचूलिका में यहाँ तक लिखा है कि मूल गाथा में 'वा' शब्द है जिसका अर्थ यह है कि अन्य धर्मों व अन्य मतों के मानने वालों की भी निंदा नहीं करनी चाहिये। सूत्रकार ऐसा उपदेश दे रहे हैं फिर भी तुम्हारे

जैसे विद्वान् मुनि संघ के बीच में संघ के नेताओं का अपमान करे और मुँह से अपशब्द बोले, यह कैसा अधर्म है ?

'दशवैकालिक सूत्र' के 'विनय समाधि' नामक नौवें अध्ययन का तीसरा उद्देश्य बहुत ही उपयोगी है। विनयवान मुनि किस प्रकार पूज्य होते हैं, इस बात का इसमें भली प्रकार विवेचन किया गया है, जो सुनने योग्य है, सुनो—

प्रथम तो मुनि को, अग्नि का ताप करने वाला ब्राह्मण जैसे हमेशा सचेत रहता है, उसी भांति गुरु के कार्य को करने के लिये सर्वदा जागृत रहना चाहिये। एकनिष्ठ होकर उनकी सेवा करनी चाहिये। अपने गुरु की दृष्टि से अथवा शरीर की चेष्टा से उनकी इच्छा को समझ कर तदनुसार उनकी सेवा-भक्ति करनी चाहिये। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाले मुनि को पूज्य कहना चाहिये। मेरे गुरु की क्या इच्छा है, इसका विचार कर ज्ञानादि आचार के निमित्त उनका विनय करना चाहिये। यदि गुरु कुछ भी वचन कहे तो निष्कपटता से उनकी आज्ञानुसार आचरण करना चाहिये। गुरु के वचन का अनादर कर उनकी आशातना नहीं करनी चाहिये। जो मुनि ज्ञानादि रत्नों से विभूषित हों, उनकी उम्र और शास्त्र ज्ञान की दृष्टि से बड़ा समझकर और यदि उम्र में छोटे होते हुए भी गुण की अधिकता हो तो, मुनि को उनका विनय करना चाहिये। सत्य वचन बोले, वंदन करने की शालीनता रखे, और गुरु की आज्ञा का पालन करने के लिये उनके पास में रहे। गुरु तथा अपने संयम के निर्वाह के लिये अपरिचित गृहस्थ के घर से आहार पानी लावे। कभी अन्न-जल पूरा न मिले या कभी बिल्कुल भी न मिले तो भी संतोष रखे, दुःख न करे। लाभ या हानि में हर्ष या दुःख न मनावे। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाले मुनि सर्व प्रकार से पूजनीय हैं।

हे मुनि ! इस महासूत्र में यहाँ तक लिखा है कि जैन मुनि इन्द्रियों की समता रखे। कान में कांटे की तरह तीक्ष्ण वचन

सुनकर भी मुनि उन्हें सहन कर ले। इस प्रकार सहन करने वाले मुनि पूजनीय हैं। हे मुनि! इस सत्यचन्द्र सेठ ने तुम्हें नीतिपूर्ण योग्य वचन कहे थे, फिर भी तुमने कांटे जैसे तीक्ष्ण अघटित शब्द सुनाये थे, यह कितना अनाचार है? शुद्ध मुनि को उन बातों पर विचार करना चाहिये। इस सत्यचन्द्र ने जो वचन कहे थे, वे ठीक थे क्योंकि साधुओं को साधारण अभ्यास के लिये बड़ी-बड़ी वेतन वाले शास्त्रियों को बुलाना श्रावक के घर के द्रव्य का दुरुपयोग करना है।

प्रथम तो अपने शिष्य को पढ़ाना यह विद्वान गुरु का स्वयं का कर्तव्य है। जब तक गुरु अभ्यास कराने में समर्थ हो, तब तक जैन मुनि को मिथ्यात्वी विद्वानों से अभ्यास करवाना बिल्कुल अनुचित है। ऐसे योग्य वचन सत्यचन्द्र सेठ के मुँह से निकलने पर भी तुमने उसके वचनों का भारी तिरस्कार किया, यह कैसी बात है? इसलिये सूत्रकार लिखते है कि जैन मुनि को हमेशा वचन रूपी काँटों को सहन करने का स्वभाव रखना चाहिये तीक्ष्ण वचनों के घाव को सहन करने वाले मुनि समताधारी और जितेन्द्रिय कहलाते हैं। इस विषय में महा-सूत्र में निम्न गाथा वर्णित है—

"समावयंता वयणाभिधाया, कन्नंगया दुम्मणिअं जणंति
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो॥

"कठोर वचनों के प्रहार कानों में पड़ने पर साधारण पुरुषों के मनोभावों को दुष्ट बना देते हैं, पर ऐसे वचनों के अभिघात को मुनि धर्म मान कर जो सहन करता है, ऐसा शुरवीर जितेन्द्रिय मुनि सर्वदा पूजनीय है।"

हे मुनियो! इस प्रसंग पर सूत्रकार विशेष रूप से लिखते हैं कि पवित्र मुनि को प्रत्यक्ष या परोक्ष, कभी किसी की निंदा नहीं करनी चाहिये। वैसे ही 'यह चोर है, यह बेकार है' ऐसी भाषा भी मुनि को नहीं बोलनी चाहिये। इस प्रकार से व्यवहार करने वाला मुनि सदा पूजनीय गिना जाता है।

वैसे ही जैन मुनि के लिये सर्वोतम आठ गुणों के बारे में भी उस सूत्र में वर्णन किया गया है। जो गुण वर्तमान काल में किसी-किसी मुनि मे ही देखने में आते हैं। जब तक मुनि में ये आठ गुण नहीं होते, तब तक मुनि चारित्र धर्म के योग्य नहीं गिना जाता। ये आठ गुण निम्न प्रकार से हैं—

1. अलुब्ध, 2. अकुहुक, 3. मायारहित, 4. अपिशुन, 5. अदीन वृत्ति, 6. अकुशल भावना को नहीं रखने वाला, 6. दूसरों के आगे अपने गुणों का वर्णन नहीं करने वाला और 8. अकौतुकी।

1. मुनि को हमेशा किसी में भी लुब्ध नहीं होना चाहिये। आजकल कई मुनि भांति-भांति के विषयों में लुब्ध होते हैं, जिससे उनके चारित्र दूषित होते हैं। कोई शिष्य लुब्ध, कोई द्रव्य लुब्ध, पदार्थ लुब्ध, आहार लुब्ध, राग लुब्ध और कोई मान लुब्ध मुनि दिखाई देते हैं। हे मुनि ! तुम खुद भी मान लुब्ध होकर पावागढ़ की रचना कराने को तैयार हुए थे। तुम्हारी मनोवृत्ति शुद्ध प्रभु भक्ति में न होकर उस बहाने से अपनी कीर्ति बढाने में थी। पावापुरी की रचना हो, विदेशी श्रावक एकत्रित हों, बड़ा उत्सव हो और हजारों लोग वन्दन करने आवें, यही तुम्हारा उद्देश्य था। ऐसे उद्देश्य को लेकर तुम श्रावक के द्रव्य का व्यय करने को तैयार हुऐ थे। हे मुनियो ! अब तुम अपने इन विचारों को बदल कर शुभ परिणाम धारण करो। किसी भी विषय या पदार्थ में तुम्हें लुब्ध नहीं होना चाहिये।

2. जैन मुनि हमेशा अकुहुक होना चाहिये अर्थात् उसे इन्द्रजाल आदि कौतुक में नहीं पड़ना चाहिये। मंत्र-तंत्र के प्रयोग कर ढोंग की वृद्धि नहीं करनी चाहिये। हे मुनियो ! वर्तमान काल में यति (गोरजी) के अतिरिक्त अन्य संवेगी साधुओं में यह प्रयत्न दिखाई नहीं देता, यह अच्छी बात है।

3. जैन मुनि को अमायी अर्थात् निष्कपट होना चाहिये। यदि मुनि कपट रखकर अपने गुरु अथवा संघ से व्यवहार करे तो वह अपने चारित्र से भ्रष्ट हुआ गिना जाता है। वर्तमान काल में कई मुनियों में यह दुर्गुण देखने में आता है। कई मुनि कपट से गुरु और श्रावकों को धोखा देते हैं, गुरु से छिपा कर किसी को दीक्षा देने का प्रयत्न करते हैं, ऐसे प्रयत्न सर्वथा निंदनीय हैं।

4. जैन मुनि को हमेशा अपिशुन होना चाहिये अर्थात् उसे किसी की चुगली-निंदा नहीं करनी चाहिये। वर्तमानकाल में यह दुराचार विशेष प्रवर्तित है। एक मुनि दूसरे के दोष ढूंढ-ढूंढ कर गुरु या श्रावक को बताते हैं और इस प्रकार दूसरे की निंदा करते हैं। यह प्रवृत्ति अत्यन्त तिरस्कार करने योग्य है।

5. मुनि को दीनवृत्ति नहीं रखनी चाहिये। अपनी इच्छा के अनुसार कार्य सफल करवाने के लिये दूसरों की चापलूसी करना और अपनी दीनता चारित्र धर्म के विरुद्ध है। कई साधु पन्यास, गणी आदि अन्य बड़े पद प्राप्त करने के लिये चापलूसी करते हैं और दीनता दिखाते हैं, यह बहुत ही धिक्कारने योग्य है।

6. जैन मुनि को अकुशल भावना नहीं रखनी चाहिये। दूसरों से अपनी प्रशंसा करवाने की भावना आजकल बहुत बढ़ रही है। कई मुनि दूसरों से काव्य या दूसरे उपयोगी लेख आदि लिखवाकर उसे स्वतः लिखा बताकर प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं, यह प्रवृत्ति बहुत ही अधर्म है।

7. जैन मुनि को दूसरों के सामने अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। आजकल यह दुराचार किसी-किसी मुनि में दिखाई देता है। कई मुनि अपनी प्रशंसा के पत्र श्रावकों से लिखवाकर अखबारों में या जैन मासिक पत्रिकाओं में छपवाते

हैं और इसमें अपनी गौरवता मानते हैं, यह प्रवृत्ति चारित्र धर्म को दूषित करने वाली है।

8. जैन मुनि को कौतुक रहित होना चाहिये अर्थात् नाटक, नृत्य, गायन आदि में उसे उत्सुकता नहीं दिखानी चाहिये।

हे मुनियो ! इन आठ गुणों को अपने हृदय में स्थापित करें और उसके अनुसार प्रवर्तन कर अपने चारित्र जीवन को सुधारने का प्रयत्न करें। इन आठ गुणों के विषय में शय्यंभव सूरि निम्न गाथा लिखते हैं। इस गाथा को सर्वदा कंठस्थ रखें—

"अलोलुए अक्कुहए अमाई, अपिसुणे आवि अदीणवित्ति ।
नो भावए नो वि अभाविअप्पा, अकोउहल्ले असया स पूज्जो ।।'

"अलोलुप, अकुहुक, अमायी, अपिशुन, अदीनवृत्ति, दूसरों से अपनी प्रशंसा न कराने वाला और कौतुक रहित, ऐसा मुनि सदा पूजनीय है।"

हे मुनियो ! इस प्रसंग में सूत्रकार गुरु का उपकार भी भी प्रदर्शित करते हैं और ऐसे गुरु को मान देने वाला शिष्य पूजनीय है, ऐसा कहते है। इस विषय में निम्न गाथा वर्णित है—

"जे माणिआ सययं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ।"

"जैसे पिता अपनी पुत्री को युवा और गुण सम्पन्न बना कर पति को सौंप देता है, वैसे ही जो गुरु अपने शिष्य को सूत्रार्थ का जानकार बनाकर बड़े आचार्य पद में स्थापित कर देते हैं, ऐसे उपकारी गुरु को जो तपस्वी, सत्यरत और जितेन्द्रिय शिष्य मान देता है, वह सदा पूजनीय है।"

हे मुनियो ! इसके साथ ही वहाँ पर मुनि के दूसरे गुणों की भी प्रशंसा की गई है। इस विषय पर निम्न गाथा लिखी है—

"तेसिं गुरूणं गुणसायराणं, सुच्चाण मेहावि सुभासिग्राइं।
चरे मुणि पंचरए त्तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥"

"गुणों के सागर गुरु के परलोकोपकारी सुभाषित-उपदेश को सुनकर पांच महाव्रत धारी, तीन गुप्ति युक्त और चार कषाय रहित मुनि को उसके अनुसार आचरण करना चाहिये। ऐसा बुद्धिमान सर्वदा पूजनीय है।"

इस गाथा के पश्चात् विनय समाधि अध्ययन के तीसरे उद्देश्य को समाप्त करते हुए शय्यंभव सूरि नीचे की अन्तिम गाथा लिखते हैं—

"गुरुमिह सययं पडिग्ररिग्र मुणि,
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले।
धुणिय रयमलं पुरे कडं,
भासुरमउलं गइं वइ त्तिवेमि ॥"

"जो मुनि विधि पूर्वक गुरु की आज्ञा का पालन कर आगमों में प्रवीण बनता है, वह मुनि सेवा करने में कुशल बनकर पूर्व में किये हुए आठ प्रकार के कर्मों के मल को दूर कर, ज्ञान और तेजमय अतुल सिद्धि रूप गति को प्राप्त करते हैं।"

हे मुनियो ! इस 'विनय समाधि' अध्ययन के तीसरे उद्देश्य की अंतिम गाथा में सूत्रकार ने विनय पूर्वक गुरु की अराधना करने वाले जैन मुनि को सिद्धि की प्राप्ति रूपी महान फल की प्राप्ति होना कहा गया है। इस पर तुम्हें शिक्षा लेनी चाहिये।

पहले, मुनि के आठ गुणों का जो वर्णन किया गया है, उसके अनुसार साधु को अपने गुणों की न तो स्वयं को प्रशंसा करनी चाहिये और न दूसरों से करवानी चाहिये। अपने गुण

की प्रशंसा करवाने के लिये ही तुम पावागढ़ आदि की रचना करवाते हो और लोगों की वाहवाही लूटते हो। यह रीति बिल्कुल अनुचित है। धर्म के ऐसे उत्सव करवाने में देश काल का विचार करना चाहिये। वर्तमान काल में श्रावकों की स्थिति विपरीत है। अधिकांश श्रावक समाज दुखी स्थिति में है। ऐसे समय में श्रावक के द्रव्य का दुरुपयोग करना अर्थात् श्रावक क्षेत्र की पुष्टि के लिये निकाले गये द्रव्य का, किसी दूसरे अनुपयोगी क्षेत्र में खर्च करने का आग्रह करना और करवाना, बिल्कुल गलत बात है। एक क्षेत्र की पुष्टि के लिये दूसरे क्षेत्र को नुकसान पहुंचाना धर्म विरुद्ध है। हे मुनियो! भविष्य में कभी ऐसा दुराग्रह नहीं करोगे। तुम्हारी विद्या का उपयोग करो। तुम्हारे ज्ञान का दूसरों को लाभ दो। तुम्हारे जैसे विद्वान गुरु के होते हुए तुम्हारे शिष्य मिथ्यात्वियों के पास अध्ययन करें और उनको अपने विद्या गुरु की पदवी प्रदान करें, यह कैसी विपरीत बात है। इस बात का विचार कर तुम्हें स्वयं ही शिष्यों को पढ़ाना चाहिये। यदि प्रत्येक विद्वान् मुनि अपने शिष्यों को स्वयं पढ़ाने का भार उठाले तो प्रति वर्ष श्रावक वर्ग का बहुत बड़ा फायदा हो सकता है। प्रति वर्ष श्रावकों को शास्त्रियों को जो हजारों रुपया वेतन देना पड़ता है, उसकी बचत हो जाय। यदि इस धन की बचत न करनी हो तो भी उसे किसी दूसरे शुभ काम में खर्च किया जाय तो समाज को कितना फायदा होगा, इसका दीर्घदृष्टि से विचार करना चाहिये।

"हे मुनियो! अब मैं यहाँ से दूसरे स्थान पर जा रही हूं। तुम मेरे उपदेश को याद रख, उसके अनुसार आचरण कर, आर्हत् धर्म को प्रकाशित करना।"

प्रवास (12)

एक उपाश्रय में श्रावक वर्ग के सामने तीन मुनि बैठे थे। सबकी मुख-मुद्रा चिन्ता और ग्लानि से पूर्ण थी, जिससे चारों ओर अशांति फैली हुई थी। सब एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे। जैसे कोई भारी आपत्ति आ पड़ी हो, वैसा ही दृश्य था। उस वक्त वहाँ बैठे तीन मुनियों में से एक ने कहा, "चंद्र विजय ! मैंने तुम्हें पहले ही कहा था कि ऐसे अनाधिकारी, अपरिपक्व और अल्प बुद्धि मनुष्य को साहसपूर्वक दीक्षा देना योग्य नहीं है, फिर भी तुमने दीक्षा दी, यह कितनी बड़ी भूल हुई।" चंद्र विजय ने नम्रता से कहा, "महाराज ! इसमें मेरा क्या दोष, इस बुद्धि विजय ने मुझसे शीघ्रता करवाई।" बुद्धि विजय ने उच्च स्वर से कहा, "महाराज ! मुझे क्या खबर की ऐसा होगा, मैंने तो कभी यह सोचा भी नहीं कि यह मनुष्य ऐसा विपरीत कार्य करेगा। उसके विचार अच्छे थे, उसे संसार से वैराग्य है, ऐसा वह प्रदर्शित करता था, उसके ऐसे अच्छे परिणाम देखकर ही मैंने उसे दीक्षा दी थी। फिर उसके भाव बदल गये और उसने साधु वेष को छोड़कर गृहस्थ का वेष धारण कर लिया तो इसमें मेरा क्या दोष? उसके कुकर्मों ने उसे संयम से भ्रष्ट कर दिया। चारित्र रूपी चिंतामणि को प्राप्त करके भी उस मूर्ख ने उसे फिर से गुम कर दिया, यह उसकी अधमता है। हे महाराज ! भविष्य में ऐसे अज्ञानी मूर्ख श्रावक को कभी दीक्षा नहीं दूंगा। इस बार जो हो गया सो हो गया।"

गुरु ने आक्षेप पूर्वक कहा, "बुद्धि विजय ! तुम्हें बार-बार क्या कहें? तुम्हारे से ऐसी अनेक भूलें होती ही रहती हैं। दो वर्ष पहले भी एक श्रावक ऐसे ही दीक्षा लेने के बहाने से दो सौ रुपया लेकर भाग गया था। तुम्हारे रागी श्रावक ने तुम्हें

बहुत तरह से समझाया फिर भी तुमने उसकी बात नहीं मानी और उसके घर से दो सौ रुपया निकलवाया। एक मारवाड़ी ब्राह्मण का लड़का दीक्षा लेने के बहाने से तुम्हारे पास आया था, दीक्षा का मुहूर्त नक्की हो गया था और दीक्षा के वरघोड़े (जुलूस) के लिये उसे अच्छे-अच्छे आभूषण पहनाये गये थे। जिस दिन दीक्षा देनी थी उसकी पहली रात पांच सौ रुपये के आभूषण लेकर भाग गया था, यह बात क्या भूल गये ?"

गुरु के आक्षेप को सुनकर बुद्धि विजय को क्रोध हो आया और क्रोधावेश में बोला, "गुरु महाराज ! बस करो। अधिक मत बोलो। मैं आपका मूर्ख शिष्य हूं, मैं बार-बार भूल करता हूं। आप स्वयं बड़े हैं, आप तो कभी भूल करते ही नहीं। अब क्षमा करें। आपकी सारी बात मैं जानता हूं। यदि आप अधिक बोलेंगे तो मुझे आपका भेद भी प्रकाशित करना पड़ेगा।" उस समय चंद्र विजय ने टेका दिया, "महाराज ! यह बुद्धि विजय ठीक कहता है। दूसरों के छिद्रों को प्रकाशित करना और अपने छिद्रों को ढंकना यह तो अनीति है। आपके भी ऐसे कई छिद्र मुझे भी मालूम हैं। आप स्वयं जो काम करते हैं, वैसा काम तो हम कभी भी नहीं करते।"

अपने शिष्यों के ऐसे वचन सुनकर गुरु को भी क्रोध हो आया। उन्होंने उच्च स्वर में कहा, "मूर्ख शिष्यो ! यह क्या कह रहे हो। जरा विनय रखो। मेरे कौन से दोष तुम जानते हो ? संघ के लोगों के सामने तुम ऐसी झूठी बात कहते हो, यह तुम्हारी बहुत ही नीचता है। स्वयं दूषित हुए, इसलिये दूसरों को भी दूषित करना, इससे तुम्हारा कुविचार स्पष्ट मालूम हो जाता है। तुम कितना भी झूठ बोलो, मेरे ये विश्वसनीय और रागी श्रावक कभी भी तुम्हारी बात नहीं मान सकते। वे अच्छी तरह जानते हैं कि उनके गुरु कभी भी दुराचार का सेवन नहीं कर सकते और तुम झूठे हो।"

इस प्रकार जब दो-तीन बार झूठे कहा, तब क्रोधी स्वाभाव वाले चन्द्र विजय को और भी गुस्सा आ गया। उसने क्रोधा-

वेश में कहा, "महाराज ! तुम्हारे से तो हम अच्छे ही हैं। हम तो संसार का त्याग करने के बहाने से आने वाले लोगों से ही ठगे जाते हैं, पर आपकी तरह जानबूझ कर व्यर्थ के काम नहीं करते। हमने श्रावकों के घर से जो भी धन खर्च करवाया होगा, वह हमारे स्वार्थ के लिये नहीं, पर दूसरों के स्वार्थ के लिये करवाया, पर आप तो अपने सम्बन्धियों को मदद दिलवाने के लिये श्रावकों का धन खर्च करवाते हो, यह तो अधिक खराब है। दो वर्ष पहले आपने एक भाई को विधवा श्राविका के पास से पांच सौ रुपये दिलवाये थे। फिर गये वर्ष इसी गाँव में से आपके एक दरिद्र भाई को दो सौ रुपये दिलवाये थे। थोड़े दिन पहले आपने अपने एक मामा को पचास रुपये के कपड़े दिलवाये थे। वे रुपये इस संघ में बैठे श्रावक अमोलखजी ने दिये थे, उनसे पूछ लीजिये। हे महाराज ! इसके अतिरिक्त भी आपको कई ऐसी बाते हैं जिन्हें कहने में भी लज्जा आती है। इसलिये आप तो चुप होकर बैठिये। ज्यादा बोलने में आपको फायदा नहीं है।"

चन्द्र विजय के वचन सुनकर गुरुजी निस्तेज हो गये। उनके मुँह पर शर्म की पर्त जम गई। फिर भी अपने गौरव को कायम रखने के लिये उन्होंने कहा, "चंद्र विजय ! बहुत हो गया, अब अधिक बोलने की आवश्यकता नहीं। विनीत शिष्य का धर्म गुरु के दोष बताना ठीक नहीं है। जाओ, अब तुम इस उपाश्रय से चले जाओ। तुम्हारे जैसे अविनीत शिष्य के साथ रहने की मेरी इच्छा नहीं है।" चंद्र विजय ने उत्तर दिया, "महाराज, मैं उपाश्रय से क्यों जाऊँ ? उपाश्रय क्या आपका है ? यह तो संघ का है। अगर संघ कहेगा तो मैं चला जाऊँगा।" उसके उपर्युक्त वचन सुनकर गुरु महाराज ने संघ के आगेवानों से कहा, "सेठो ! इस अविनीत साधु को यहाँ से जाने को कहो। यह इस उपाश्रय को छोड़कर चला जावे, नहीं तो अच्छा नहीं होगा।" गुरुजी की आज्ञा सुनकर सेठियों ने चंद्र विजय से कहा, "महाराज ! आप उपाश्रय से चले जाइये क्योंकि आपने गुरु का अविनय किया है।" ऐसा सुनते ही संघ

के दो अन्य आगेवान श्रावक जो चंद्र विजय के रागी थे, जोर से बोल पड़े, "चंद्र विजय महाराज उपाश्रय से बाहर क्यों जायें? यह उपाश्रय किसी अमुक एक साधु के लिये तो नहीं बनवाया गया है। इसमें तो सभी साधुओं को रहने का अधिकार है, फिर यह उपाश्रय संघ का है और हम भी संघ के सदस्य हैं।"

इस प्रकार पक्षापक्ष, कोलाहल और मारामारी तक की नौबत आ गई। उस वक्त अदृश्य रही दीक्षाकुमारी ने सोचा कि इस लड़ाई का कारण मेरे इस समाज में ही है। इन चंद्र विजय और बुद्धि विजय ने किसी तरुण श्रावक को बिना पूर्ण वैराग्य के दीक्षा दी होगी। बाद में उसके भाव बदल जाने से उसने साधु वेष छोड़कर फिर से गृहस्थ वेप धारण कर लिया होगा। इसी से यह तुफान उठा है। अतः इन मुनियों को अवश्य शिक्षा देनी होगी। यह सोचकर महादेवी दीक्षाकुमारी ने निम्न गाथा का उच्च स्वर में उच्चारण किया—

"विणए सुए अ तवे, आयारे निच्चं पंडिआ।
अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया॥"

इस गाथा की ध्वनि सुनते ही सब चकित हो गये। एकाएक कोलाहल शांत हो गया और उनके नेत्र चारों तरफ आवाज के कारण को खोजने लगे। थोड़ी देर बाद महादेवी सबके बीच में प्रकट हुई।

दीक्षाकुमारी ने मेघ की भांति गम्भीर गर्जन करते हुए कहा, 'मुनियो और श्रावको! शांत रहिये। बेकार हल्ला क्यों मचा रहे हैं। तुम्हारे कोलाहल का कारण क्या है, उस पर जब गहन विचार करोगे तब तुम्हें निश्चय ही मालूम होगा कि इसका कारण प्रमाद और अज्ञान है। ये मुनि वीर प्रभु की परंपरा के अनुयायी हैं, वे प्रमाद से अपने आचार को भूल गये हैं। और ये श्रावक जो कि चतुर्विध संघ के मुख्य अंग है, वे अज्ञानांधकार में आ पड़े हैं, जिससे रागांध होकर मुनियों के

दोष को नहीं देखते और उन्हें उत्तेजन देकर उनके दोषों की वृद्धि करते हैं। अतः इस प्रमाद और अज्ञान के कारण से ऐसे-ऐसे अनाचार आर्हत धर्म की पवित्र भावना में प्रकट होने लगे है।

हे आर्हन भक्त मुनियो और गृहस्थो ! तुम अपने पूर्व काल का स्मरण करो। प्राचीन ऋषियों के वंशज कैसे दक्ष और दीर्घ-दृष्टि होते थे ? कोई गृहस्थ श्रावक जब दीक्षा लेने को तैयार होता तब वे दक्ष पुरुष उसकी शारीरिक और मानसिक शुद्धि का अथवा उसकी द्रव्य और भाव शुद्धि का पहले विचार करते थे। जब उस अधिकारी पुरुष को चारित्र दिया जाता, तब चतुर्विध संघ की साक्षी से यह पवित्र क्रिया सम्पन्न की जाती। 'यह दीक्षा लेने वाला पूर्ण रूप से उसका अधिकारी है' ऐसा जब गुरु-मुख से साबित हो जाता तभी चतुर्विध संघ उसका वेष परिवर्तित करता। यद्यपि उसी के अनुकरण में अभी भी किसी-किसी समय यह कार्य चतुर्विध संघ की साक्षी से होता है, पर उसमें भी दीक्षार्थी अधिकारी है या नहीं, ऐसा कुछ नहीं देखा जाता। मात्र गुरु के वचनों को हाँ में हाँ मिलाते हुए यह कार्य सम्पन्न हो जाता है। इसमें भी कई दीक्षाएं तो गुप्त रूप से हो जाती हैं। कोई भाग कर, कोई अन्य नगर में जाकर और कोई बलपूर्वक साधु का वेष धारण करके साधुओं के संघाडे में शामिल हो जाता है। ऐसी अविचारित दीक्षा लेने वाला पुरुष चारित्र के कठिन मार्ग पर कैसे चल सकता है ? कैसे उसे निभा सकता है ? ऐसे अधिकारी गृहस्थ चारित्र लेकर अनेक प्रकार से धर्म की निंदा करवाते हैं। कोई इन्द्रियों के वश में विषयों का सेवन करते हैं, कोई गृहस्थ के सहवास में रागी बनते हैं, कोई पूर्व के गृहस्थ सम्बन्धियों की मदद करवाते हैं, कोई स्वच्छन्द होकर संघ में खटपट कराते हैं, कोई संघाड़े में फूट पैदा कराते हैं, कोई संवेगी के रूप को छोड़कर दूसरे रूप को ग्रहण करते हैं और कोई साधु वेष को छोड़कर गृहस्थ का वेष धारण कर लेते हैं। अतः चारित्र देने के पहले मुनि को बहुत ही सावधानी पूर्वक

दीक्षार्थी की जांच करनी चाहिये। अनधिकारी पुरुप यदि ऐसा करे तो उससे इतना अफसोस नहीं होगा जितना अधिकारी पुरुप को ऐसा करने पर होता है। ऐसे अधिकारी पुरुप भी दीक्षा लेने के बाद प्रमाद वश अपने आचार की पुस्तकें पढ़ने में आलस्य करते हैं, जिससे वे अनाचार में पड़ जाते हैं। जो मुनि अच्छी विद्या प्राप्त कर विद्वान् बने हुए हैं वे भी 'दशवैकालिक' और 'आचारांग' जैसे अपने आचार के ग्रन्थ नहीं पढ़ते और पढ़कर उसका मनन नहीं करते, जिससे वे अपने शुद्ध आचार से विमुख होते हैं।

इस प्रकार कहने के बाद जब दीक्षाकुमारी चुप हुई तब वरिष्ठ मुनि ने विनय पूर्वक कहा, "महादेवी ! हम पर करुणा कर इस गाथा का अर्थ हमें सुनाइये।"

मुनियों की नम्र वाणी सुनकर दीक्षाकुमारी के हृदय में उनके प्रति कुछ लग्न उत्पन्न हुई, अतः उसने शांत स्वर से निम्न उपदेश दिया—

"हे मुनियो ! थोड़ी देर पहले यहां जो कोलाहल हो रहा था उसे सुनकर और उसके कारण पर विचार कर मेरे मन में आया कि यदि लोगों को इस कोलाहल का कारण समझ में आवे, तो फिर से ऐसी घटना न घटे। उस वक्त मेरे हृदय में 'दशवैकालिक' सूत्र के 'विनय समाधि' नामक नौवें अध्ययन के चौथे उद्देश्य की गाथा याद आ गई जो थोड़ी देर पहले मैंने तुम्हें अदृश्य रहकर सुनाई है। उस गाथा का अर्थ यह है कि जो मुनि विनय, श्रुत, तप और चारित्र में पंडित बनकर अपनी आत्मा को उसमें जोड़ते हैं, वे सच्चे जितेन्द्रिय हैं।"

हे मुनियो ! इस गाथा के शुद्ध अर्थ पर विचार करें। जब तब तक तुम विनय, श्रुत, तप और आचार में पंडित नहीं बनते, तक तुम जितेन्द्रिय नहीं कहला सकते। ऐसे जितेन्द्रिय पुरुषों के हृदय में विनय, श्रुत, तप और आचार के माहात्म्य का प्रकाश हो जाता है। जब उनके हृदय में इन चारों का सच्चा

प्रकाश हो जाता है. तव वे किसी भी पुरुप की मनोवृत्ति की सच्ची परीक्षा कर सकते हैं। जिस पुरुप में शुद्ध विनय, शास्त्र का शुद्ध ज्ञान, वाह्य और आभ्यंतर तप में रुचि और मूल गुण आदि आचार का पालन करने में प्रीति हो ऐसे पुरुष को वे चारित्र का अधिकारी मानते हैं और उसे दीक्षा देने की इच्छा रखते हैं। जब तक विनय, तप, शास्त्र और आचार पालने की शक्तियां या उत्साह उसमें दिखाई न दें, तब तक उसे संयम के मार्ग का पथिक नहीं वनाते, क्योंकि ऐसा पुरुष चारित्र का अधिकारी नहीं है। जब ऐसे अनधिकारी को कुछ भी परीक्षा किये विना दीक्षा देते हैं, तव वह चारित्र का निर्वाह नहीं कर सकता।

चालू प्रसंग में मुझे कहना पड़ेगा कि जिस पुरुप को तुमने साहस कर के दीक्षा दी है, वह पुरुष किसी भी प्रकार चारित्र का अधिकार नहीं था, इसीसे उसने साधु के वेष को छोड़कर फिर से गृहस्थ का वेष धारण किया। यह घटना अपने सनातन पवित्र धर्म की निंदा करवाने वाली घटी है। जिसे सुनकर अनेक मिथ्यात्वी लोगों को अपने पवित्र धर्म की निंदा करने का कारण मिलेगा।

हे मुनि ! भविष्य में अब कभी भी ऐसा साहस न करें। महाव्रत लेने को तैयार श्रावक की सर्व प्रकार से परीक्षा करें और वह विनय, तप, शास्त्र और आचार के पालन में कितना उत्साही है. इसकी पूरी जांच करें। ऐसा करने से तुम्हारे द्वारा प्रदत्त चारित्र का त्याग करने में कोई समर्थ नहीं होगा जिससे कि ऐसा धर्म निंदक कलह हो।

हे मुनियो ! जरा सोचो, अनाधिकारी मनुष्य को दीक्षा देने से दूसरे भी कई दोप उत्पन्न होते हैं। जब वह साधु गृहस्थ का वेप पहनकर भ्रष्ट हुआ तभी आपके बीच में कलह उत्पन्न हुआ। शिष्य ने गुरु की मर्यादा का लोप किया। इन चंद्र विजय और वुद्धि विजय ने विनय का त्याग किया। गुरु ने

शिष्य के प्रति और शिष्य ने गुरु के प्रति तिरस्कारपूर्ण वचन कहे। संघ के गृहस्थों ने भी उसमें भाग लिया और धर्म की निंदा हो, ऐसा अनुचित कलह उत्पन्न हुआ। यह विपरीत घटना किस लिये घटी? मात्र एक भ्रष्टाचार के प्रसंग से ही तो। यदि वह मुनि भ्रष्टाचारी नहीं हुआ होता तो ऐसा अनुचित प्रसंग क्यों पैदा होता? इस पर से तुम्हें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि किसी भी श्रावक को उसके गुण तथा शील की परीक्षा लिये बिना दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

हे मुनियो! तुम्हारे आपसी कलह के प्रसंग में मैंने अभी जो परस्पर विपरीत और अनाचार को प्रदर्शित करने वाले वचन सुने हैं, उससे मुझे बहुत अफसोस हो रहा है। तुम्हारे दोषों को जानकर मेरी अन्तरात्मा दग्ध हो रही है। ओह! वर्तमान काल में जैन मुनियों में कैसे-कैसे दोष प्रविष्ट कर गये हैं? आर्य धर्मों में सर्वोत्तम गिने जाने वाले जैन मुनि शिष्य लोभ के वशीभूत होकर योग्यायोग्य पुरुष का विचार किये बिना, छुप कर अनेक प्रकार की मदद देते हैं और उसका लाभ उठाकर अनधिकारी पुरुष श्रावकों के धन का दुरुपयोग करते हैं। इससे इस संसार पर वैराग्य होने के स्थान पर संसार पर अधिक प्रीति होती है और अपने संबंधियों को मदद दिलवाने में श्रावकों के धन का जो दुरुपयोग होता है, वह कैसा धर्म? वैराग्य के स्थान पर यह कैसी राग दशा या दुर्दशा है?

दीक्षाकुमारी बोली, हे मुनियो! जो गाथा मैंने तुम्हें सुनाई थी, वह 'दशवैकालिक सूत्र' के विनय समाधि नामक नौवें अध्ययन के चौथे उद्देश्य की गाथा है। उस उपयोगी अध्ययन के चौथे उद्देश्य का पूर्ण उपदेश देने की मेरी इच्छा है, अतः तुम सावधान होकर सुनो।

दीक्षाकुमारी के वचन सुनकर मुनि प्रसन्न हो गये और कहा, 'धर्मेश्वरी। इस उपयोगी अध्ययन का उपदेश देने की कृपा कीजिये।'

मुनियों की प्रार्थना को स्वीकार कर दीक्षाकुमारी ने कहा,

"हे मुनियो ! विनय समाधि चार प्रकार की है, विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि और आचार समाधि। इन चार प्रकार की समाधि में चरित्र धर्म का पूर्ण स्वरूप आ जाता है। वस्तु से आत्मा का जो हित हो उसे समाधि कहते हैं। विनय से आत्मा का हित करना विनय समाधि। शास्त्र से आत्मा का हित करना श्रुत समाधि। तप से आत्मा का हित करना तप समाधि और आचार के पालन द्वारा आत्मा का हित करना आचार समाधि। इस प्रकार पृथक-पृथक अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं।

जो मुनि विनय, श्रुत, तप, और आचार में पंडित हो, वही जितेंद्रिय है। जब तक विनय, तप, शास्त्र और आचार में पांडित्य प्राप्त न हो अर्थात् इन चारों वस्तुओं का स्वरूप यथार्थ रूप से न समझा हो, तब तक, जितेंद्रियपन प्राप्त नहीं हो सकता।

हे मुनियो ! इसमें से प्रथम विनय समाधि के भी चार प्रकार हैं। (1) गुरु किसी कार्य के लिये प्रेरणा करे, उस समय गुरु के वचन सुनने की इच्छा करना विनय समाधि का प्रथम प्रकार है। (2) गुरु जिस तरह कहे, उसे बराबर समझना यह दूसरा भेद है। (3) सिद्धांत में कहे अनुसार क्रिया कर श्रुत ज्ञान को सफल करना यह विनय समाधि का तीसरा भेद हुआ। (4) 'मैं सबसे उत्कृष्ट साधु हूं' इस तरह की आत्म प्रशंसा नहीं करना यह विनय समाधि का चौथा प्रकार है। इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा कहते हैं—

"पेहेइ हिआणु सासणं, सस्सूसइ तं च पुणो अहिड्ढिए।
न य माणमएण मज्जई, विणयसमाहि आययड्ढिए॥"

अर्थात् "मोक्षार्थी साधु अपने गुरु आचार्य से इस लोक व परलोक में हितकारी उपदेश सुनने की इच्छा रखता है। उस

उपदेश को अच्छी तरह समझता है और समझकर उसके अनु-सार आचरण करता है, फिर भी विनय समाधि के सम्बन्ध में घमंड नहीं करता ।"

हे मुनियो ! ये चार प्रकार की विनय समाधि तुम अपने लक्ष्य में रखो और उसके अनुसार प्रवर्तन कर अपने चारित्र जीवन को सफल करने का प्रयत्न करो । इन चतुर्विध विनय समाधि के अनुसार प्रवर्तन कर मुनि अपने गुरु से बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं, जिससे उनका इस लोक और परलोक में हित साधन होता है । हे अनगारो ! अपने शास्त्रों में विनय समाधि के लिये इतना लिखा है, फिर भी प्रमादी मुनि उस तरफ दुर्लक्ष्य रखते हैं, यह बहुत ही अफसोस की बात है । गुरु का विनय करना चारित्रधारी मुनि का प्रथम कर्त्तव्य है क्योंकि मुनि अपने चारित्र का निर्वाह गुरु की मदद से ही कर सकता है । गुरु की सेवा कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना, मुनि का पहला कर्त्तव्य है । वर्तमान काल मे कितने ही मुनि इस कर्त्तव्य को भूल जाते हैं, इससे उनका हमेशा अधःपतन होता है ।

हे मुनियो ! आजकल कितने ही मुनि मान प्राप्त करने की इच्छा से अध्ययन करते हैं । ऐसी इच्छा से पढ़कर साक्षर बना हुआ साधु फिर अहंकार में बहक जाता है, यह चारित्र गुण के बिल्कुल विपरीत है । कितने ही घमंडी साधु विद्या के अहंकार से गुरु या अन्य बड़े साधुओं को कुछ भी नहीं समझते तथा कई बार उनका अनादर भी करते हैं, ऐसी क्षुद्र वृत्ति वाले साधुओं का जब श्रावक सम्मान करते हैं, तब उनमें और अधिक घमंड आजाता है । इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले साधुओं में श्रुत समाधि का उत्तम गुण नहीं होता, वे अपने चारित्र को दूषित करते हैं ।

"मैं पढ़ लिख कर एकाग्र चित्त वाला बनूंगा" ऐसी इच्छा से पढ़ना श्रुत समाधि का दूसरा प्रकार है । वर्तमान काल में

कई साधु इस उत्तम हेतु को भूल जाते हैं। चित्त की एकाग्रता को छोड़कर इस संसार के फंदे में पड़ने को तैयार होते हैं, यह बहुत अफसोस की बात है। ज्ञान का फल है चित्त को एकाग्र करना, इस महाफल को छोड़कर आजकल कितने ही साधु विद्याभिमानी बनकर गणी, आचार्य, पन्यास और प्रवर्तक की पदवियें लेने को तैयार होते हैं और उस उत्तम पद का उपयोग गलत तरीके से करते हैं, जिससे उनमें विशेष अभिमान जाग्रत होता है। यह अभिमान उस उन्मत्त मुनि को दुराचार की तरफ प्रवृत्त करता है।

"मैं शास्त्र का अभ्यास कर अपनी आत्मा को धर्म में स्थापित करूंगा" ऐसे शुद्ध हेतु से ज्ञानाभ्यास करना चाहिये। ऐसे विचार से अध्ययन करना श्रुत समाधि का तीसरा प्रकार है। आजकल इस हेतु को भुला दिया गया है। अभ्यास करने वाले मुनि अन्य मुनियों को पराभूत कर अपना गौरव बढ़ाना चाहते हैं, यह कैसा अनुचित कार्य है? अभ्यास से अपनी आत्मा को धर्म में स्थित करने के स्थान पर उल्टे अधर्म में स्थित करते हैं। हे मुनियो! तुम्हें इस बात को अधिक लक्ष्य में रखना चाहिये। तुम्हारी आत्मा चारित्र गुण को प्राप्त हुई है, उस गुण को छोड़ दूसरे दुराचार में उसे स्थापित करना कैसी विपरीत बात है? शिष्य मूंडने और मान प्राप्त करने के तुच्छ लोभ में तुम अपने निर्मल स्वरूप को भूल रहे हो।

"मैं अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर कर अपने अन्य शिष्यों को भी धर्म में स्थिर करूंगा" ऐसी इच्छा से अभ्यास करना श्रुत समाधि का चौथा प्रकार है। हे मुनियो! आजकल कितने ही मुनियों का इस उत्तम प्रकार के प्रति दुर्लक्ष्य है। गुरु और शिष्य एक दूसरे का हित नहीं चाहते। गुरु की शुभ इच्छा को शिष्य अशुभ मानता है। हे मुनियो! तुम्हें इस श्रुत समाधि के पवित्र हेतु की तरफ सावधान रहना चाहिये और जिस प्रकार इस पवित्र हेतु का पालन हो सके, उसी प्रकार का प्रवर्तन करना चाहिये।

इस श्रुत समाधि के चार प्रकारों को बताते हुए महोपकारी शय्यंभव सूरि ने निम्न स्मरणीय गाथा कही है—

"नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावई परं।
सुआणि अ अहिज्जिता, रओ सुअसमाहिए ।।"

अर्थात् जो एकाग्रचित्त होकर ज्ञान प्राप्त करे, ज्ञान में स्थिर होकर अन्य को ज्ञान में स्थिर करे और नाना प्रकार के श्रुत का अध्ययन करे, वह श्रुत समाधि में तत्पर गिना जाता है।

हे मुनियो ! तीसरी तप समाधि भी चार प्रकार की है। जो इस लोक के लिये लब्धि प्राप्त कर इस लोक के कार्य सिद्ध करने के लिये तपस्या न करे, तो वह तप समाधि का पहला प्रकार है। यदि कोई मुनि लोक के फल प्राप्त करने के लिये किसी प्रकार की तपस्या करता है तो वह तप समाधि से भ्रष्ट गिना जाता है। जो ब्रह्मदत्त की तरह परलोक के लिये तपस्या न करे तो यह तप समाधि का दूसरा प्रकार है। यदि कीर्ति, वर्ण और स्तुति के लिये तपस्या न करे तो यह तप समाधि का तीसरा प्रकार है, और यदि कर्म निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतु से तपस्या न करे तो यह तप समाधि का चौथा प्रकार कहाता है। हे मुनियो ! तपस्या के इन चारों प्रकारों को ध्यान में रख कर तपस्या करना शुद्ध धर्म है। इस पवित्र हेतु को ध्यान में रखे बिना जो तपस्या करते हैं, वह सब वृथा परिश्रम ही है। इस विषय में ग्रन्थकार निम्न गाथा कहते हैं—

"विविह गुण तवो रए निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराण पावगं, जुत्तो सया तव समाहिए ।।"

अर्थात् जो विविध प्रकार के तप करते हुए इस लोक में किसी प्रकार के फल की प्राप्ति की आशा नहीं रखता, जो निर्जरार्थी तप द्वारा पूर्वकृत पुराने पापों को दूर करता है और नये पापों को नहीं बांधता, ऐसा तप समाधियुक्त कहलाता है।

कई साधु इस उत्तम हेतु को भूल जाते हैं। चित्त की एकाग्रता को छोड़कर इस संसार के फंदे में पडने को तैयार होते हैं, यह बहुत अफसोस की बात है। ज्ञान का फल है चित्त को एकाग्र करना, इस महाफल को छोड़कर आजकल कितने ही साधु विद्याभिमानी बनकर गणी, आचार्य, पन्यास और प्रवर्तक की पदवियें लेने को तैयार होते हैं और उस उत्तम पद का उपयोग गलत तरीके से करते हैं, जिससे उनमें विशेष अभिमान जाग्रत होता है। यह अभिमान उस उन्मत्त मुनि को दुराचार की तरफ प्रवृत्त करता है।

"मैं शास्त्र का अभ्यास कर अपनी आत्मा को धर्म में स्थापित करूंगा" ऐसे शुद्ध हेतु से ज्ञानाभ्यास करना चाहिये। ऐसे विचार से अध्ययन करना श्रुत समाधि का तीसरा प्रकार है। आजकल इस हेतु को भुला दिया गया है। अभ्यास करने वाले मुनि अन्य मुनियों को पराभूत कर अपना गौरव बढ़ाना चाहते हैं, यह कैसा अनुचित कार्य है? अभ्यास से अपनी आत्मा को धर्म में स्थित करने के स्थान पर उल्टे अधर्म में स्थित करते हैं। हे मुनियो! तुम्हें इस बात को अधिक लक्ष्य में रखना चाहिये। तुम्हारी आत्मा चारित्र गुण को प्राप्त हुई है, उस गुण को छोड़ दूसरे दुराचार में उसे स्थापित करना कैसी विपरीत बात है? शिष्य मूंडने और मान प्राप्त करने के तुच्छ लोभ में तुम अपने निर्मल स्वरूप को भूल रहे हो।

"मैं अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर कर अपने अन्य शिष्यों को भी धर्म में स्थिर करूंगा" ऐसी इच्छा से अभ्यास करना श्रुत समाधि का चौथा प्रकार है। हे मुनियो! आजकल कितने ही मुनियों का इस उत्तम प्रकार के प्रति दुर्लक्ष्य है। गुरु और शिष्य एक दूसरे का हित नहीं चाहते। गुरु की शुभ इच्छा को शिष्य अशुभ मानता है। हे मुनियो! तुम्हें इस श्रुत समाधि के पवित्र हेतु की तरफ सावधान रहना चाहिये और जिस प्रकार इस पवित्र हेतु का पालन हो सके, उसी प्रकार का प्रवर्तन करना चाहिये।

इस श्रुत समाधि के चार प्रकारों को बताते हुए महोपकारी शय्यंभव सूरि ने निम्न स्मरणीय गाथा कही है—

"नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावई परं ।
सुआणि अ अहिज्जिता, रओ सुअसमाहिए ।।"

अर्थात् जो एकाग्रचित्त होकर ज्ञान प्राप्त करे, ज्ञान में स्थिर होकर अन्य को ज्ञान में स्थिर करे और नाना प्रकार के श्रुत का अध्ययन करे, वह श्रुत समाधि में तत्पर गिना जाता है।

हे मुनियो ! तीसरी तप समाधि भी चार प्रकार की है। जो इस लोक के लिये लब्धि प्राप्त कर इस लोक के कार्य सिद्ध करने के लिये तपस्या न करे, तो वह तप समाधि का पहला प्रकार है। यदि कोई मुनि लोक के फल प्राप्त करने के लिये किसी प्रकार की तपस्या करता है तो वह तप समाधि से भ्रष्ट गिना जाता है। जो ब्रह्मदत्त की तरह परलोक के लिये तपस्या न करे तो यह तप समाधि का दूसरा प्रकार है। यदि कीर्ति, वर्ण और स्तुति के लिये तपस्या न करे तो यह तप समाधि का तीसरा प्रकार है, और यदि कर्म निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतु से तपस्या न करे तो यह तप समाधि का चौथा प्रकार कहाता है। हे मुनियो ! तपस्या के इन चारों प्रकारों को ध्यान में रख कर तपस्या करना शुद्ध धर्म है। इस पवित्र हेतु को ध्यान में रखे बिना जो तपस्या करते हैं, वह सब वृथा परिश्रम ही है। इस विषय में ग्रन्थकार निम्न गाथा कहते हैं—

"विविह गुण तवो रए निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।
तवसा धुणइ पुराण पावगं, जुत्तो सया तव समाहिए ।।"

अर्थात् जो विविध प्रकार के तप करते हुए इस लोक में किसी प्रकार के फल की प्राप्ति की आशा नहीं रखता, जो निर्जरार्थी तप द्वारा पूर्वकृत पुराने पापों को दूर करता है और नये पापों को नहीं बांधता, ऐसा तप समाधियुक्त कहलाता है।

चौथी आचार समाधि भी चार प्रकार की है। 1. इस लोक के लिए मूल गुण आदि आचार न करे, 2. परलोक के लिये आचार न करे, 3. कीर्ति, वर्ण, शब्द और प्रशंसा के लिये आचार न करे, और 4. अरिहंत प्रभु द्वारा प्ररूपित सिद्धांत में वर्णित हेतु के सिवाय आचार न करे। ये आचार समाधि के चार भेद हैं। अर्थात् मोक्ष-हेतु के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के हेतु के बिना आचार का पालन करने से मुनियों का चारित्र विशेष रूप से प्रकाशित होता है। हे मुनियो ! वर्तमान काल में कितने ही साधु अपनी कीर्ति बढ़ाने या प्रशंसा प्राप्त करने के लिये चारित्राचार का पालन करते हैं, यह बिल्कुल आगम-विरुद्ध है। महोपकारी सूत्रकार ने आचार समाधि के लिये निम्न गाथा कही है—

"जिणवयणरए अतितिणे, पडिपुन्नायइ माययट्ठिए।
आयार समाहि संवुडे, भवइ यदंते भावसंधए" ।।

अर्थात् जो मुनि जिन भगवान द्वारा कहे हुए आगमों के विषयों में अनुरक्त हैं, जो बार-बार कटु वचन नहीं कहते, जो आगम ज्ञान से परिपूर्ण हैं, मोक्षार्थी हैं, इन्द्रियों और मन को वश में रखने वाले हैं और जो अपनी आत्मा को मोक्ष के समीप ले जाने वाले हैं, ऐसे साधु आचार समाधि में तत्पर होते हैं।

हे मुनियो ! इस प्रकार विनय, तप, श्रुत और आचार समाधि को संपादन कर तुम अपने चारित्र को निर्मल करो। इन चारों समाधि के उत्तम गुण जब आपके हृदय में स्थापित होंगे, तब आप ऐसा कलह कभी नहीं करेंगे और न फिर आपके निर्मल हृदय में ऐसे हल्के विचार ही पैदा होंगे।

हे मुनियो ! इन चार समाधि का सम्पादन कर आप अपने चारित्र के उत्तम फल को प्राप्त न कर सकेंगे। इस विषय में सूत्रकार नौवें 'विनय समाधि' अध्ययन की अंतिम दो गाथायें लिखते हैं—

"अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहि अप्पओ ।
विउल हिअं सुहावहं पुणो, कुव्वइ अ सो पयखेममप्पणो ।।"

जो मुनि विनय, श्रुत, तप और आचार इन चार समाधिओं को प्राप्त कर मन वचन और काया से पवित्र होते हैं तथा सत्तर प्रकार के संयम में स्थिर रहते हैं, वे मुनि अपना विपुल हितकारी सुख प्राप्त करते हैं और अपनी आत्मा को कुशल स्थान—मोक्ष की तरफ प्रेरित करते हैं" ।

जाइ मरणाओ मुच्चइ, इत्थथं च चयइ सव्वसो ।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महड्ढिए त्तिबेमि ।।

इन चार समाधियों को प्राप्त करने वाला मुनि जन्म-मरण से मुक्त होता है। जिससे नरक और तिर्यंच की गति प्राप्त होती है, उसका सर्व प्रकार से त्याग करते हैं, फिर शाश्वत सिद्ध होते हैं अथवा अल्पकाम विकार रहित महर्द्धिक देवता बनता है ।

हे मुनियो ! इस प्रकार इन गाथाओं के भावार्थ को ध्यान में रख कर तुम अपने मुनि जीवन को उच्चस्तर में स्थिर करो । यदि तुम्हें अपने चारित्र को सफल करना हो तो इस नौवें 'विनय समाधि' अध्ययन का विशेष अभ्यास कर सर्वदा उसका मनन करो । महोपकारी शय्यंभव सूरि ने सर्व मुनि मंडल के उद्धार के लिये इस महासूत्र की प्ररूपणा की है जिसमें आर्हत-वाणी को गूंथा है, जिससे सर्व आर्य भूमि के मुनि-मंडलों के लिये महान् उपकार है । हे मुनियो ! इस कलह को शांत कर अपने कर्त्तव्य में संलग्न हो चारित्र के उच्च प्रवर्तन में तत्पर हो अपने अनगार जीवन को सार्थक करो । अब मेरी यहाँ से प्रवास करने की इच्छा है ।" इतना कहकर वह महादेवी सभी श्रावकों और मुनियों की दृष्टि से अदृश्य हो गई ।

चौथी आचार समाधि भी चार प्रकार की है। 1. इस लोक के लिए मूल गुण आदि आचार न करे, 2. परलोक के लिये आचार न करे, 3. कीर्ति, वर्ण, शब्द और प्रशंसा के लिये आचार न करे, और 4. अरिहंत प्रभु द्वारा प्ररूपित सिद्धांत में वर्णित हेतु के सिवाय आचार न करे। ये आचार समाधि के चार भेद हैं। अर्थात् मोक्ष-हेतु के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के हेतु के बिना आचार का पालन करने से मुनियों का चारित्र विशेष रूप से प्रकाशित होता है। हे मुनियो ! वर्तमान काल में कितने ही साधु अपनी कीर्ति बढ़ाने या प्रशंसा प्राप्त करने के लिये चारित्राचार का पालन करते हैं, यह बिल्कुल आगम-विरुद्ध है। महोपकारी सूत्रकार ने आचार समाधि के लिये निम्न गाथा कही है—

"जिणवयणरए अतितिणे, पडिपुन्नायइ माययट्ठिए।
आयार समाहि संवुडे, भवइ यदंते भावसंधए" ॥

अर्थात् जो मुनि जिन भगवान द्वारा कहे हुए आगमों के विषयों में अनुरक्त हैं, जो बार-बार कटु वचन नहीं कहते, जो आगम ज्ञान से परिपूर्ण हैं, मोक्षार्थी हैं, इन्द्रियों और मन को वश में रखने वाले हैं और जो अपनी आत्मा को मोक्ष के समीप ले जाने वाले हैं, ऐसे साधु आचार समाधि में तत्पर होते हैं।

हे मुनियो ! इस प्रकार विनय, तप, श्रुत और आचार समाधि को संपादन कर तुम अपने चारित्र को निर्मल करो। इन चारों समाधि के उत्तम गुण जब आपके हृदय में स्थापित होंगे, तब आप ऐसा कलह कभी नहीं करेंगे और न फिर आपके निर्मल हृदय में ऐसे हल्के विचार ही पैदा होंगे।

हे मुनियो ! इन चार समाधि का सम्पादन कर आप अपने चारित्र के उत्तम फल को प्राप्त न कर सकेंगे। इस विषय में सूत्रकार नौवें 'विनय समाधि' अध्ययन की अंतिम दो गाथायें लिखते हैं—

"अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहि अप्पओ ।
विउल हिअं सुहावहं पुणो, कुव्वइ अ सो पयखेमप्पणो ।।"

जो मुनि विनय, श्रुत, तप और आचार इन चार समाधिओं को प्राप्त कर मन वचन और काया से पवित्र होते हैं तथा सत्तर प्रकार के संयम में स्थिर रहते हैं, वे मुनि अपना विपुल हितकारी सुख प्राप्त करते हैं और अपनी आत्मा को कुशल स्थान—मोक्ष की तरफ प्रेरित करते हैं" ।

जाइ मरणाओ मुच्चइ, इत्थथं च चएइ सव्वसो ।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महड्ढिए त्तिबेमि ।।

इन चार समाधियों को प्राप्त करने वाला मुनि जन्म-मरण से मुक्त होता है । जिससे नरक और तिर्यंच की गति प्राप्त होती है, उसका सर्व प्रकार से त्याग करते हैं, फिर शाश्वत सिद्ध होते हैं अथवा अल्पकाम विकार रहित महर्द्धिक देवता बनता है ।

हे मुनियो ! इस प्रकार इन गाथाओं के भावार्थ को ध्यान में रख कर तुम अपने मुनि जीवन को उच्चस्तर में स्थिर करो । यदि तुम्हें अपने चारित्र को सफल करना हो तो इस नौवें 'विनय समाधि' अध्ययन का विशेष अभ्यास कर सर्वदा उसका मनन करो । महोपकारी शय्यंभव सूरि ने सर्व मुनि मंडल के उद्धार के लिये इस महासूत्र की प्ररूपणा की है जिसमें आर्हत-वाणी को गूंथा है, जिससे सर्व आर्य भूमि के मुनि-मंडलों के लिये महान् उपकार है । हे मुनियो ! इस कलह को शांत कर अपने कर्त्तव्य में संलग्न हो चारित्र के उच्च प्रवंतन में तत्पर हो अपने अनगार जीवन को सार्थक करो । अब मेरी यहाँ से प्रवास करने की इच्छा है ।" इतना कहकर वह महादेवी सभी श्रावकों और मुनियों की दृष्टि से अदृश्य हो गई ।

प्रवास (13)

निर्मल जल वाहिनी नदी के तट पर सुन्दर शहर बसा हुआ था जिसमें जैन प्रजा अधिक मात्रा में थी। जैन प्रजा की वस्ती में तीन उपाश्रय और दो पोषधशाला थीं। उसी के पास साध्वियों के लिये एक छोटा उपाश्रय था, जिसमें साध्वियां नियमित रहती थीं।

एक शांत उपाश्रय में दस साधु ठहरे हुए थे। उनमें से एक वृद्ध मुनि सब से वरिष्ठ थे। दूसरे नौ मुनि उनके उपाश्रय में रहने वाले थे। नौ में से चार मुनि वृद्ध मुनि के शिष्य थे। अन्य पांच मुनि शिष्यों के शिष्य थे। इस प्रकार शिष्य-प्रशिष्यों के परिवार के साथ वे वृद्ध मुनि उस उपाश्रय में ठहरे हुए थे। धनवान श्रावकों को अपने भक्त बनाकर वे अपना आत्म-गौरव बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे।

एक समय दसों मुनि उपाश्रय में एकत्रित होकर विचार-विनिमय कर रहे थे। वरिष्ठ मुनि उच्च आसन पर बैठे थे और उनके समक्ष दूसरे मुनि अपने योग्य स्थानों पर बैठे थे उस वक्त वरिष्ठ मुनि को उनके एक शिष्य ने नम्रता से कहा, "महाराजजी ! कल किस मुनि को योग वहन कराने की इच्छा है ?" वरिष्ठ मुनि ने उत्तर दिया, "मेरी इच्छा ऐसी है कि सुमति विजय के शिष्य क्षमा विजय और देव विजय के शिष्य सुर विजय और तुम्हारे गुरुभाई विनोद विजय, इन तीनों को योग वहन करवाना है और उत्तरोत्तर आगे बढ़ाकर अच्छे पद पर लाना है।

वरिष्ठ मुनि के विचार सुनकर उनके मुख्य शिष्य दया-विजय ने क्रुद्ध होकर कहा, "महाराजजी ! आप बड़े हैं, अत:

आपको क्या कहें, पर इस बात में स्पष्ट पक्षपात है, क्योंकि मेरे शिष्य पद्म विजय को योग वहन कराना चाहिये। वह योग वहन करने में भली प्रकार शक्ति संपन्न है। फिर मैं तो आपका मुख्य शिष्य हूं, इससे मेरे शिष्य को लाभ देना ही चाहिये।"

वरिष्ठ मुनि ने हंसते हुए कहा, "दया विजय तू बड़ा होकर इस पर सोचता क्यों नहीं? तेरा शिष्य पद्म विजय बिल्कुल अयोग्य है। उसे तो अभी प्रत्याख्यान करना भी नहीं आता। ऐसे अयोग्य मुनि को योग वहन करवा कर अच्छा पद कैसे प्रदान किया जा सकता है?

दया विजय उच्च स्वर में बोला, "महाराजजी! यदि आप योग्य-अयोग्य का विचार करें तो दूसरे कौन से मुनि योग्य हैं? सुमति विजय के शिष्य क्षमा विजय मुश्किल से पंच प्रतिक्रमण तक पढ़े है। देव विजय के शिष्य सुर विजय कितने पढ़े हैं, यह तो हम अच्छी तरह समझते हैं। मेरा गुरु भाई विनोद विजय तो ऐसा बुद्धिमान है कि प्रत्येक चातुर्मास में शास्त्री के पास सुबोधिका पढ़ता है। जब ऐसे मुनियों को आप योग वहन करवाते हैं, तब मेरे शिष्य पद्म विजय को क्यों योग वहन नहीं करवाते?

वरिष्ठ मुनि ने म्लान होकर कहा, "दया विजय, तेरी बात ठीक है, पर तेरे शिष्य पद्म विजय से वे अच्छे हैं। फिर तेरा शिष्य पद्म विजय थोड़ा अहंकारी और अविनीत भी है। उसने एक बार मुझे भी जवाब दिया था।"

वरिष्ठ मुनि के वचन सुनकर पद्म विजय बोला, "महाराजजी! जब मैं आपके सामने बोला था तब मेरी तबियत ठीक नहीं थी। फिर आपने भी मुझे बहुत कठोर वचन कहे थे। फिर भी मैंने उस समय आपसे क्षमा मांगी थी। उस बात को तो आज काफी समय बीत चुका है। इस समय उस बात का विचार कर मुझे योग वहन नहीं करवाना बहुत ही अयोग्य बात है।"

वरिष्ठ मुनि ने उच्च स्वर से कहा, "पद्म विजय अधिक मत बोल ! मेरे सामने तुझे एक शब्द भी नहीं बोलना चाहिये। मैं कौन हूं, इसका विचार कर। मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूंगा। यदि तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन करेगा तो तुझे संघाडा से अलग कर दूंगा।

वरिष्ठ मुनि के वचन सुनकर पद्म विजय चुप हो गया। पर उसके गुरु दया विजय के हृदय में क्रोध आ गया, उसने भृकुटि चढ़ाकर गुरु से कहा, "महाराजजी ! मर्यादा में रहें। नहीं तो आपकी प्रतिष्ठा भंग होगी। मुझे आपकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आप साथ नहीं रखेंगे तो मैं विहार कर दूसरी जगह चला जाऊंगा। मेरे इस शिष्य पद्म विजय को यदि मुझे योग करवाना होगा तो मुझे दूसरे योग वाहक मिल जायेंगे। तुम्हारे जैसे अन्यायी और पक्षपाती गुरु के साथ रहने से तो अन्य संघाड़े के साधु के साथ रहना अधिक अच्छा रहेगा। जिस घर में सांप रहता हो, वह घर अपना हो तो भी उसे छोड़ देना चाहिये।"

दया विजय के उपर्युक्त वचन सुनकर वरिष्ठ मुनि को अधिक गुस्सा आ गया। क्रोधावेश में उन्होंने कहा, "अरे अविनीत साधु जा, यहां से चला जा। तेरे जैसे अयोग्य मुनि को साथ में रखने की मेरी इच्छा नहीं है। तेरे जैसे अविनीत शिष्य का गुरु बनने में भी शर्म आती है। जा, हमारे इस उपाश्रय से दूर हो, मैं तेरे मलिन मुँह को नहीं देखना चाहता।"

गुरु के कठोर वचन सुनकर दया विजय को और भी क्रोध चढा। वह खड़ा होकर बोला, "महाराज ! आप क्या समझते हैं ? मेरी इच्छा होगी तो जाऊंगा, नहीं तो आप तो मुझे नहीं निकाल सकते। यह उपाश्रय कोई आपका नहीं है, इस पर पूरे संघ का अधिकार है और मैं भी संघ का एक सदस्य हूं।"

दया विजय के वचन सुनकर वरिष्ठ मुनि ने दूसरे मुनियों के सामने देखा तो सब मुनि दया विजय के पक्ष में हो गये।

यह सब दृश्य पवित्र दीक्षाकुमारी ने अदृश्य रहकर फिरते-फिरते इस नगर के उपाश्रय में प्रविष्ट होकर देखा। जब सब मुनि इकट्ठे होकर दया विजय के पक्ष में हो गये तब महादेवी ने अदृश्य रहकर गाथा कही—

"हत्थसंजए पायसंजये, वायसंजये संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमहिअप्पा, तत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ।।"

इस ध्वनि को सुनते ही सभी मुनि चकित हो गये। उनमें से किसी ने भी इस गाथा का अर्थ नहीं समझा। वे सभ्रांत होकर चारों ओर देखने लगे। इतने में ही दीक्षाकुमारी प्रकट होकर उनके समक्ष खड़ी हो गई। उसकी दिव्य और तेजस्वी मूर्ति को देखकर वे सब विचार में पड़ गये। थोड़ी देर भय-भीत होकर वे स्तब्ध हो गये। ज्ञानबल से मुनियों के मन की बात जानकर दीक्षाकुमारी ने उच्च स्वर में कहा, "अरे मुनियो! यह क्या कर रहे हो! जैन मुनि कभी भी ऐसा अनुचित कार्य नहीं करते। तुम्हें हमेशा शांति रखनी चाहिये। शांति और समता यही तुम्हारा शुद्ध स्वरूप है। जैन मुनियों के उपाश्रय में ऐसा कलह हो, यह तो बहुत ही अफसोस की बात है। तुम्हारे शांत स्वरूप में ऐसा प्रचण्ड क्रोध दिखाई नहीं देना चाहिये। जैन मुनियों के हृदय में शांत रस का अमृतमय प्रवाह बहता रहता है, वहां तो क्रोध रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित हो ही नहीं सकती। कहां शांति और कहां क्रोध? यह उपाश्रय की पवित्र भूमि किसलिये है? यह शांतिमय संयम धर्म की आराधना के लिये है, यह कोई अपवित्र युद्ध भूमि नहीं है। ऐसी पवित्र भूमि पर निवास करने वाले जैन मुनि कभी ऐसी कठोर वाणी नहीं बोल सकते और न किसी चारित्रधारी मुनि पर हमला करने की तैयारी ही कर सकते हैं। ऐसा अपकृत्य करते हुए तुम्हें शर्म आनी चाहिये।

हे मुनियो! मुझे देख कर तुम चकित हुए होगे। तुम्हारे कषाय युक्त मन मेरे अद्‌भुत स्वरूप को देखकर सभ्रांत बने

होंगे। अतः मुझे अपना स्वरूप तुम्हें बताना चाहिये। मैं दीक्षाकुमारी नामक वीर धर्म की एक देवी हूं। वर्तमान काल में तुम्हारे जैसे विपरीत प्रवृत्ति करने वाले जैन मुनियों को शिक्षा देने के लिये ही मेरा अवतार हुआ है। जो मुनि मेरी शिक्षा को मान्यकर, स्वधर्म में चलेंगे, उन्हें मैं अच्छी तरह रखूंगी और जो उद्धत होकर मेरी शिक्षा का अनादर करेंगे, उनके शरीर से मैं अपना स्वरूप वापस खींच लूंगी।

दीक्षाकुमारी के भयोत्पादक वचन सुनकर वे दसों मुनि भय से आकुल-व्याकुल हो गये। उनमें से वरिष्ठ मुनि ने मन्द स्वर में नम्रता से कहा, "धर्म-माता ! आपका स्वरूप हम पहचान गये हैं। आपके दिव्य दर्शन से हम पवित्र हुए। महेश्वरी ! हमारे अपराध क्षमा कर हमारा उद्धार करिये। आपके जैसे उत्तम शिक्षक के बिना हम सब उन्मत्त हो गये हैं और अपने परम पवित्र चारित्र धर्म को भूल गये हैं। हे धर्म माता, हमें उत्तम बोध देकर हमारे अज्ञान को दूर करिये। आपके स्वरूप के प्रभाव से ही हमें संसार में मान प्राप्त होता है। वर्तमान काल के प्रभाव ने हमें हरा दिया है, उसने हमें निस्तेज, अबोध और मूर्ख बना दिया है। हे दयालु देवी ! ऐसे कठिन समय में आप हमारी रक्षा करें। दुष्ट दुराचार के पाश में फंसे हुए हमें बचाइये।"

मुनियों के नम्र वचन सुनकर दीक्षादेवी शांत होकर बोली, "मुनियो ! थोड़ी देर पहले मैंने तुम्हें जो गाथा सुनाई थी उसका अर्थ तुम समझे या नहीं ?"

वरिष्ठ मुनि ने उत्तर दिया, "महादेवी ! इस गाथा का अर्थ हमारी समझ में नहीं आया क्योंकि हमारा अभ्यास बहुत कम है।"

दीक्षाकुमारी—"तुमने कहां तक अभ्यास किया है और तुम्हारा नाम क्या है ?"

वरिष्ठ मुनि—"मेरा नाम विबुध विजय पन्यास है। ये सब मेरे शिष्य-प्रशिष्य हैं। पंचप्रतिक्रमण, जीवविचार, नवतत्व, दंडक तथा संघयणी आदि का मैंने अच्छा अभ्यास किया है।"

दीक्षाकुमारी—"तुम संस्कृत भाषा जानते हो या नहीं ?"

विबुध विजय—"संस्कृत में चंद्रिका का आरम्भ किया था, पर अच्छे शास्त्रियों का योग नहीं बैठने से वह पूरा न हो सका।"

दीक्षाकुमारी—"तुमने चंद्रिका का आरम्भ कहां पर किया था, और अच्छे शास्त्रों का योग कहां नहीं मिला ?"

विबुध विजय—"जब मैं अपने गुरु के पास था तब मैंने चंद्रिका का अभ्यास उनके पास ही प्रारम्भ किया था, पर उनके अन्य प्रवृत्तियों में व्यस्त होने से मेरा अभ्यास बन्द हो गया।"

दीक्षाकुमारी—"तुम्हारे गुरु कौनसी प्रवृत्तियों में व्यस्त थे"।

विबुध विजय—"उन्होंने किसी गृहस्थ के पुत्र को उसके माता-पिता की आज्ञा बिना दीक्षा दे दी, जिससे उस गृहस्थ ने उनके विरुद्ध न्यायालय में प्राथना-पत्र दिया था, इसी से गांव का सब संघ उनके विरुद्ध हो गया था। इस प्रवृत्ति के कारण वे मुझे चंद्रिका का अभ्यास नहीं करा सके। फिर मैं किसी शास्त्री को ढूंढने लगा पर चंद्रिका का अभ्यास कराने वाला कोई शास्त्री नहीं मिल सका, जिससे मेरा अभ्यास बन्द हो गया।"

दीक्षाकुमारी—"तुम्हारे इन शिष्यों को क्या अभ्यास है?"

विबुध विजय—"मेरे इन शिष्यों में सब को थोड़ा-थोड़ा अभ्यास है। इस सुमति विजय ने चंद्रिका की पंचसंधि पूर्ण की है और नव स्मरण का पाठ उसे कंठस्थ है। यह देव विजय

होंगे। अत: मुझे अपना स्वरूप तुम्हें बताना चाहिये। मैं दीक्षाकुमारी नामक वीर धर्म की एक देवी हूं। वर्तमान काल में तुम्हारे जैसे विपरीत प्रवृत्ति करने वाले जैन मुनियों को शिक्षा देने के लिये ही मेरा अवतार हुआ है। जो मुनि मेरी शिक्षा को मान्यकर, स्वधर्म में चलेंगे, उन्हें मैं अच्छी तरह रखूंगी और जो उद्धत होकर मेरी शिक्षा का अनादर करेंगे, उनके शरीर से मैं अपना स्वरूप वापस खींच लूंगी।

दीक्षाकुमारी के भयोत्पादक वचन सुनकर वे दसों मुनि भय से आकुल-व्याकुल हो गये। उनमें से वरिष्ठ मुनि ने मन्द स्वर में नम्रता से कहा, "धर्म-माता! आपका स्वरूप हम पहचान गये हैं। आपके दिव्य दर्शन से हम पवित्र हुए। महेश्वरी! हमारे अपराध क्षमा कर हमारा उद्धार करिये। आपके जैसे उत्तम शिक्षक के बिना हम सब उन्मत्त हो गये हैं और अपने परम पवित्र चारित्र धर्म को भूल गये हैं। हे धर्म माता, हमें उत्तम बोध देकर हमारे अज्ञान को दूर करिये। आपके स्वरूप के प्रभाव से ही हमें संसार में मान प्राप्त होता है। वर्तमान काल के प्रभाव ने हमें हरा दिया है, उसने हमें निस्तेज, अबोध और मूर्ख बना दिया है। हे दयालु देवी! ऐसे कठिन समय में आप हमारी रक्षा करें। दुष्ट दुराचार के पाश में फंसे हुए हमें बचाइये।"

मुनियों के नम्र वचन सुनकर दीक्षादेवी शांत होकर बोली, "मुनियो! थोड़ी देर पहले मैंने तुम्हें जो गाथा सुनाई थी उसका अर्थ तुम समझे या नहीं?"

वरिष्ठ मुनि ने उत्तर दिया, "महादेवी! इस गाथा का अर्थ हमारी समझ में नहीं आया क्योंकि हमारा अभ्यास बहुत कम है।"

दीक्षाकुमारी—"तुमने कहां तक अभ्यास किया है और तुम्हारा नाम क्या है?"

वरिष्ठ मुनि—"मेरा नाम विबुध विजय पन्यास है। ये सब मेरे शिष्य-प्रशिष्य हैं। पंचप्रतिक्रमण, जीवविचार, नवतत्व, दंडक तथा संघयणी आदि का मैंने अच्छा अभ्यास किया है।"

दीक्षाकुमारी—"तुम संस्कृत भाषा जानते हो या नहीं ?"

विबुध विजय—"संस्कृत में चंद्रिका का आरम्भ किया था, पर अच्छे शास्त्रियों का योग नहीं बैठने से वह पूरा न हो सका।"

दीक्षाकुमारी—"तुमने चंद्रिका का आरम्भ कहां पर किया था, और अच्छे शास्त्रों का योग कहां नहीं मिला ?"

विबुध विजय—"जब मैं अपने गुरु के पास था तब मैंने चंद्रिका का अभ्यास उनके पास ही प्रारम्भ किया था, पर उनके अन्य प्रवृत्तियों में व्यस्त होने से मेरा अभ्यास बन्द हो गया।"

दीक्षाकुमारी—"तुम्हारे गुरु कौनसी प्रवृत्तियों में व्यस्त थे"।

विबुध विजय—"उन्होंने किसी गृहस्थ के पुत्र को उसके माता-पिता की आज्ञा बिना दीक्षा दे दी, जिससे उस गृहस्थ ने उनके विरुद्ध न्यायालय में प्राथना-पत्र दिया था, इसी से गांव का सब संघ उनके विरुद्ध हो गया था। इस प्रवृत्ति के कारण वे मुझे चंद्रिका का अभ्यास नहीं करा सके। फिर मैं किसी शास्त्री को ढूंढने लगा पर चंद्रिका का अभ्यास कराने वाला कोई शास्त्री नहीं मिल सका, जिससे मेरा अभ्यास बन्द हो गया।"

दीक्षाकुमारी—"तुम्हारे इन शिष्यों को क्या अभ्यास है ?"

विबुध विजय—"मेरे इन शिष्यों में सब को थोड़ा-थोड़ा अभ्यास है। इस सुमति विजय ने चंद्रिका की पंचसंधि पूर्ण की है और नव स्मरण का पाठ उसे कंठस्थ है। यह देव विजय

बहुत बढ़ने योग्य है, पर उसे बहुत काम है जिससे पढ़ने का समय ही नहीं मिलता ।"

दीक्षाकुमारी—"मुनि के साधु बनने के बाद क्या काम हो सकता ? काम तो संसारी का होता है, साधु को तो ज्ञान, ध्यान और सेवा ही काम है ।"

विबुध विजय—"हां, यह बात ठीक है, साधु को संसारी जैसा काम तो नहीं होता, पर साधुपन से सलग्न कितना ही काम होता । उसे मेरी सेवा करने में ही अधिक समय लग जाता है ।"

दीक्षाकुमारी—"इतने सारे मुनियों के होते हुए तुम्हारी सेवा का सारा भार उसी पर क्यों है ?"

विबुध विजय—"महादेवी ! मेरे सब शिष्यों में वह बहुत ही समझदार और मेरी इच्छा को जानने वाला है । मुझे कौनसी वस्तु चाहिये, आहार कैसा चाहिये और मुझे किस प्रकार साता प्राप्त हो, यह सब बात अकेला दिग्विजय ही जानता है । इसके अतिरिक्त कोई भी गुप्त बात करनी हो या कोई सलाह मशविरा करना हो तो वह उसी के साथ हो सकती है । अथवा मेरी तरफ से विदेश में कुछ पत्र-व्यवहार करना हो तो वह भी दिग्विजय ही करता है । इससे यह साधु बुद्धिमान होकर भी पढ़ नहीं सका ।"

दीक्षाकुमारी—"अरे मोहित मुनि ! तुम्हारे मुंह से यह वृत्तांत सुनकर मेरा अफसोस और बढ़ा है । तुमने अपने पवित्र जीवन को विपरीत मार्ग में लगाया है । तुम्हारी यह प्रवृत्ति अनगार होकर भी सागार (गृहस्थ) जैसी है । तुम पांच महा-व्रतधारी और सावद्य कर्म का त्याग करने वाले हो । तुम्हारे जैसे मुनि को ऐसी प्रवृत्ति कैसे शोभा दे सकती है ? तुम्हारी सेवा करने के लिये एक विशेष व्यक्ति चाहिये, यह कैसी विरुद्ध बात है ? फिर तुम्हें पत्र व्यवहार की भी क्या आवश्यकता है?

तुम्हें गुप्त बात या सलाह करने की क्या आवश्यकता? यह सब तो संसारी गृहस्थ के कार्य हैं। साधु के योग्य नहीं। हे मुनि! तुम अपने इस शिष्य के ज्ञान में अंतराय बने हो। अब ऐसा अनुचित कार्य मत करना। फिर मुझे तुम्हें कहना है कि तुम अपने इन शिष्यों को योगवहन करवा कर गणि पन्यास आदि के पद देने को तत्पर हुए हो, यह तुम्हारी बड़ी भूल है। जब तक सब प्रकार की योग्यता प्राप्त न हुई हो, तब तक गणि या पन्यास पद देना शासन का उपहास कराना है। पंच प्रतिक्रमण भी पूरे शुद्ध न आते हों और व्याकरण में पंच-संधि तक का ज्ञान न हो ऐसे मुनि को योगवहन करा कर पन्यास पद दे देना बहुत अनुचित है।

हे मुनियो! मेरे द्वारा कथित सरल गाथा का अर्थ भी तुम में से कोई नहीं जानता और ऐसे साधुओं को तुम उत्तम पद देने के लिये योग वहन करवाने को तैयार हुए हो, यह बहुत ही अफसोस की बात है। इतना ही नहीं, तुमने स्वयं भी तो उस गाथा का अर्थ नहीं समझा है, जिससे कि तुम स्वयं पन्यास बनकर दूसरों को पन्यास बनाने में समर्थ हो सको। यह कैसा साहस, कैसा अविचार और कैसी तुच्छ वृत्ति है? हे अनगारो! तुम्हारे जैसे साधुओं को तो अवश्य ही दंड देना चाहिये।"

दीक्षाकुमारी के उपर्युक्त वचन सुनकर मुनि खेद पूर्वक नीचा मुंह कर खड़े हो गये। उनके हृदय में बहुत ही लज्जा उत्पन्न हुई। थोड़ी देर बाद वरिष्ठ पन्यासजी ने मंद स्वर में कहा, "धर्म माता क्षमा करें! अब से इस प्रवृत्ति का मैं त्याग करता हूं। वर्तमान काल के विपरीत प्रभाव से मैं ऐसे अनुचित आचरण में संलग्न हो गया था। मेरी मनोवृत्ति पर अहंकार, अविनय और अनाचार की मलिन छाया पड़ी है और मैं सन्मार्ग का उल्लंघन करने को तैयार हुआ। मलिन छाया से हमारी बुद्धि जड़ हो गई। महेश्वरी, कृपा कर हमें उस पूर्वोक्त गाथा का अर्थ समझाइये और हमारे हृदय में से अनाचार को दूर करने के लिये उत्तम उपदेश दीजिये। हमारे हृदय पश्चाताप से परिपूर्ण हुए

हैं और हमारी मनोवृत्ति पश्चातापरूपी अग्नि से दग्ध हो रही है। हे क्षमाकर्त्री महादेवी! हमारे घोर अपराध को क्षमा कर, हमें उपदेश दीजिये। हम आपके आश्रित हैं। आश्रित को शरण देना महात्माओं का धर्म है।"

वरिष्ठ मुनि की ऐसी हीनतापूर्ण वाणी सुनकर दीक्षाकुमारी ने दया पूर्वक कहा, "हे मुनियो! तुम्हारे मन के शुभ परिणाम देखकर मुझे संतोष हुआ। अब सावधान होकर पूर्वोक्त गाथा का अर्थ सुनो—

"जो मुनि हाथ-पांव चलाने में सावधानी रखता है, वचन बोलने में सावधानी रखता है, सब इन्द्रियों को वश में रखता है, अपने आत्मा के गुणों को दृढ़ रखता है और सूत्र और अर्थ को ठीक तरह से जानता है, वह सच्चा साधु है।"

हे मुनियो! इस गाथा के अर्थ का विचार करें। प्रत्येक जैन मुनि को मन, वचन और काया से संयमित होकर रहना चाहिये। इस समय तुम गुरु-शिष्य जो अघटित बोल रहे थे और योग वहन की क्रिया में पक्षपात कर रहे थे तुम्हारा यह आचरण मुनि धर्म के एकदम विरुद्ध था। मुनि के मुंह से अघटित वचन निकलने ही नहीं चाहिये। उसके साथ ही किसी को जोर से पकड़ना या खींचना जैसी हाथ-पांव की क्रिया भी नहीं होनी चाहिये।

हे मुनियो! जैन मुनि को अपनी आत्मा के गुणों में दृढ होना चाहिये, ऐसा इस गाथा में दिखाया गया है। इसका भावार्थ यह है कि जैन मुनि को ज्ञानादि बढ़ाना चाहिये अर्थात् विद्या, विनय, विवेक आदि जो उत्तम गुण हैं, उनका संपादन करना। आगम की ऐसी आज्ञा होने पर भी तुम उस आज्ञा का उल्लंघन करते हो, यह कैसी अफसोस की बात है। तुम ज्ञान प्राप्ति में अवज्ञा दिखाते हो, अपना जो बुद्धिमान शिष्य है उसे अपनी सेवा में रख उसे ज्ञान से विमुख रखते हो, सर्व गुणों में प्रधान ऐसे ज्ञान गुण के बिना पन्यास वगैरह पदों के महान् गणों को

धारण करने के लिये तैयार होना और दूसरों को तैयार करना, तुम्हारी यह पद्धति बहुत ही शोचनीय है।

हे मुनियो ! इस प्रसंग को देखकर मुझे कहना पड़ता है कि तुम आचार से विपरीत व्यवहार कर रहे हो। जो सूत्र मुनि की शुद्ध समाचारी को बताने वाले हैं, तुम उन सूत्रों के नाम तक नहीं जानते, उनके श्रवण और मनन की तो बात ही दूर रही।

हे अनगारो ! मुझे तुम पर क्रोध नहीं, दया आ रही है। चारित्र जैसे निर्मल रत्न को प्राप्त कर तुम उससे भ्रष्ट होते हो तो तुम्हारी क्या गति होगी ? यदि तुम इसी प्रकार अनुचित प्रवृत्ति में रहोगे, तो तुम संसार और चारित्र दोनों से भ्रष्ट होकर दुर्गति को प्राप्त करोगे।

हे मुनियो ! अब तुम्हारे उद्धार का दूसरा उपाय नहीं, सिर्फ एक उत्तम उपाय है कि तुम परम पवित्र 'दशवैकालिक सूत्र' का श्रवण-मनन करने के लिये तैयार हो जाओ। जो मुनि बुद्धिमान है, उन्हें इस महासूत्र का अभ्यास करना चाहिये। इस महासूत्र के रचयिता श्री शय्यंभव सूरि ने इस ग्रन्थ की रचना कर भारत के सर्व मुनिमंडल का महान् उपकार किया है।

दीक्षाकुमारी के ऐसे सत्य हितकारी वचन सुनकर पन्यासजी ने विनय से कहा, "महादेवी ! आपके मुखश्री से निसृत वचन अक्षरसः सत्य हैं। अब कृपा कर इस महासूत्र का उपदेश दीजिये।

दीक्षाकुमारी ने आनन्द पूर्वक कहा, "मुनियो ! इस महासूत्र का सम्पूर्ण उपदेश दे सकूं, इतना मुझे समय नहीं है, फिर भी इसके अंतिम दसवें 'सभिक्षु' नामक अध्ययन का संक्षेप में उपदेश सुना रही हूं, तुम सावधान होकर सुनो। सच्चा जैन भिक्षु किसे कहना चाहिये, इसी बात को इस अध्ययन में बताया

गया है। मैंने अदृश्य रहकर तुम्हें जो गाथा सुनाई थी, वह भी इस अध्ययन में से थी।

उस 'सभिक्षु' अध्ययन की पहली गाथा में दिखाया गया है कि जिस गृहस्थ को दीक्षा लेनी हो, वह पहले तीर्थंकरों, गणधरों द्वारा दिये गये उपदेश के अनुसार अपनी योग्यता को जाँच ले। जव अपने को भली प्रकार विश्वास हो जाय कि मैं चारित्र धर्म का पूर्ण अधिकारी हो गया हूं तभी संसार का त्याग कर दीक्षा ले। दीक्षा लेने के वाद सर्वज्ञ भगवंत के वचनों के विषय में हमेशा तत्पर रहे। अर्थात् प्रभु ने आगमों द्वारा मुनि धर्म का जो रूप प्ररूपित किया है, उसके अनुसार प्रवृत्ति करे। दीक्षित मुनि को कभी भी स्त्रियों के वश नहीं होना चाहिये। वमन द्वारा निकाले गये भोजन की तरह त्यागे हुए भोगों का फिर से सेवन करने की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

हे मुनियो ! इस पर से तुम समझ गये होंगे कि दीक्षित मुनि को भगवान की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये। जो इस प्रकार प्रवृत्ति नहीं करते, वे अपने चारित्र को दूषित करते हैं, इस भाव को प्रदर्शित करने वाली 'सभिक्षु' अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

"निक्खम्म आणाइ यबुद्धवयणे,
निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा।
इत्थीणं वसं न आवि गच्छे,
वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥"

"सर्वज्ञ के उपदेश से अपनी योग्यता को जानकर दीक्षित मुनि हमेशा आगम के विषय में तत्पर रहे, स्त्रियों के वशीभूत न हो, और वमन किये हुए भोगों को फिर से सेवन न करे। जो मुनि इस प्रकार की प्रवृत्ति करते हैं, वे सच्चे साधु कहाते हैं।"

हे मुनियो ! इस गाथा में कहा है कि स्त्रियों के वशीभूत नहीं होना और वमन किये हुए भोगों को फिर से सेवन नहीं

करना, इस कथन पर तुम्हें गहन विचार करना चाहिये। जो मुनि दीक्षित होने के पश्चात् उन्मार्ग गामी बनते हैं, उसका कारण स्त्री प्रसंग ही है। कितने ही तुच्छ बुद्धि मुनि साधु वेष को छोड़कर फिर से गृहस्थ का वेष धारण कर लेते हैं उसका कारण उनकी महाव्रत लेने की अयोग्यता है। जब तक कोई व्यक्ति चारित्र लेने का पूर्ण अधिकारी न बना हो, तब तक ऐसे अल्पमति को जब गुरु शिष्य के लोभ से दीक्षा दे देते हैं, तब शासन की निंदा करवाने वाले ऐसे काण्ड घटित होते हैं।

हे मुनियो ! इसके बाद इस सूत्र में मुनि को षट्काय जीवों की रक्षा के लिये कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये, इस विषय पर विवेचन किया गया है, जिसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है:—

"जो मुनि सचित्त पृथ्वी को नहीं खोदे, दूसरों से नहीं खुदावे और खोदने का अनुमोदन भी न करे। सचित्त जल न पिये, न पावे और न पीने का अनुमोदन करे। अग्नि रूप शस्त्र को न जलावे, न जलवाने और न जलाने का अनुमोदन करे, ऐसा साधु सच्चा साधु है। जो मुनि अपने को पंखे से हवा न करे, न करवावे और न करने का अनुमोदन करे। स्वयं वनस्पति का छेदन न करे न करवावे और न अनुमोदन करे। कभी सचित्त वनस्पति को न छूए और न उसका आहार करे, ऐसा मुनि सच्चा साधु कहाता है। त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा न हो, इस प्रकार साधुओं को प्रवृत्ति करनी चाहिये, इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाला सच्चा साधु कहाता है। जो सर्वदा पृथ्वी आदि छ:काय जीवों को अपने समान समझता है, जो पांच महाव्रत का पालन करता है और जो पांच अस्रव से अलग रहता है, वह सच्चा साधु है।

हे मुनियो ! तुम्हें सर्वदा क्रोध आदि चार कषायों का त्याग करना चाहिये। सर्वज्ञ की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये। तुम्हें हमेशा अकिंचन रहकर अपने चारित्र को प्रकाशित करना चाहिये। कभी स्वर्ण, रौप्य आदि धन का

स्पर्श भी नहीं करना चाहिये और गृहस्थों के संबंध से दूर रहना चाहिये।

आजकल मुनि गृहस्थ श्रावकों से विशेष परिचय करते हैं। यह रिवाज चारित्र के बिल्कुल विरुद्ध है। इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा कहते हैं:—

"चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जाय रुवरयए गिहिजोगंवरिवज्जए जे स भिक्खू।।"

"जो क्रोधादि चार कषायों का त्याग करे, जो तीर्थंकर प्ररूपित आगम के अनुसार मन, वचन और काया के योग को स्थिर रखे, जो अकिंचन होकर स्वर्ण और रौप्य का त्याग करे और जो सर्वथा गृहस्थ से संबंधों का त्याग करदे, वह सच्चा भिक्षु कहाता है।"

हे मुनियो! तुम्हें अपने हृदय में सदा क्या विचार करना चाहिये, इस पर विचार करो। सम्यक् दृष्टि होकर यह सोचना चाहिये कि यह हेय अर्थात् त्याज्य है और यह उपादेय अर्थात् ग्राह्य है।' पुराने कर्म को खपाने वाला बाह्य और आभ्यंतर दो प्रकार का तप है और नये कर्म के बंध को रोकने में समर्थ संयम है। इस प्रकार की मान्यता वाला साधु मन, वचन और काय की तीन गुप्तियों से युक्त होकर तप द्वारा अपने पुराने पापों का नाश करता है। ऐसा साधु सच्चा भिक्षु कहाता है। इस विषय पर सूत्रकार ने निम्न गाथा कही है:—

"सम्मदिट्ठि सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ।
तवसा धुणइ पुराण पावगं,
मणवयकाय सुसंवुडे जे स भिक्खू।।"

"जो साधु सम्यक् दृष्टि होकर सर्वथा अमूढ़ बनकर ऐसा मानते हैं कि ज्ञान, तप और संयम है और मनोगुप्ति, वचन

गुप्ति व कायगुप्ति से युक्त होकर तपस्या से अपने पुराने पापों का नाश करते हैं, वे भिक्षु कहलाते हैं।"

हे मुनियो! तुम्हारे लिये सूत्रकार ने यह भी कहा है कि उत्तम साधु को विविध प्रकार के आहार, पानी, खाद्य, स्वाद्य आदि जो कुछ भी मिले, उसे दूसरे दिन के लिये नहीं रखे, न दूसरों के पास रखवावे और न ही यदि दूसरा कोई रखे तो उसका अनुमोदन करे। जो मुनि ऐसे अनाचार से दूर रहकर जो कुछ आहारादि मिले, उसे अपने स्वधर्मी साधुओं को निमंत्रण देकर उनके साथ भोजन करे और स्वाध्याय में तत्पर रहे, वह सच्चा साधु गिना जाता है।

हे मुनियो! तुम्हें कभी भी कलह नहीं करना चाहिये। दूसरों के साथ वाद विवाद कर क्रोधित नहीं होना चाहिये। इन्द्रियों को उद्धत न होने दे, राग आदि दूर करे, मन, वचन और काया के योग में संयत रहे, आकुल व्याकुल न हो और उचित व्यक्ति का अनादर न करे। इस प्रकार प्रवृत्ति करते वाला मुनि सच्चा साधु गिना जाता है।

हे मुनियो! वर्तमान काल में इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाले मुनि बहुत थोड़े दिखाई देते हैं। उपाश्रय की पवित्र भूमि में साधु परस्पर कलह करते और ईर्ष्या से वाद विवाद करते हुए नजर आते हैं। जिन मुनियों को हमेशा शांत रहना चाहिये, वे क्रोधातुर दिखाई दे रहे हैं। इस पद्धति से वर्तमान काल के चारित्र दूषित हो रहे हैं। ऐसे ही उपदेश के लिये महोपकारी शय्यंभव सूरि ने निम्न गाथा कही।

"नय वुग्गाहिअं कहं कहिज्जा,
नय कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमे धुवं जोगेण, जुत्ते,
उपसंते उवहेडए जे स भिक्खू ॥"

जो मुनि कभी कलह न करे, वादविवाद में क्रोध न करे, इन्द्रियों को उद्धत न होने दे, रागादिक का नाश करे, संयम

में निश्चल रहे, मन, वचन के योग में युक्त रहे, आकुल न हो और उचित का आदर करने से न चूके, वह सच्चा भिक्षु कहलाता है।

हे मुनियो ! तुम्हें बहुत कुछ सहन करना चाहिये। कभी कोई तुम्हारा अपमान करे, चाबुक आदि का प्रहार करे, घृणा से तर्जन करे और जहाँ अतिभयानक आवाजें होती हो ऐसे भूत प्रेत वाले स्थान पर रहने का अवसर भी आजावे, तब भी यह सब सहन करना चाहिये। इस प्रकार सहन करने वाला साधु सच्चा भिक्षु कहलाता है।

वर्तमान समय में ऐसी सहनशक्ति वाले मुनि बहुत ही विरल हैं। अपमान, प्रहार और तर्जना की तो बात ही अलग है, पर यदि कभी सन्मान देने में कमी पड़ जाय तो मुनि तुरंत नाराज हो जाते हैं। कितने ही मुनि तो यदि उनकी अच्छी अगवानी न हो या व्याख्यान में अच्छी संख्या में लोग इकट्ठे न हो तो नाराज होकर क्रोधित हो जाते हैं। ऐसी प्रवृत्ति बहुत ही अनुचित है। शुद्ध मुनि को कभी ऐसा नहीं करना चाहिये।

हे मुनियो ! वर्तमान समय में तुममें से कितने ही इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकते। उसमें भी वाक् इन्द्रिय के विषय में तो अधिक निरंकुश हो गये हैं। साधु के मुख से अशोभनीय वचन निकलते हैं। इस प्रकार उद्धत होकर प्रवृत्ति करने वाले मुनियों को विचार करना चाहिये कि उन्होंने इस संसार का त्याग कर चरित्र गुण को किसलिये ग्रहण किया है ? ऐसे पवित्र चारित्र को ग्रहण करने का क्या हेतु था ? यदि ऐसे उद्धत मुनि प्रबुद्ध हृदय से विचार करेंगे तो उनको मालूम होगा कि वे अपने पवित्र जीवन को दूषित कर रहे हैं।

हे मुनियो ! तुम्हें हमेशा प्रतिमा वहन करनी चाहिये। मासिक प्रतिमा को विधि पूर्वक अंगीकार कर श्मशान जैसे भयकर स्थान में भी तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं रखना

चाहिये। विविध गुण वाले तप में तत्पर होकर भूत, प्रेत आदि का भय छोड़ देना चाहिये। वैसे ही निस्पृह होकर शरीर के प्रति रागासक्ति को भी छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले अपने चारित्र को प्रकाशित करते हैं।

हे मुनियो! तुम्हारा चारित्र धर्म कैसा दुष्कर है? इस विषय पर इस सूत्र में बहुत उत्तम प्रकार से लिखा है। जैन मुनि की प्रवृत्ति बहुत सहनशील होनी चाहिये। मुनि को अपने द्रव्य शरीर और भाव शरीर की आसक्ति भी नहीं रखनी चाहिये। उसे अपने शरीर पर शृंगार का योग, द्रव्य और भाव से त्याग करना चाहिये। कोई अपमान करे, कोई लकड़ी आदि से मारे, कोई तलवार आदि शस्त्रों से घायल करे और कोई कुत्ता, सियार आदि से कटावे तो भी जैन मुनि को पृथ्वी की तरह सब कुछ सहन करना चाहिये। ऐसा सहनशील मुनि ही सच्चा भिक्षु कहलाता है। वर्तमान समय में ऐसे मुनि रत्न बहुत कम मिलते हैं। पूर्वकाल में ऐसे मुनि रत्न आर्य भूमि पर विचरते थे, जिससे आर्हत धर्म का यशोगान भारत की प्रजा अभी तक करती है। हे मुनियो! तुम्हारे पूर्वजों की वह प्रतिष्ठा तुमने वर्तमान समय में गंवा दी है। तुम में मान (घमंड) उत्पन्न होने से तुमने अपनी सहन शक्ति का सर्वोत्तम गुण गुमा दिया है। तुम्हारी सहनशीलता असाधारण थी। जैन मुनि कितनी सहन शक्ति रखते हैं, इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा कहते हैं—

'असइं वोसट्ठ चत्तदेहे, अकुट्ठे वहए लूसिए वा।
पुढवि समे मुणि विज्जा, अनिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥'

"जो मुनि सर्वदा द्रव्य और भाव के प्रतिबंध से शरीर के शृंगार को छोड़ देता है, अपमान करे, डंडे से मारे, तलवार से घायल करे तब भी पृथ्वी की तरह सब सहन कर लेता है, जो भाव फल की आशा नहीं रखता और जो नाटक आदि देखने में कौतुक नहीं रखता, वह मुनि भिक्षु कहलाता है।"

हे मुनियो ! फिर तुम्हारे लिये इस महासूत्र में लिखा है कि जैन मुनि सर्वदा शरीर से परिषहों (कष्टों) को जीत कर इस संसार मार्ग से अपनी आत्मा का उद्धार करे और इस संसार के जन्म मरण रूप बड़े भय को समझकर साधुता के योग्य तपस्या में आसक्त हो। इस प्रकार प्रवर्तन करने वाला मुनि सच्चा भिक्षु कहलाता है। इस विषय पर 'दशवैकालिक सूत्र' में निम्न गाथा कहते है:—

"अभिसूअ काएण परीसहाइं
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं।
विइत्तु जाइमरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खु॥"

"जैन मुनि काया से परिषहों का पराभवकर इस संसार से अपनी आत्मा का उद्धार करे और इस संसार के जन्म मरण रूप सर्वाधिक भय को समझकर साधुता के योग्य तप के विषय में आसक्त रहे, वही भिक्षु कहलाता है।"

हे मुनियो ! ऐसे आत्मा का उद्धार करने वाले मुनि वर्तमान समय में तो शरीर की रक्षा करने वाले, शरीर के लिये श्रावकों के घर से हजारों रुपये खर्च करवाने वाले और इस शरीर को शोभित करने के लिये उच्च कोटि के कपड़े पहनने वाले तथा उच्च कोटि की कीमती वस्तुएँ दान में प्राप्त करने वाले ही दिखाई दे रहे हैं। सब विपरीत समय का प्रभाव है। हे अनगारो ! परिषहों को सहन करने के लिये ही तुम्हारे आचार में परिषहों का त्याग करने के लिये कहा गया है। किसी भी परिषह में घबराहट नहीं रखना पवित्र मुनि की समाचारी है। मुनि को वस्त्र, पात्र आदि उपाधि में भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। मुनि को किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। उसे अपने निर्वाह के लिये अल्प आहार करना चाहिये, वह भी अपरिचित श्रावक से भिक्षा में प्राप्त करना चाहिये। जिससे चारित्र दूषित हो

अथवा चारित्र की असारता उत्पन्न हो, ऐसे दोषों को उसे छोड़ देना चाहिये। खरीदना, बेचना, संग्रह करना आदि अनुचित क्रिया का उसे त्याग कर देना चाहिये। द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार के संग का परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाले साधु सच्चा भिक्षु कहाता है।

हे मुनियो ! वर्तमान काल में ऐसे भिक्षु विरले ही मिलते हैं। कई मुनि ऊँची जात के वस्त्र प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। कई बार श्रावक वस्त्रों की गांठे लेकर साधुओं को देने आते हैं। उस वक्त मुनि उच्च कोटि की मलमल, कीमती कंबलें और बारीक चोलपट्ट ढूंढ़-ढूंढ कर लेते हैं। जो श्रावक हल्की जात के वस्त्र लाये हों, उसका अनादर करते हैं। ऐसी प्रवृत्ति मुनि धर्म के बिल्कुल विपरीत है। वस्त्र, पात्र आदि उपाधि में आसक्ति रखना साधुओं के लिये सर्वथा अनुचित है। प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल ने मुनियों की प्रवृत्ति में बहुत रद्दोबद्दल कर दिया है। पवित्र समाचारी का आचरण करने वाले, कई एक आर्हत अनगार अधम मार्ग के पथिक बने हैं। 'दशवैकालिक' और 'आचारांग' जैसे आचार दर्शक ग्रन्थों के प्रति उनकी उपेक्षा बढ़ रही है। संसार से मुक्त होकर भी उनकी मनोवृत्ति संसार की तरफ आसक्त होती जा रही है। हे मुनियो ! इस विषय पर तुम्हें बुद्धिपूर्वक विचार करना चाहिये। तुम्हारा आचार उन्नत हो ऐसे उपाय और उत्तम साधनों का संपादन करने के लिये तुम्हें–तत्पर होना चाहिये। यदि तुम द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के संग को छोड़ दोगे तो शीघ्र ही तुम्हारी अच्छी उन्नति हो सकेगी। किसी भी प्रकार का संग आसक्ति न करना मुनि जीवन का सर्व प्रथम उपयोगी नियम है, क्यों कि निःसंग प्रवृत्ति ही चारित्र का जीवन है। इस संसार का स्वरूप संग के आधार पर ही टिका है। जहां संग है वहां संसार और जहां संसार है वहां संग है। संग और संसार का परस्पर गाढ़ा संबंध है। बहुत से चारित्रधारी मुनि संग से ही संसारी बन गये हैं। संग रूपी प्रज्ज्जवलित अग्नि में बहुत से प्रमादी मुनियों ने अपने संयम की आहुति दे दी है। संग

आसक्ति का महा विष चारित्र को निर्जीव कर देता है। अतः पवित्र मुनि को आसक्ति का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

इस विषय पर पवित्र महात्मा शय्यंभय सूरि निम्न बोधक गाथा कहते हैं:—

"उवहिंमि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए।
कयविक्कय संनिहिओ विरए,
सव्वसंगावगए अजे स भिक्खू ॥"

"जो मुनि वस्त्र पात्र आदि उपाधि में आसक्ति नहीं रखे, जो विना किसी प्रकार के राग के अपरिचित गृहस्थ के घर से भिक्षा लाकर अपना निर्वाह करे, जो संयम की असारता करने वाले दोष से रहित हो, खरीदना, वेचना और संग्रह करना आदि कुविचार जिसमें न हो द्रव्य एवं भाव आसक्ति से रहित हो, वही सच्चा भिक्षु कहलाता है।"

हे मुनियो! इस गाथा में लिखे 'सव्वसंगावगएं वाक्य को तुम्हें मंत्र की तरह हृदय में बैठा लेना चाहिये। जैन मुनि को किसी प्रकार का संग (आसक्ति) नहीं रखनी चाहिये। उसे सर्वथा निःसंग होकर रहना चाहिये।

हे मुनियो! यदि तुम्हें संग रखना ही हो तो विद्वान् मुनियों और शास्त्रों का संग रखें। सर्वदा स्वाध्याय, ध्यान में तत्पर रहकर अपने चारित्र व जीवन को उज्ज्वल करें। तुम्हें किसी की अपेक्षा रखने की आवश्यकता नहीं है। किसी निर्धन अथवा धनवान के साथ समान व्यवहार करना चाहिये। तुम्हें संयम रहित जीवन की इच्छा नहीं करनी चाहिये। वैसे ही वस्त्रों और स्तुति से मान पूजा की इच्छा भी नहीं रखनी चाहिये। इस विषय में शय्यंभव सूरि नीचे की बोधक गाथा लिखते हैं:—

"अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे,
उंछं चरे जीवि अ नाभि कंखी।
इड्ढि च सक्कारण पूअणं च,
चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥"

अर्थात् जो मुनि अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना न करे, किसी भी रस में लुब्ध न हो, उच्च वृत्ति का आचरण करे, संयम रहित जीवन की इच्छा न रखे, समृद्धि, सत्कार और पूजा की इच्छा न रखे, ज्ञानादि में अपनी आत्मा को सदा स्थिर रखे और कपट से दूर रहे, वही सच्चा भिक्षु कहलाता है।

हे मुनियो ! विचार करें, तुम्हारे आचार के बारे में शास्त्रकार ने कैसा-कैसा लिखा ? इस गाथा के अर्थ पर विचार कर फिर अपनी वर्तमान काल की स्थिति के बारे में सोचें। तुम्हें मालूम होगा कि तुम अपने आचार से बिल्कुल विपरीत कार्य कर रहे हो। परमोपकारी आर्हत् प्रभु ने जिस आचार को प्ररूपित किया है, उसके विरुद्ध चलना कोई छोटा-मोटा अपराध नहीं है। ऐसे दूषित चारित्र को घसीटते हुए लोगों में साधुता का दावा करना, कैसे उचित कहा जा सकता है।

जो गृहस्थ या यति भगवान् की आज्ञा का भंग करते हैं वे सब प्रकार से मिथ्यात्वी कहलाते हैं। हे मुनियो ! यह सब विचार कर तुम्हें अपने आचार में सुधार करना चाहिये और अपने चारित्र जीवन को सर्व प्रकार से सार्थक करने का प्रयत्न करना चाहिये।

हे अनगारो ! महोपकारी शय्यंभव सूरि ने इस महासूत्र में लिखा है कि जैन मुनि को अपने शिष्य वर्ग तथा अपने संघाड़े से बाहर के किसी साधु का अपमान नहीं करना चाहिये। 'यह मुनि कुशल है' ऐसा नहीं कहना चाहिये। यदि कभी कोई दूसरे संघाड़े का साधु गुस्सा करे तो उसके सामने स्वयं को भी गुस्सा नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से पाप लगता है। पुण्य या पाप तो कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है। ऐसे ही अपने

में कोई गुण हो तो उसका घमंड भी नहीं करना चाहिये। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाला पवित्र मुनि सच्चा भिक्षु कहलाता है।

हे मुनियो ! वर्तमान काल में ऐसे उत्तम भिक्षु मुनि बहुत ही थोड़े रह गये हैं। दूसरे संघाड़े के साधुओं के प्रति द्वेष भाव करने वाले और क्रोध कर उनके साथ लड़ने वाले मुनि ही अधिक दिखाई देते हैं। कितने तो अपने रागी श्रावकों को उत्तेजित कर दूसरे मुनियों का अपमान कराते हैं। उन्हें अपने उपाश्रय में उतरने नहीं देते और यदि अपनी चलती हो तो उन्हें गांव में भी घुसने नहीं दें। यह प्रवृत्ति बहुत ही निंदनीय है।

हे मुनियो ! तुम्हें इस कुरीति से दूर रहना चाहिये और सब पर समान भाव रखना चाहिये। तुम्हें जानना चाहिये कि चाहे किसी भी गच्छ या संघाड़े के साधु हों, वे सब वीर प्रभु के परिवार के सदस्य हैं, अतः तुम सब एक ही गुरु के शिष्य हो। तुम्हें आपस में ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखना चाहिये। तुम्हारी निष्पक्ष प्रवृत्ति में शांति, समता और निष्पक्षता रहनी चाहिये।

हे मुनियो ! दूसरी विशेष बात तुम्हें स्मरण रखनी चाहिये कि तुमने चाहे जैसे गुण प्राप्त किये हों उसका घमंड तुममें नहीं होना चाहिये क्योंकि गुण धारण करना तुम्हारा धर्म है। गुणवान बनना तो चारित्र-ग्रहण का हेतु है। निर्मल चारित्र को धारण करने वाले मुनि अपने गुण से गर्वित होकर दूसरे साधुओं को और संघ को तृणवत् गिनें, यह बहुत ही अधम प्रवृत्ति है। सूत्रकार इस विषय पर निम्न गाथा लिखते हैं—

"न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।
भयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता,
धम्मज्झाण रए जे स भिक्खू ॥"

जो मुनि जाति, रूप, लाभ और श्रुत का घमंड न करे, सर्व प्रकार के घमंड को छोड़कर धर्म ध्यान में तत्पर रहे, वह सच्चा भिक्षु कहलाता है।

हे मुनियो! तुम्हें जाति मद नहीं करना चाहिये। हम उच्च कुल में से आये हैं, इसलिये हम उच्च जाति के साधु हैं और दूसरे भावसार आदि नीचे कुल से आये हुए हैं, इसलिये वे नीच साधु हैं, ऐसे अधम विचार अपनी मनोवृत्ति में नहीं लाने चाहिये। वैसे ही रूपमद भी नहीं करना चाहिये। मैं स्वरूपवान साधु हूं और यह कुरूप साधु है, ऐसा विचार मन में लाकर रूप का घमंड नहीं करना चाहिये। बहुत से अल्पमति साधु ऐसा सोचते हैं कि हमारे लिये श्रावक हजारों रुपया खर्च करने को तैयार हैं, हमारे लिये अधिक वेतन वाले शास्त्री रखने और हजारों रुपयों की पुस्तकें लिखवाने के लिये श्रावक तैयार हैं, फिर हमें ऊँची से ऊँची जाति की वस्तुएँ देने के लिये श्रावक आग्रह करते हैं, इस प्रकार लाभ (प्राप्ति) का घमंड मुनि को नहीं करना चाहिये। ऐसा घमंड करने वाले मुनि अपने चारित्र को दूषित करते हैं। कितने ही अविचारी मुनि अपने श्रुतज्ञान का घमंड करते हैं और ऐसा सोचते हैं कि हमारे जैसा विद्वान् मुनि कोई नहीं हैं, ऐसे क्षुद्र विचार सच्चे साधु को नहीं करने चाहिये।

हे मुनियो! इस प्रकार तुम्हें जातिमद, रूपमद, लाभमद और श्रुतमद कभी नहीं करना चाहिये। ये सब मद कर्म बंध के कारण हैं, ऐसा समझकर चारों प्रकार के मद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। हे अनगारो! तुम्हारे उद्धार के लिये और तुम्हारे चारित्र जीवन को निर्दोष रखने के लिये सूत्रकार ने बहुत ही उपयोगी सूचनाएँ दी हैं जो कि तुम्हारे धर्मस्वरूप को प्रतिपादित कर, तुम्हें सन्मार्ग की तरफ ले जाती हैं।

हे साधुओं! तुम्हें अपने संवेग को शुद्ध रखने के लिये बहुत ही सावधानी रखनी चाहिये। तुम्हें हमेशा शुद्ध धर्म को ही

प्ररूपित करना चाहिये। तुम धर्म में स्थिर रहो और दूसरों को भी धर्म में स्थिर करो, यह तुम्हारा मुख्य कर्तव्य है। तुम इस संसार में से किसलिये निकले हो, उसका शुद्ध कारण क्या है, इस विषय पर तुम्हें सदा मनन करना चाहिये। सर्व प्रथम तो इस संसार से निकलने का मुख्य कारण कुशील का त्याग है। अत: आरंभ-समारंभ करने वाली गृहस्थ की चेष्टाओं का तुम्हें त्याग कर देना चाहिये। ऐसी चेष्टाएँ वर्तमान काल में प्रमादी मुनियों में अच्छी तरह से प्रसारित हैं। इसके साथ ही दूसरों की हँसी हो, ऐसी चेष्टायें भी तुम्हें नहीं करनी चाहिये। वर्तमान काल में बहुत से अल्प मति मुनि ऐसी चेष्टायें कर अपने मुनि धर्म और वीर शासन की निंदा करवाते हैं।

हे मुनियो! ऐसा उत्तम बोध देने के लिये सूत्रकार ने निम्न बोधक गाथा लिखी है—

"पवेअए अज्जपयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयई परंपि।
निरकम्म वज्जिजज्ज कुसीललिंगं,
न अवि हासं कुहए जे स भिक्खू॥"

"जो महामुनि आर्य पद–शुद्ध धर्म का उपदेश देता है, स्वयं धर्म में स्थित रह कर दूसरों को धर्म में स्थापित करता है, इस संसार को त्याग कर कुशील, आरंभ-समारंभ आदि गृहस्थ की चेष्टाओं का भी त्याग कर देता है और हँसी हो ऐसी चेष्टायें नहीं करता, ऐसा मुनि सच्चा भिक्षु कहाता है।"

हे अनगारो! यह गाथा तुम्हारे मनोमंदिर में सदा स्थापित करने योग्य है। इस बोधक गाथा को सदा याद रखने वाला साधु कभी भी अपने चारित्र मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता। इस संसार का त्याग करने वाले मुनि का क्या कर्तव्य है, इसी बात का हमेशा विचार करना चाहिये। चारित्र रत्न को प्राप्त करने के बाद गृहस्थ जैसी चेष्टायें करना और जग हँसाई हो, ऐसे अनुचित कार्य करना, यह पवित्र मुनि के लिये अनुचित

है। जैन मुनि सभी आर्य धर्म के मुनियों में प्रशंसनीय गिने जाते हैं उनके महाव्रतों के प्रति आर्य प्रजा में बहुत सम्मान है। संसार में जैन मुनियों का व्रत तलवार की धार पर चलने जैसा माना जाता है और संवेगी त्यागी साधुओं का संयम सर्वोत्कृष्ट गिना जाता है। ऐसे जैन मुनि जब अपनी कीर्ति का नाश करने को उद्यत होते हैं, तब फिर जग हँसाई हो तो इसमें आश्चर्य क्या है?

हे मुनियो! अंत में दसवें 'सुभिक्षु' अध्ययन में सूत्रकार ने लिखा है कि यह शरीर अशुचि से भरा हुआ है। रुधिर, माँस, मेद और मज्जा से भरा हुआ है, ऐसे अशुचि पुद्गलों से भरे हुए इस शरीर पर मोह क्या रखना? ऐसे अशुचि शरीर पर ममता रखना अज्ञान है। ऐसे अज्ञानी परन्तु शुद्ध संवेगी और विरक्त मुनि को जानना चाहिये कि यह अशुचि शरीर शाश्वत नहीं है। ऐसे नाशवान शरीर पर ममता रखकर अपने संवेग मय चारित्र की उपेक्षा करने वाला मुनि धम विरुद्ध प्रवृत्ति करता है।

हे मुनियो! तुम्हें किसी भी पदार्थ पर ममत्व नहीं रखना चाहिये। अपनी आत्मा को मोक्ष के साधन रूप सम्यग्दर्शन आदि में स्थिर करना चाहिये। ऐसा करने से जैन मुनि जन्म-मरण रूप इस संसार के कारण का नाश कर, जन्म-मरण रहित सिद्धगति को प्राप्त कर सकता है। इसी अर्थ को बताने वाली एक गाथा ग्रंथकार निम्न प्रकार से लिखते हैं—

"तं देहवासं असुइं असासयं,
सयाचए निच्चहिअट्ठि अप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं तिबेमि ॥"

"जो अशुचि और अशाश्वत शरीर के बंधन को छोड़ कर और मोक्ष के कारण स्वरूप समकित आदि प्रमुख विषयों मे अपनी आत्मा को स्थिर करते हैं, वे भिक्षु इस जन्म मरण

रूप संसार के बंधन का नाश कर, जन्म मरण रहित गति को प्राप्त करते हैं।"

हे मुनियो ! इस वैराग्य दर्शक अन्तिम गाथा को अपने हृदय में स्थापित करें। इस पवित्र गाथा के मनन से तुम अपने संवेगी स्वरूप को पहचान सकोगे और अपने चारित्र को चरितार्थ कर, अन्त में मोक्ष के आनंदमय सुख को प्राप्त करोगे।

हे मुनियो ! अब मैं जा रही हूं। मेरे उपदेश को ध्यान में रखकर उसके अनुसार प्रवृत्ति करें। कभी भी प्रमाद के वशीभूत होकर विपरीत आचरण न करें। अपने जीवन का उपयोग पूर्वक चारित्र के निर्मल मार्ग पर चलावें।

• • •

प्रवास (14)

दिव्यमूर्ति दीक्षाकुमारी अपने त्रयोदश प्रवास पूरे कर विचार करने लगी कि मैंने अपनी धारणा पूर्ण की है। अपने तेरह प्रवासों में मैंने 'दशवैकालिक सूत्र' के दस अध्ययनों का उपदेश देकर अपने कर्तव्य को पूर्ण किया। अब मेरा एक प्रवास बाकी रहा है जिसमें मेरा विचार मुनिरत्न सुधा विजय से मिलने का है। इनसे मिलकर उनके समक्ष अपने सब प्रवासों में मैंने जो कुछ किया है, उसे बता देना चाहिये क्योंकि इन महामुनि का अवतरण भी मेरी ही तरह मुनियों के उपकार के लिये हुआ है। ये महामुनि अपने धर्म का यथार्थ में पालन करते हैं, दूसरे मुनियों से पालन करवाते हैं और पालन करने वाले का अनुमोदन करते हैं।

इस प्रकार हृदय में सोचकर जिस दिशा में मुनि सुधा विजय विचरण कर रहे थे, उसी तरफ दीक्षाकुमारी ने भी प्रवास किया। वह देश मुनियों से अपरिचित जैसा हो गया था। वहां रहने वाली जैन प्रजा मात्र श्रावक नाम से जानी जाती थी। धर्म संबंधी ज्ञान भाग्य से ही किसी को था। कोई-कोई श्रावक नवकार मंत्र को जानता था पर उसका भी वह अशुद्ध उच्चारण करता था।

मुनि सुधा विजय उस देश में आकर अपने उपदेश से लोगों के मन पर अच्छा प्रभाव डाल रहे थे। जैन धर्म क्या है उस धर्म में प्रवृत्ति करने वाले लोगों का क्या कर्त्तव्य है, आर्हत धर्म के सिद्धान्त क्या हैं, जैनियों का आचार, रीति, प्रवृत्ति और कर्त्तव्य क्या है, देव, गुरु तथा धर्म का शुद्ध स्वरूप क्या है, श्रावक कैसे होने चाहिये, श्राविकाओं को कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये, संघ

का क्या महत्व है, श्रावक का संसार कैसा होना चाहिये, इत्यादि सभी उपयोगी विषयों पर मुनि सुधा विजय सारपूर्ण व्याख्यान देकर उस अज्ञानी देश में अच्छा सुधार कर रहे थे। उस देश के लोग मुनि का आचार नहीं जानते। भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में भी उनको चाहिये जैसी जानकारी नहीं थी। मुनि की सेवा को वे नहीं जानते थे। प्रासुक और अप्रासुक का भेद नहीं जानते थे। मुनि को आहार-पानी का दान किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय में तो वे बिल्कुल अज्ञ थे। ऐसे ऊसर देश में विचरते हुए मुनि सुधा विजय को अनेक परिषह सहन करने पड़ते थे। आहार की शुद्ध विधि को नहीं जानने वाले श्रावकों के घर से मुनि सुधा विजय को कई बार बिना आहार प्राप्त किये, वापस आना पड़ता था। वे आहार का त्याग कर, अलाभ परिषह को सहन करते हुए अपने चारित्र को पालते थे। ऐसे विपरीत देश में विचरण करते हुए, मुनि सुधा विजय चारित्र की कसौटी पर खरे उतरने और मुनिधर्म को यथार्थ रीति से पालन करने का प्रयत्न कर रहे थे।

महादेवी दीक्षाकुमारी इस देश में आई और अदृश्य रहकर उन महामुनि का दर्शन किया। महानुभावा दीक्षाकुमारी ने सोचा, "यदि मैं अपने रूप को प्रत्यक्ष कर, मुनि सुधा विजय का समागम करूंगी तो मुझे चाहिये जैसा लाभ प्राप्त नहीं होगा। इसके लिये मैं रूप बदल कर इन महाशय के पास जाऊं और उनकी परीक्षा करने के बहाने से उनसे वाद-विवाद करूं।" ऐसा सोचकर दीक्षाकुमारी एक मुनि का रूप धारण कर मुनि सुधा विजय के पास आई और उन्हें भक्तिपूर्वक तीन बार वन्दन किया और सुख साता पूछी पवित्र मुनि सुधा विजय उस नये मुनि को देखकर सोच में पड़ गये। थोड़ी देर सोचकर वे महामुनि बोले, "तुम्हारा क्या नाम है? तुम किस गुरु के शिष्य हो?" मुनि रूपधारी दीक्षाकुमारी ने कहा, "महाराज मेरा नाम दीक्षा विजय है और मैं महावीर प्रभु का शिष्य हूं।" 'महावीर प्रभु का शिष्य हूं' सुनकर सुधा विजय सोच में पड़ गये, पर अपने शांत स्वरूप को कायम रखते हुए कुछ भी नहीं बोले। मुनि रूप

दीक्षाकुमारी ने प्रश्न किया, "महाराज ! आप इस देश में कैसे रह रहे हैं ···यह देश तो पूरा मिथ्यात्वियों से भरा हुआ है। यहां के जैन भी मिथ्यात्वी जैसे बन गये हैं। ऐसे देश में साधु का निर्वाह नहीं हो सकता। 'मैं तो देवयोग से इधर आ गया हूं' पर अब तो इस देश में तंग आ गया हूं यहां के श्रावक साधु की सेवा करने में तो कुछ समझते ही नहीं। ऐसे ऊसर क्षेत्र में साधु को नहीं रहना चाहिये।"

सुधा विजय—हे मुनि ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सच है, पर कोई भी क्षेत्र ऊसर कैसे बन जाता है, यह तो बताओ ?

दीक्षा विजय—साधुओं के अपरिचय से।

सुधा विजय—साधुओं का अपरिचय क्यों होता है ?

दीक्षा विजय—साधुओं की सेवा-भक्ति बराबर नहीं होने से साधुओं से परिचय नहीं हो पाता।

सुधा विजय—सेवा भक्ति की अपेक्षा रखना क्या साधु का धर्म है ?

दीक्षा विजय—नहीं।

सुधा विजय—तब ऐसे क्षेत्र में साधु क्यों नहीं विचरते ?

दीक्षा विजय—साधुओं को सभी सहूलियतें बराबर नहीं मिलती, इसलिये वे ऐसे क्षेत्र में नहीं जाते।"

सुधा विजय—संसार की सहूलियतें छोड़कर साधु बनने वाले को फिर दूसरी सहूलियतों की क्या आवश्यकता है ?

दीक्षा विजय—तब क्या साधु को अपने आराम की कुछ परवाह नहीं करना चाहिये, उसे हमेशा दुःखी रहना चाहिये ?

सुधा विजय—साधु होकर फिर सुख की इच्छा क्यों ? उन्हें तो हमेशा परिषहों को सहन करना चाहिये।

दीक्षा विजय—जब तक परिषह सहन करने का अवसर न आये, तब तक स्वयं आगे होकर परिषह को पैदा करने से क्या फायदा ?

सुधा विजय—जब तक परिषह सहन न करे, तब तक यथार्थ चारित्र धर्म का पालन नहीं हो सकता।

दीक्षा विजय—महाराज ! यह बात तो उचित नहीं है। इस संसार और घर गृहस्थी को छोड़कर सुख के लिये तो साधु बने, फिर भी दुःखी होना पड़े तो साधु बनने से क्या फायदा ?

सुधा विजय—साधु होने में जो लाभ है, वैसा लाभ और कहीं भी नहीं है।

दीक्षा विजय—हाँ, यह बात तो ठीक है, पर ऐसे ऊसर क्षेत्र में वे लाभ कहां प्राप्त होते हैं, वे लाभ तो अच्छे क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं।

सुधा विजय—लाभ का संबंध क्षेत्रों से नहीं है। मेरे कहने का आशय दूसरा है।

दीक्षा विजय—आपके कहने का आशय क्या है, वह मुझे समझाइये।

सुधा विजय—पांच महाव्रतों का उच्चारण कर चारित्र रत्न को ग्रहण करने वाला साधु विरक्ति धर्म का पालन कर आत्म साधना कर सकता है। सुख समाधि से स्वाध्याय, ध्यान कर, अपने पूर्व संचित कर्मों को क्षय कर सकता है और सम्यक्त्वमूलक धर्म के तत्व को समझकर पवित्र भावना का संपादन कर सकता है। साधु का यह लाभ कोई ऐसा वैसा लाभ नहीं है। उस लाभ के आगे संसार के पौद्गलिक लाभों की क्या गिनती ? उत्तम वृत्ति से अपने सदाचार को पालन करने वाले साधु को अच्छे-बुरे क्षेत्र की, अच्छे-बुरे गृहस्थों की या अच्छे बुरे पदार्थों की आवश्यकता नहीं रहती। समता के प्रभाव से उनके लिये तो सब कुछ समान ही है।

दीक्षा विजय—महाराज ! आजकल ऐसी प्रवृत्ति है कहाँ? आजकल तो जिस क्षेत्र में साधुओं को अच्छा मान मिलता है, श्रावकों की तरफ से अच्छी सेवा-भक्ति प्राप्त होती है, उच्च

कोटि का आहार-पानी प्राप्त होता है, वैद्य और औषधियें मिलती हैं और अन्य जो कुछ भी आवश्यक हो वह मिल सकता हो, ऐसे क्षेत्र में साधु विचरण करते हैं और चातुर्मास के लिये ठहरते हैं। हे भगवन् ! मैं भी उसी मान्यता का हूं क्योंकि इस देश में विचरते हुए मुझे अनुभव हुआ है कि यहाँ साधुओं को बहुत कष्ट होता है। एक तो घर-गृहस्थी, सगा-सम्बन्धी का त्याग कर साधु बने, अब खाने-पीने का कष्ट भी सहना पड़े। तब दोनों दुःख कैसे सह सकते हैं ?

सुधा विजय हँसकर बोले—"मुने ! तुम्हारे वचन सुनकर मुझे हंसी आ रही है, पर मन में अफसोस हो रहा है। तुम साधु का वेष धारण करने वाले मुनि हो, एक उत्तम अनगार हो और वीतराग प्रभु के उपासक हो। फिर भी तुम्हें सुख की इच्छा होती है और परिषह के दुःखों से दूर रहना चाहते हो ? मुझे तो यह बहुत ही आश्चर्यजनक लग रहा है। हे मुने ! ऐसे तुच्छ विचार मन में न लाओ। अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानो। तुम कौन हो, तुम्हारा कर्तव्य क्या है, और तुम्हारा पवित्र हेतु क्या है ? हे साधु ! अपने जैन मुनियों का धर्म बहुत ही दुष्कर है। हमारा मुनिव्रत अनेक कष्टों और परिषहों से भरा हुआ है। हमारा मुनिव्रत तलवार की धार के समान माना जाता है। जब तक हम सुख की आशा रखेंगे तब तक हम में मुनिव्रत के प्रति दुर्बलता है, ऐसा समझना चाहिये। सब पर समान भाव रखना, सब पर सम्यग्दृष्टि रखना हमारा मुख्य कर्तव्य है। यह अच्छा क्षेत्र है, यह ऊसर क्षेत्र है, यहाँ सुख है, वहाँ दुःख है, इस स्थान पर आदर मिलता है, उस जगह अनादर प्राप्त होता है, ऐसा कुछ भी जैन मुनि को नहीं सोचना चाहिये। सम्यग्दृष्टि साधु को सबका उपकार करने के लिए सर्वत्र विचरण करना चाहिये। हे मुने ! आजकल अपने मुनि जहाँ अच्छा क्षेत्र हो, जहां धनवान श्रावकों की वस्ती हो, जहां मुनियों का सम्मान होता हो, जहां सब प्रकार की सहूलियतें मिलती हों, ऐसे क्षेत्र में ही विचरण करते या वर्षावास करते हैं। यह प्रवृत्ति बहुत ही अनुचित और

पक्षपातपूर्ण है। ऐसी अनुचित प्रवृत्ति से ही बहुत से क्षेत्र ऊसर हो गये हैं। कई क्षेत्रों में आर्हत धर्म का अन्त हुआ है। कई क्षेत्रों में मलिन मिथ्यात्व का प्रचार बढ़ गया है।"

मुनि सुधा विजय के उपर्युक्त वचन सुनकर दीक्षा विजय मुनि प्रसन्न हुए। दीक्षा विजय मुनि वास्तव में मुनि न होकर मुनि रूपधारी दीक्षाकुमारी थे। वह महादेवी तो मुनि स्वरूप को यथार्थ में जानती थी, फिर भी सुधा विजय के सत्य विचार जानने और उनमें स्थित चारित्र गुण की परीक्षा के लिये ही ऐसे-ऐसे अनुचित प्रश्न किये। जब मुनि सुधा विजय के विचार सुने, तब महादेवी दीक्षाकुमारी मन में संतुष्ट हुई और विचार करने लगी, "वाह! धन्य हैं इन पवित्र मुनि को। इनके निर्मल हृदय में से कैसे-कैसे उत्तम विचार प्रकट हुए हैं। इसी को सच्चा चारित्र कहा जाता है। जब तक ऐसे पवित्र मुनि इस भारतवर्ष में विचरण कर रहे हैं, तब तक संसार में वीर शासन, चारित्र और मुनित्व का गौरव जाग्रत रहेगा। इस प्रसंग पर इन पवित्र मुनि के मुखारविंद से 'दशवैकालिक सूत्र' की अंतिम चूलिका का उपदेश सुनना चाहिये और अपनी आत्मा को आनंद का अनुभव कराना चाहिये। ऐसा सोचकर दीक्षाकुमारी ने प्रश्न किया, "महाराज! आपने मुनिधर्म की जो उत्तम रीति बताई, वह यथार्थ है, फिर भी इस विषय पर कुछ अधिक सुनने की मेरी इच्छा है।"

सुधा विजय—हे मुने! तुम्हें क्या सुनने की इच्छा है, मुनि के आचार के विषय में तुमने क्या-क्या सुना है?

दीक्षा विजय—मैंने पहले 'दशवैकालिक सूत्र' सुना है। उसमें अंतिम दो चूलिका मुझे बहुत ही रसिक और बोधक लगीं। यदि आपकी इच्छा हो तो उन चूलिका में से मुझे सुनाइये।

सुधा विजय—हे मुने! तुम्हारी इच्छा बहुत उत्तम है। अच्छा सुनो! मैं अपनी जानकारी के अनुसार तुम्हें संक्षेप में वह सुनाता हूं।

हे मुने ! 'दशवैकालिक सूत्र' के भिन्न-भिन्न अध्ययनों में मुनि धर्म के भिन्न-भिन्न आचार बताये गये हैं। उसमें अंतिम दसवें 'भिक्षु अध्ययन' मे कहा गया है कि 'जिसमें साधु के गुण हो, उसे ही साधु कहा जाता है।' यद्यपि साधु गुण वाला होता है तथापि जीव कर्म के अधीन होने से और कभी कर्म के अधीन होने से और कभी कर्म अधिक वलवान होने से यदि मुनि शिथिल चारित्र हो जाय, तो उसे धम में स्थिर करने के लिये दो चूलिका लिखी गई हैं।

हे मुने ! कभी साधु को शरीर संवंधी अथवा मानसिक दु:ख उत्पन्न हों अथवा सत्तर प्रकार के संयम के नियमों के पालन में आपत्ति पैदा हो, जिससे साधु के संयम का त्याग करने की इच्छा हो गई हो, पर जव तक संयम का त्याग न किया हो, उपेक्षा से भी दीक्षा को धारण कर रखा हो, तो ऐसे मुनि को अट्ठारह प्रकार के स्थानों का विचार करना चाहिये। अर्थात् यदि कोई मुनि अपने दुष्कर संयम से घबड़ा गया हो तो उसे अपने संयम का त्याग न कर, उस समय अट्ठारह प्रकार के स्थानों का विचार करना चाहिये।

दीक्षा विजय ने प्रश्न किया—"महाराज ! वे अट्ठारह स्थान कौन से हैं और उनका विचार किस तरह करना, कृपया समझाइये।"

सुधा विजय—मैं तुम्हें अट्ठारह स्थान गिनाता हूं, सुनो—

1. इस दु:खमा काल में अनेक प्राणियों को अपना जीवन दु:ख में ही बिताना पड़ता है अर्थात् वर्तमान काल में अधिकांश प्राणियों को दु:ख भोगना ही पड़ता है। सुख भोगने वाला प्राणी तो कोई विरला ही होता है। अत: निम्न गति में ले जाने वाला गृहवास किस काम का, ऐसा विचार करना प्रथम स्थान कहलाता है। यह घवड़ाये हुए साधु को फिर से उसके संयम में स्थापित करता है।

2. संसारियों के जो काम भोग हैं, वे तुच्छ, क्षणिक और कटु परिणाम वाले हैं, अत: संसारी के ऐसे काम-भोग किस

काम के ? ऐसा विचार करना दूसरा स्थान है। संयम में उद्विग्न और काम-भोगों में लुब्ध बने हुए मुनि को यह विचार फिर से संयम में दृढ़ करता है।

3. इस दुःखम् काल में संसारी बहुत मायावी होते हैं, जिससे उन्हें कर्मबंध बहुत कठिन होते हैं, अतः गृहवास में रहना दुःखवर्धक है। ऐसा विचार करना तीसरा स्थान है। यह विचार साधु को संयम में स्थिर करता है।

4. संयम पालन करने से मन को जो दुःख होता है, उसकी अपेक्षा नरक में बहुत दुःख है और संसारी को नरकवास की प्राप्ति बहुत संभव है। अतः उस दुःख से तो संयम का दुःख सहना ही अच्छा है क्योंकि संयम पालने में कर्म की निर्जरा होती है। ऐसा सोचना चौथा स्थान है। इस संयम का दुःख तो स्थायी नहीं, अल्पकालीन है जबकि नरक का दुःख तो स्थायी है। फिर नरक में दुःख जितने प्रमाण में हैं उनकी अपेक्षा संयम पालने में मन को जो दुःख होते हैं, वे तो किस गिनती में हैं ? ऐसा विचार करना चौथा स्थान है।

5. संसारी को मामूली आदमी को भी मान देना पड़ता है या उसकी खुशामद करनी पड़ती है, पर संयमधारी मुनि की तो राजा, मंत्री, सेठ वगैरह बड़े लोग भी वंदन पूजा करते हैं। अतः चारित्रधारी रहना ही अधिक प्रशंसनीय है। ऐसा विचार चारित्र से भ्रष्ट हुए मुनि को चारित्र में फिर से स्थिर करता है।

6. जैसे वमन द्वारा निकाले पदार्थ को फिर से भक्षण करना अत्यन्त निन्दनीय है, वैसे ही त्याग किये हुए विषय-भोगों को फिर से भोगना भी अत्यन्त निन्दनीय है। वमन को भक्षण करने वाले कुत्ते की तरह त्यागे हुए भोगों को भोगने वाले अधम पुरुष की सर्वदा सत्पुरुषों द्वारा निन्दा होती आई है। फिर भोगों से दुःख और रोग भी होते हैं। मैंने जब दीक्षा ली थी तब सब काम-भोग भोग लिये थे, अब यदि मैं

त्यागे हुए भोगों को फिर से ग्रहण करूँ तो वमन को खाने वाला कुत्ता ही गिना जाऊँगा। अतः यह गृहस्थाश्रम किस काम का ? इस प्रकार सोचना छठा स्थान है। ऐसा सोचने से साधु भ्रष्ट चारित्र होते हुए रुक जाता है।

7. संयम का त्याग करने से नीच गति को प्राप्त कराने वाले कर्मों का बंध होता है। इस कर्म के बंध से तिर्यंच, नरक आदि दुर्गति में जाना पड़ता है, तब ऐसे गृहवास से क्या फायदा ? इस प्रकार विचार करना सातवां स्थान है। ऐसा विचार करने से भी मुनि संयम मार्ग में स्थिर होता है।

8. गृहवास में पहले तो स्त्री, पुत्र आदि परिवार पाश स्वरूप है। उस बंधन में पड़ने से कुछ भी धर्म की साधना नहीं हो सकेगी, जिससे अंत में दुर्गति में जाना पड़ेगा। ऐसा विचार करना आठवां स्थान है। ऐसे विचार भी संयमी को संसार से विरक्त रखकर, उसे संयम से स्थिर रख सकेंगे।

9. गृहवास में रहते हुए हैजा, प्लेग आदि आकस्मिक रोगों से मृत्यु होती है, जिससे धर्म की साधना नहीं हो सकती। ऐसा विचार करना नवां स्थान है।

10. इष्ट वस्तु का वियोग और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से गृहवास में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प होते हैं, जिससे गृहस्थ अपने तन का नाश करता है, ऐसे गृहस्थाश्रम से क्या फायदा ? ऐसा विचार करना दसवां स्थान है। ऐसा विचार संयमी मुनि को संयम में दृढ़ करता है।

11. गृहवास में खेती, व्यापार, नौकरी आदि क्लेशकारी साधनों का उपयोग करना पड़ता है, फिर घी, तेल, नमक, अनाज आदि अनेक वस्तुएँ लाने की चिंता बनी रहती है, अतः गृहवास दुःख रूप है। ऐसा सोचना, ग्यारहवां स्थान है।

12. गृहवास में जो दुःख हैं वे चारित्र में नहीं हैं। चारित्र तो एकदम क्लेश रहित है। तब ऐसे चारित्र को छोड़कर गृहवास में कौन पड़े ? ऐसा सोचना बारहवां स्थान है।

13. गृहवास में रहते हुए अनेक प्रकार के कर्म बंध होते हैं क्योंकि उसमें पग-पग पर आरंभ-समारंभ करने पड़ते हैं। ऐसा सोचना तेरहवां स्थान है। ऐसे विचार से साधु अपने चारित्र पर दृढ रहता है।

14. जब गृहवास कर्मबंध के कारण डुबाने वाला है और चारित्र पर्याय कर्म के बंध से छुड़ाने वाला होने से मोक्ष रूप है, तब ऐसे गृहवास से क्या प्रयोजन ? ऐसा विचार चौदहवां स्थान है। ऐसा विचार मुनि को अपने चारित्र गुण पर आसक्त करता है।

15. गृहस्थाश्रम में प्राणातिपात आदि पाप स्थानक रहे हुए हैं, अतः वह सावद्य (पाप सहित) है। तब ऐसे गृहवास से क्या प्रयोजन ? ऐसा विचार करना पन्द्रहवां स्थान है।

16. चारित्र पर्याय सर्व प्रकार से अनवद्य (पाप रहित) अर्थात् निर्दोष है। उसे छोड़ सावद्य गृहवास में किसलिये पड़ना ? ऐसा विचार करना सोलहवां स्थान है।

17. गृहवास में जो भोग रहे हैं वे चोर, जार और राजा के समान हैं, अतः ऐसा गृहवास क्या काम का ? ऐसा विचार करना सतरहवां स्थान है।

18. संसार में माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि का पोषण करना पड़ता है और उनके पोषण के लिये जो पाप करने पड़ते हैं, करने वाले को ही भोगने पड़ते हैं। मनुष्य का यह जीवन अनित्य है। दूब के अग्रभाग पर टिके हुए जल बिंदु की तरह यह आयुष्य चंचल है। मैंने चारित्र मोहनीय कर्म का बहुत बंध किया है। चारित्र लेने के बाद मुझे ऐसी तुच्छ बुद्धि उत्पन्न हुई, वह पूर्व में किये हुए ज्ञानावरणादि तथा असाता वेदनीय आदि पाप कर्मों का तथा प्रमाद और कषाय आदि के वश होकर दुष्ट कर्म करने का ही फल है। उसे भोगे बिना मेरा मोक्ष नहीं हो सकता, अतः मुझे इन कर्मों का तपस्या

आदि सत्कर्मों से क्षय करना चाहिये। ऐसा सुविचार करना अट्ठारहवां स्थान है।

हे मुने! इन अट्ठारह स्थानों का विचार करने वाला साधु अपने चारित्र से भ्रष्ट नहीं होता, अतः जो मुनि अपने संयम के प्रति शिथिल आदर वाला हो, उसे इन अट्ठारह स्थानों का स्मरण करना चाहिये। इन अट्ठारह स्थानों के चिंतन से मुनि अपने संयम में स्थिर होते हैं। अतः चारित्रधारी पुरुष को 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन, मनन और श्रवण करना चाहिये। जो मुनि 'दशवैकालिक सूत्र' उसमें भी विशेषकर इसके दसवें अध्ययन की अंतिम चूलिका को न जानता हो या सुनने में न आई हो तो वह संयम से घबराकर तुरन्त चारित्र भ्रष्ट हो जाता है। हे मुने! वर्तमान समय में परिपक्व वैराग्य के बिना दीक्षित हुए मुनि साधु के वेष को छोड़कर गृहस्थ का वेष पहन लेते हैं और चारित्र भ्रष्ट हो जाते हैं, इसका कारण इस चूलिका के पठन, मनन और श्रवण का अभाव है। अतः प्रत्येक मुनि को चारित्र लेने के पश्चात् 'दशवैकालिक सूत्र' को पूर्ण जानना चाहिये।

सुधा विजय मुनि के इन वचनों को सुनकर दीक्षा विजय मुनि हृदय में प्रसन्न हुए। मुनिरूप में रही हुई उस महादेवी दीक्षाकुमारी ने अपने हृदय में विचार किया, "ओहो! कैसा निर्मल चारित्र है। यदि सारे भारतवर्ष में प्रत्येक जैन मुनि ऐसे हों तो वीतराग के शासन का प्रभाव कितना बढ़े। आर्हत् धर्म का कितना उद्योत हो? हे शासन देवता! सर्व मुनियों के हृदय में ऐसी ही प्रेरणा प्रदान करें।" इस प्रकार सोचकर मुनि दीक्षा विजय ने कहा, "महाराज! आपने जो अट्ठारह स्थान बताये, वे वास्तव में मुनियों के लिये बहुत उपयोगी हैं। फिर भी कई मुनि उन पर विचार नहीं करते, इसका क्या कारण है?" सुधा विजय ने कहा, हे मुने! पूर्वकृत पापकर्मों के उदय से प्रेरित साधु को इन अट्ठारह स्थानों पर विचार करने का सूझता ही नहीं, जिससे वे भ्रष्ट चारित्र हो जाते हैं।"

दीक्षा विजय ने प्रश्न किया, "महाराज ! यदि मुनि इन अट्ठारह स्थानों पर विचार न कर सकें तो दूसरी किसी तरकीव से चारित्र में स्थिर रखने का बोध हो सकता है क्या ?"

सुधा विजय ने उत्साह से कहा, "हे मुने ! यदि साधु अट्ठारह स्थानों का चिंतन न कर सकें तो फिर दूसरा कोई उपाय नहीं है जिससे उसे बोध हो सके। सूत्रकार शय्यंभव सूरि ने उसके लिये निम्न गाथा लिखी है:—

"जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥"

"इन अट्ठारह स्थानों पर चिंतन करने योग्य होने पर भी जो अनार्य मुनि विषय भोग भोगने के लिये चारित्र का त्याग करता है, वह विषयों में मूर्च्छित साधु कभी भी सम्यक् बोध प्राप्त नहीं कर सकता।

'हे मुने ! चारित्र से भ्रष्ट हुये मुनि को पीछे पछताना पड़ता है क्योंकि गृहवास में अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करना पड़ता है। इस बारे में सूत्रकार ने निम्न गाथा लिखी है:—

"जया ओहाविओ होइ इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्म परिब्भट्ठो सपच्छा परितप्पइ ॥"

"इन्द्र जैसे अपने सिंहासन से भ्रष्ट होकर मृत्यु लोक में पड़ जाता है, वैसे ही साधु जब चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है, तब फिर उसे बहुत पश्चाताप करना पड़ता है।"

इस विषय पर सूत्रकार ने बहुत सी गाथायें लिखी हैं। उसका संक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार है—"जो साधु चारित्र अवस्था में वंदनीय होता है, वही चारित्र से भ्रष्ट होने पर अवंदनीय हो जाता है। फिर अपने स्थान से भ्रष्ट देवता की तरह उसे भी बहुत पश्चाताप होता है। जो मुनि पहले पूजनीय

होता है, वही भ्रष्ट होने पर अपूजनीय हो जाता है, जिससे वह राज्यच्युत राजा की भाँति पश्चाताप को प्राप्त होता है। जो मुनि पहले सम्माननीय होता है, वही भ्रष्ट चारित्र होने पर असम्माननीय हो जाता है, फिर वह क्षुद्र गांव में पड़े हुए सेठ की भांति पश्चाताप करता है। जो मुनि जवानी वीत जाने पर वृद्धावस्था में संयम का त्याग करता है, वह गले में विंधी हुई मछली की भाँति पश्चाताप करता है। जो मुनि कुटुंब की चिंता से संयम का त्याग कर गृहस्थ वनता है, वह वंध स्थान में पड़े हुए हाथी की तरह पश्चाताप करता है। जो मुनि संयम का त्याग कर पुत्र, स्त्री वगैरह परिवार से चारों तरफ घिरकर, विक्षेप प्राप्त करता है और मोहनीय कर्म के प्रवाह में वह जाता है, वह मुनि कीचड़ में धँसे हाथी की तरह पश्चाताप करता है।"

"अतः किसी भी साधु को संयम त्याग करने का साहस ही नहीं करना चाहिये। संयम का त्याग करने वाले मुनि को वाद में बहुत पछताना पड़ता है। इस पश्चाताप के विषय में महोपकारी शय्यंभव सूरि ने निम्न गाथा कही है:—

"अज्ज आहं गणी हुंतो, भाविअप्पो बहुस्सुओ।
जइऽहं रमंतो परिआए, सामन्ने जिणदेसिए॥"

"जिन भगवान द्वारा उपदेशित चारित्र पर्याय में यदि मैं अनुरक्त रहा तो आज शुभ योग की भावना से आत्मा को भावित करते हुए वहुश्रुत आचार्य बन गया होता।"

हे मुने! इस प्रकार उसे बहुत पश्चाताप करना पड़ता है। जिससे उसका अंतरात्मा सर्वदा दग्ध होता रहता है। अतः किसी भी मुनि को संयम से घबराकर गृहस्थावस्था में प्रवेश नहीं करना चाहिये। हे अनगार। प्रत्येक मुनि को विचार करना चाहिये कि संसार की अपेक्षा संयम सौ टका उत्तम है। संयम के पवित्र मार्ग में जो सुख, आनंद और अलभ्य लाभ है, वह संसार में कभी भी नहीं मिल सकता। यथार्थ

रूप से पालन करने वाले साधु को तो यह संयम देवलोक समान है। पर जो मुनि विषयेच्छु है, उनके लिये तो संयम नरक के समान है। इस विषय में सूत्रकार निम्न स्मरणीय गाथा लिखते हैं:—

"देवलोग समाणो अ परिआओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं च महानरयसारिसो।।"

"जो महर्षि अपनी सदाचारी में अनुरक्त हैं, उन्हें तो चारित्र पर्याय देवलोक जैसा लगता है, पर जो अपनी सदाचारी में रमण नहीं करते, उन्हें यह चारित्र पर्याय नरक जैसा लगता है।"

हे मुने! इस गाथा में यह प्रकट किया है कि जैसे देवलोक में रहने वाले देवता नाटक आदि देखने में मग्न होकर निरन्तर आनन्द में रहते हैं और कभी दुःखी नही होते, वैसे ही संयम-धारी मुनि भी शुद्ध भाव से प्रतिलेखन, स्वाध्याय आदि कार्यों में रमण रह कर आनद से अपना समय व्यतीत करते हैं। उनका चारित्र पर्याय स्वर्ग सुख के समान है।

अत: हे मुने! प्रत्येक जैन मुनि को अपने चारित्र को देवता के सुख जैसा मानकर उसके प्रति प्रीति रखनी चाहिये। कभी भी अपने चारित्र धर्म से भ्रष्ट नहीं होना चाहिये। चारित्र से भ्रष्ट होने वाले मुनि इस लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होते हैं। परलोक में दुर्गति की भारी पीड़ा सहनी पड़ती है और इस लोक में भी अनेक प्रकार के कलंक लगते हैं, जिसके लिये सूत्रकार नीचे की गाथा लिखते हैं :—

"धम्माउ भट्ठं सिरिओववेयं,
जन्नग्गि विज्झाअमिवडप्पतेअं।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला,
दाढुड्डिअं घोर विसं व नागं।।"

"मुनि धर्म से भ्रष्ट और तपोलक्ष्मी से रहित मुनि की वैसी ही उपेक्षा होती है जैसे यज्ञ होने के बाद बुझी हुई अग्नि

की। दुष्ट आचरण वाले उस भ्रष्ट मुनि की भयंकर विष वाले किन्तु दाढ़ रहित सर्प की जैसी गति होती है।"

हे दीक्षा विजय ! अतः आत्मार्थी मुनि को कभी भी भ्रष्टाचारी नहीं होना चाहिये। भ्रष्टाचारी साधु को इस लोक में अपयश मिलता है। दान-पुण्य के अभाव में उसकी निंदा होती है 'अमुक मुनि पतित हो गया है।' कहकर बद-नामी होती है। तुच्छ लोगों में भी उसकी निंदा होती है और अंत में नरक गति को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसे और भी अनिष्ट होते हैं। धर्म की अपेक्षा रखे बिना भोग भोगने में तल्लीन साधु संसार के महा आरंभ वाले कार्य कर, मृत्यु होने पर नीच गति में जाता है। फिर वह सुलभ-बोधि (आसानी से ज्ञान प्राप्त करने वाला) नहीं हो सकता। अतः मुनि को कभी भी चारित्र का त्याग नहीं करना चाहिये।

हे मुने ! यदि किसी कारणवश मोहदशा जाग्रत हो जाय तो मुनि को नीचे की बोधक गाथा का चिंतन करना चाहिये--

"न मे चिरं दुक्खूमिणं भविस्सइ,
असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेण विस्सइ,
अविस्सई जीविअपज्जवेण मे॥"

"संयम से घबराने और दुःखी होने का समय अधिक लंबा नहीं रहेगा। फिर यह भोग की तृष्णा तो जवानी में ही रहेगी, फिर भी यदि रह जाय तो इस शरीर के साथ ही चली जायेगी। फिर इस संयम से घबराने का क्या कारण है?"

इस प्रकार विचार करने वाले मुनि अपने धर्म पर दृढ़ रहते हैं। कभी विघ्न उत्पन्न हो जाय तो अपनी देह का त्याग कर देते हैं पर धर्म शासन का त्याग नहीं करते। इस प्रकार धर्म में निश्चल हुए मुनि को इन्द्र भी संयम से नहीं डिगा सकता, जैसे पवन मेरु पर्वत को नहीं डिगा सकता।

अतः जिस मुनि को अपने चारित्र का निर्वाह करना हो उसे हमेशा अपने धर्म में दृढ़ता रखनी चाहिये। अपनी आत्मा को सन्मार्ग की ओर बढाते हुए वैराग्य की उत्तम भावना पर विचार करना चाहिये। मनोवृत्ति में विकार पैदा नहीं होने देना चाहिये। कभी विकार पैदा हो जाय तो समता भाव का चिंतन करते हुए शुद्ध तत्व की गवेषणा करनी चाहिये।

इस प्रकार 'दशवैकालिक सूत्र' के दशवें अध्ययन की प्रथम चूलिका का वर्णन है। जो मैंने तुम्हें संक्षेप में सुनाया है। उस चूलिका के अन्त में सूत्रकार ने निम्न अंतिम गाथा लिखकर चूलिका को समाप्त किया है:—

"इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्ति गुत्तो जिणवयण महिट्ठिज्जासि त्तिबेमि ।।"

"इस प्रकार यथार्थ में बुद्धिमान पुरुष विनय, काल आदि विविध प्रकार के साधनों को जानकर मन, वचन और काया से तीन प्रकार की गुप्तियों को धारण करते हुए अरिहंत देव के उपदेश का पालन करने से तत्पर रहें।"

हे मुने ! इस प्रकार प्रथम चूलिका में उपदेश दिया गया है। यह उपदेश प्रत्येक जैन मुनि को अपने हृदय में स्थापित करना चाहिये। ऐसा उत्तम उपदेश देकर महानुभाव शय्यंभव-सूरि ने मुनि समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया है। प्रत्येक आर्हत् मुनि इन महानुभाव के यावत् जीवन ऋणी हैं।

दीक्षा विजय—"महाराज ! आपका कहना यथार्थ है। इन महानुभाव का आर्हत मुनि पर महान् उपकार है। हे भगवान् ! यह प्रथम चूलिका तो समाप्त हुई और उसे मैंने सुना और समझा। अब दूसरी चूलिका में क्या बताया गया है, वह कृपा कर समझाइये। आपके वचनामृत सुन कर बहुत आनन्द आ

रहा है। यदि मुझे आपका समागम न हुआ होता तो मैं ऐसे ऊसर क्षेत्र में नहीं रह सकता था। आज ही विहार कर चला जाता।

सुधा विजय—हे मुने ! तुम गुणवान हो, इसलिये दूसरों के गुणों को समझते हो, पर जैन मुनि को किसी भी बात में दु:साहस नहीं करना चाहिये। और प्रत्येक क्षेत्र में विहार कर लोगों का उपकार करना चाहिये। चारित्र की सार्थकता हमेशा परोपकार में ही है। यह देश ऊसर जैसा हो गया है, इसका कारण यही है कि यहाँ मुनियों के आगमन का अभाव है। यदि ऐसे देश में मुनियों का सतत विहार होता रहता तो कभी भी यह देश इस स्थिति को प्राप्त न होता। अतः हे मुने ! परिषह (कष्ट) सहन करके भी तुम्हें ऐसे देश में विहार करना चाहिये। विहार करने में मुनि को कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये और साधु का विहार कैसा होना चाहिये, यह सब विषय दूसरी चूलिका में वर्णित है अतः हे मुने ! अब मैं तुम्हें दूसरी चूलिका का आशय समझाता हूं, उसे ध्यान पूर्वक सुनो।

हे मुने ! दूसरी चूलिका के आरंभ में महानुभाव शय्यंभव-सूरि ने प्रथम गाथा में आचार्य के गुणों का वर्णन किया है। उसमें वे लिखते हैं कि "नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ लकड़ी का टुकड़ा जैसे प्रवाह के वेग से समुद्र में चला जाता है, वैसे ही बहुत से लोग विषय रूपी प्रवाह के वेग से संसार रूपी समुद्र में चले जाते हैं। अतः जो पुरुष मुक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे अपनी आत्मा को विषयों के प्रवाह की तरफ जाने से रोक कर, संयम की तरफ आकृष्ट करना चाहिये।"

हे मुने ! इस अर्थ को दिखाने के लिये निम्न उत्तम गाथा कही गई है:—

"अणुसोअपट्ठिअ बहुजणंमि, पडिसोअलद्धलक्खेणं।
पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं॥"

इस बोधक गाथा का आशय कितना उत्तम है। इसमें वर्णित नदी में बहते हुए लकड़ी का दृष्टान्त कितना सुबोधक

है। विषय रूपी प्रवाह का वेग बहुत ही बलवान होता है। उस वेगवान प्रवाह में फँसे हुए को वापस खींचकर लाना बहुत ही कठिन है। जो आत्मा विषय के प्रवाह में फँस गया है, उसे वापस खींचकर संयम की तरफ आकृष्ट करना बहुत ही दुष्कर है। पूर्व में जैन मुनियों का पराक्रम ऐसे ही कार्यों में प्रशंसनीय गिना जाता था। जो विषय वेग के प्रवाह में फँसे हुए आत्मा को खींचकर वापस संयम की तरफ ले जाय वह वास्तव में वीर पुरुष है। महावीर के शासन को उद्योतित करवाने वाले भी ऐसे ही वीर हैं। अतः शुद्ध संयम को धारण करने वाले मुनियों को अपनी आत्मा को विषय के प्रवाह में नहीं बहने देना चाहिये। पर संयम के प्रति सचेत रखना चाहिये।

सर्व जीव योनि में मानव देह उत्तम गिनी जाती है। इस संसार में ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त कर और उसमें भी आत्म स्वरूप को प्राप्त करवाने वाले चारित्र रत्न का आराधन कर, जन्म सफल करने में जो मुनि प्रमाद करते हैं, वे नहीं जानते कि मानव जीवन का कर्तव्य क्या है, जिससे वे इस लोक से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रमादी जीवों को आर्हत धर्म का वास्तव में स्वरूप समझ में ही नहीं आता। अतः वे इस धर्म से विमुख हो जाते हैं। अतः संयमी मुनि को कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। वैसे ही विषय सुख की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। जैन मुनि को अपने धर्म का स्वरूप भली भाँति समझना चाहिये। धर्म का सच्चा अर्थ क्या है, इस विषय पर दीर्घ विचार करना चाहिये। देह, इन्द्रियों और अंतःकरण को अयोग्य प्रवृत्तियों में से हटाकर, उन्हें निर्मल करने के लिये गुरु तथा आगम की आज्ञानुसार विहित प्रवृत्तियों में जोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी को धर्म कहते हैं। ऐसे धर्म के स्वरूप को समझने वाले संवेगी त्यागी साधु कभी भी स्वधर्म से भ्रष्ट नहीं होते। हे मुने! इस पर हमें समझना चाहिये कि हमें कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिये, पक्षपात नहीं करना चाहिये, समता रखनी चाहिये और वाद-विवाद

को छोड़ देना चाहिये। सभी क्षेत्रों में कष्ट सहन करते हुए भी विहार करना चाहिये।

हे मुने! इस प्रकार 'दशवैकालिक सूत्र' के अंतिम अध्ययन की प्रथम चूलिका का उपदेश मैंने तुम्हें संक्षेप में सुनाया है, वह तुम ध्यान में रखना तुम्हारे जैसे जैन मुनि को विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी आकृति और प्रवृत्ति बता रही है कि तुम कोई पवित्र और धर्मानुसार प्रवृत्ति करने वाले जैन मुनि हो। चलो अब हम अपनी उपदेश वार्ता को समाप्त करें। प्रतिक्रमण करने का समय हो गया है।

मुनिरूपी दीक्षाकुमारी ने आनंदपूर्वक बताया—'हे पवित्र मुनि! आज आपके मुख से उपदेश वार्ता सुनकर मुझे बहुत ही आनंद हुआ है। अब प्रतिक्रमण करने के पश्चात फिर दसवें अध्ययन की दूसरी चूलिका का उपदेश देने की कृपा करें। आपकी वाणी में जो दिव्य माधुर्य है, वह अनुपम है।

दीक्षाकुमारी के वचन सुनकर मुनि सुधा विजय आनन्दित हुए। फिर दोनों मुनि प्रतिक्रमण की पवित्र क्रिया करने में संलग्न हो गये। पवित्र दीक्षाकुमारी ने अपने दिव्य प्रभाव से जैन मुनि के नियमानुसार प्रतिक्रमण की क्रिया की, जिससे मुनि सुधा विजय आश्चर्य चकित हो गये।

प्रवास (15)

मुनि सुधा विजय और मुनि दीक्षा विजय प्रतिक्रमण की पवित्र क्रिया से निवृत्त हुए तो मुनि दीक्षा विजय ने विनय से कहा, "महाराज ! अब कृपा कर दूसरी चूलिका का उपदेश दीजिये ।"

दीक्षा विजय की प्रार्थना से प्रसन्न होकर मुनि सुधा विजय मंद हास्य के साथ बोले, "हे पवित्र मुनी ! सुनो, प्रथम चूलिका में शिथिल परिणाम वाले साधुओं को संयम से दृढ़ करने के लिये कहा गया है । दूसरी चूलिका में साधु को किसी भी क्षेत्र या सांसारिक पदार्थ पर आसक्ति रखे बिना विहार करने के लिये कहा जाता है । केवली भगवान द्वारा कथिक इस दूसरी चूलिका को सुनकर प्रत्येक भव्यजीव को अपने चारित्र धर्म में स्थिर होना चाहिये और अपनी श्रद्धा दृढ रखनी चाहिये । हे मुने ! इस दूसरी चूलिका के लिये वृद्ध-परम्परा से एक बात चल रही है जो तुम्हें सुनाता हूं, सुनोः—

सिरीपक नामक एक जैन साधु उपवास करने में बहुत ही कमजोर था। पूरे दिन वह आहार के बिना नहीं रह सकता था । एक समय यक्षा नामक किसी साध्वी ने संवत्सरी पर्व के दिन उस साधु को उपवास करवाया । उपवास में ही वह साधु मृत्यु को प्राप्त हुआ । इससे यक्षा साध्वी को बहुत खेद हुआ । "मैंने एक मुनि का अपघात किया है ।" ऐसा सोचकर उस साध्वी को बहुत ही उद्वेग हुआ । हृदय में उसी विचार से चिंतित वह साध्वी सीमंधर स्वामी के पास जाकर इसकी आलोचना पूछने का विचार करने लगी और तेले की तपस्या

होकर उस साध्वी को सीमंधर स्वामी के पास ले गये। साध्वी ने सीमंधर स्वामी से अपने कृत्य की आलोचना पूछी। तव पूर्वज्ञानी भगवान ने प्रायश्चित के लिये यह द्वितीय चूलिका कह सुनायी। यही वह दूसरी चूलिका है।

हे मुनि ! इस दूसरी चूलिका में चर्या के गुणों का वर्णन है। जो साधु ज्ञानादि आचार में पराक्रमी हो, जो इन्द्रिय विजय हो, जिसमें समाधि हो और आकुलता का अभाव हो, ऐसे साधु में चर्या, (एक स्थान पर न रहने का वाह्य आचरण) मूल गुण, उत्तम गुण और नियम स्वत: ज्ञेय रूप से प्राप्त होते हैं। इस विषय पर इस दूसरी चूलिका में निम्न गाथा कही गई है :—

"तम्हा आयार परकम्मेणं, संवरसमाहि वहुलेणं।
चरिया-गुणाय नियमा अ, हुंति साहूण दट्ठवा॥"

"ज्ञानादि आचार में पराक्रम वाला और संवर तथा समाधि में बहुत वलवान साधु को चर्या और गुण और नियमों का पालन करना चाहिये।"

हे मुनि ! इस गाथा को प्रत्येक साधु को याद रखना चाहिये यदि यह गाथा मुनि के हृदय में सदा स्थापित रहे तो वह मुनि कभी भी प्रमाद के वश नहीं होता। आजकल अपने मुनि ज्ञानादि आचार में, संवर तथा समाधि में बहुत ही कमजोर हैं। ऐसे कमजोर मुनियों को फिर चर्या, गुण और नियम प्राप्त नहीं होते।

हे मुनि ! विशेष कर प्रत्येक मुनि को चर्या के लिए विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। अनियत स्थानों में रहने की चर्या के गुण से जैन मुनि कभी भी दुर्गुणों के वश में नहीं होता। एक ही क्षेत्र में नियमित रहने वाले मुनि प्रमाद के वश में होते हैं और फिर उनमें एक-एक कर के दुर्गुण बढ़ते जाते हैं। साधुओं के विहार की मर्यादा कितनी उत्तप है, इस

विषय पर सूत्रकार ने बहुत विवेचन किया है। जैन मुनि को हमेशा अनियमित निवास करना चाहिये अर्थात् एक ही स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं रहना चाहिये। दूसरी समुदान चर्या अर्थात् अनेक स्थानों से गोचरी की विधि के अनुसार भिक्षा लाकर आहार करना चाहिये। तीसरा अज्ञात कुल अर्थात् अपरिचित गृहस्थ के घर से ग्रहण करने योग्य शुद्ध आहारादि लेना चाहिये। चौथा प्रतिरिक्तता अर्थात् जहां भीड़भाड़ न हो ऐसे एकांत स्थान पर निवास करना। पांचवां अल्पोपधि अर्थात् बड़प्पन न दिखाई दे ऐसी अल्प उपाधि रखनी। और छठा कलह विवर्जना अर्थात् किसी के साथ लड़ाई-झगड़ा नहीं करना।

विहार की उपर्युक्त मर्यादा सर्वोत्तम मानी गई है। इस विषय में इसी भाव को दर्शाने वाली एक सुन्दर गाथा निम्न प्रकार से लिखी गई है—

"अनिए अ वासो समुआण चरिआ,
अन्नायउंछं पयरिक्कया अ।
अप्पोवही कलह विवज्जणा अ,
विहार चरिआ इसिण पसत्था ॥"

"अनियमित निवास, अनेक स्थानों की भिक्षाचरी, अज्ञात कुल दान ग्रहण, एकांत स्थान पर निवास, अल्प उपाधि और कलह विवर्जना इन छः प्रकार की प्रवृत्तियों को उत्तम विहार चर्या माना जाता है।"

हे मुनि ! इस विषय पर मेरे अनुभव की एक घटना जानने योग्य है। वह सुनो :—

तपो विजय नामक मेरे एक गुरु भाई थे। जिनका कि तीन वर्ष पहले ही देहान्त हुआ है। वे अपने मुनि धर्म में बहुत ही प्रवीण और श्रद्धावान थे। हमारे पूज्यपाद गुरुदेव जब अधिक वृद्ध हो गये तो उन्होंने हमसे कहा,—"हे शिष्यों ! अब

मैं थोड़े समय में काल कर जाऊँगा, अतः तुम्हें जो कुछ भी पूछना हो वह पूछलो ।" फिर हमने उनसे कहा, "हे गुरु महाराज ! हमें आपसे कुछ भी नहीं पूछना । मात्र आपके मुखारविन्द से उपदेश सुनना है ।" हमारे वचन सुनकर गुरुजी ने हमें कुछ उपदेश दिया । यह उपदेश अभी भी मेरे हृदय में स्फुरित होता रहता है । उस उपदेश के प्रभाव से ही हम अपने चारित्र धर्म रूपी महासागर को पार कर सके हैं ।

मुनि सुधा विजय के वचन सुनकर दीक्षा विजय ने कहा, "महाराज ! आपके वृद्ध और अनुभवी गुरुजी ने आपको क्या उपदेश दिया था ? कृपा कर मुझे सुनवाइये । क्योंकि ऐसे अनुभवी वृद्ध मुनि की वाणी बहुत मनन करने योग्य होती है।"

दीक्षा विजय के उपर्युक्त वचन सुनकर मुनि सुधा विजय ने कहा, "मुनि दीक्षा विजय ! हमारे गुरुजी ने इस संसार पर मोह पैदा न हो और वैराग्य भाव प्रकट हो, इस हेतु थोड़ा-सा उपदेश दिया था । यद्यपि यह उपदेश संक्षिप्त था तथापि बहुत बहुत उपयोगी और संवेग के रंग को प्रकट करने वाला था । हे मुनि ! वह उपदेश सावधानी पूर्वक सुनो—

"इस मोहपूर्ण पृथ्वी पर धन आदि के मद से मत्त बने बहुत से चक्रवर्ती राजा हो गये हैं । युवावस्था के मद के वेग में बहने वाले और अनेक गरीबों को सताने वाले भी काल को प्राप्त हो गये हैं । अतः हे जीव ! तेरा क्या सामर्थ्य है कि तू यौवन, धन, जाति और कुल के मद से मत्त होकर फिर रहा है ? कोई ऐसा सोचता हो कि अन्य लोग अपनी प्रकृति को अच्छी स्थिति में रखने के लिये उपायों के अज्ञान से या अपथ्य के सेवन से, या औषधी सेवन के लोभ से या आवश्कतानुसार औषधि सेवन में वेपरवाह होने से मर गये या मर रहे हैं । पर हम तो सर्व प्रकार से कुशल और सब प्रकार से सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले हैं, अतः हम तो कभी स्वप्न में भी नहीं मर सकते । ऐसे समझदारों को भी विकराल काल ग्रास

कर गया है। अतः इस अवश्य नाशवान शरीर के साथ सम्बन्धित जाति, कुल और द्रव्य आदि के अभिमान से अपने को रोकना चाहिये। यह देह चर्म, अस्थि, रक्त, मांस, मज्जा नाड़ी, रोम, लाल, मल और मूत्र आदि मलिन पदार्थों का समूह है। ऐसे शरीर को आत्मा मानने, शरीर की मलिनता का दोष दूसरों को दिखाई न दे जाय, इसलिये सुगन्धित तेल की मालिश, साबुन से स्नान, समय-समय पर पहनने के लिये सुन्दर वस्त्राभूषण, चन्दन, पुष्पमाला और इत्तर वगैरह पदार्थों का अत्यधिक सेवन करते हैं। वर्तमान समय में तो कई पुरुष भी स्त्रियों की भांति बालों को सुन्दर बनाने में लगे रहते हैं। कई तो विषय रस की बातचीत में ही अपना अधिकांश समय गँवाते हैं। ऐसी भ्रांति में रहे हुए लोगों को भी समय पर काल तो ग्रास बना ही लेता है। फिर भी लोग नहीं समझते। यह शरीर तो अवश्य ही राख, मिट्टी या विष्टा के रूप में परिणत होने वाला है। ऐसा समझकर देहात्मभ्रांति, गुणाधान भ्रांति और दोषापनयन भ्रांति का त्याग करना चाहिये। देहाभिमानियों की ऐसी भूल के लिये ज्ञानियों को बहुत आश्चर्य होता है। सार-असार व विवेक से रहित मात्र स्थूल शरीर से सम्बन्धित ऐसी क्षुद्र प्रवृत्तियों में लगे हुए मनुष्यों और पशुओं में क्या अन्तर है? यही कि पशु के चार पैर हैं और मनुष्यों के दो पैर हैं। ऐसी पामर प्रवृत्ति से इस भव-अटवी से बाहर नहीं निकला जा सकता।

शुद्ध संयम धारी साधु को अपने स्वरूप का अवलोकन करना चाहिये। "मैं शुद्ध चेतन हूं" ऐसा भाव एकाग्र चित्त से अनुभव करना चाहिये। पंच परमेष्टि के ध्यान में मग्न होकर परमात्मा के गुणों को अपने मन में रमाने की तत्परता रखनी चाहिये। तपस्या से कर्म की निर्जरा कर संवर तथा समाधि से शांत स्वरूप का अवलम्बन लेकर सर्वदा शुभ ध्यान में मग्न रहना चाहिये। ऐसा करने से साधु अपने शुभाशुभ कर्मों से मुक्त हो सकता है और अन्त में अपने चारित्र को चरितार्थ कर

अपनी आत्मा को शुभ ध्यान की श्रेणी पर आरूढ़ करने में समर्थ हो सकता है।

हे मुनि ! इस प्रकार उपदेश देते-देते वे महान् गुरुजी काल का सामना करने के लिये तैयार हो गये। उस समय उन्होंने कहा, "शिष्यों ! अब मेरे आयुष्य का अन्त आ गया है अतः शिक्षा रूप तुम्हें एक गाथा सुनाता हूं, उसे तुम सर्वदा स्मरण रखना और तदनुसार प्रवृत्ति करने के लिये तत्पर रहना।" इतना कहकर उन्होंने 'दशवैकालिक सूत्र' की दूसरी चूलिका की गाथा कह सुनाई। उसके पश्चात् हमारे पूज्यपाद गुरु पंच परमेष्टि का ध्यान करते हुए काल धर्म को प्राप्त हुए।

हे मुनि ! उस गाथा को मेरे गुरु भाई तपो विजय सदा याद रखते और उसके अनुसार प्रवृत्ति करते। गुरुजी के देहावसान के बाद हम दोनों भाइयों ने वहां से विहार किया। विहार करते-करते हम जैन प्रजा से भरपूर एक शहर में पहुँचे। वहां श्रावकों ने हमारा बहुत सम्मान किया। उस क्षेत्र का लाभ होने की धारणा से हम एक माह तक वहां रहे। उसके पश्चात् हम वहां से विहार करने के लिए तैयार हुए। उस समय वहां के श्रावक-श्राविकाएं एकत्रित होकर हमें और रुकने का आग्रह करने के लिए आये। श्रावकों का आग्रह देखकर तपो विजय ने इस गाथा का स्मरण किया। उसने कहा, "श्रावको ! एक माह से अधिक हम नहीं रह सकते क्योंकि हमारे गुरुजी ने उपदेश दिया है कि 'अनिए-अवासो' अर्थात् मुनि को अनियमति निवास करना चाहिये।" तब श्रावकों ने कहा, "महाराज आज-कल इस नियम की प्रवृत्ति नहीं है। इस शहर में कई साधु एक के ऊपर दूसरे चातुर्मास करते हैं और संघ का मान रखते हैं। इतना ही नहीं, चातुर्मास के सिवाय भी कई कई महीनों तक रहते हैं।" श्रावकों के वचन सुनकर मेरे गुरु भाई तपो विजय बोले, "श्रावकों ! इस प्रकार की प्रवृत्ति साधुओं के योग्य नहीं है। हम तो ऐसा नहीं कर सकते।" ऐसा कहकर हम दोनों गुरु भाई वहाँ से विहार कर चल पड़े।

वहां से विहार कर हम दूसरे स्थान पर गये। वहां श्रावकों ने हमें बहुत ही आदर पूर्वक एक उपाश्रय में ठहराया। उस समय आहार का वक्त था अतः एक धनाढ्य संघनायक सेठ ने आहार लेने के लिये आने की विनती की। मेरे गुरु भाई तपो विजय मेरे से बड़े थे इसलिये मैंने उनसे आहार लेने जाने की आज्ञा मांगी। उन्होंने देश का विचार करते हुए कहा कि 'समुआरण चरिआ'। इस वाक्य को याद रखते हुए मैं उस गृहस्थ-श्रावक के साथ गोचरी के लिये निकला। यह गृहस्थ-श्रावक पहले मुझे अपने घर ले गया। वहां उसने बहुत सा उत्तम आहार लाकर कहा, "महाराज! यह सब प्रासुक (निर्दोष) आहार है, आप ग्रहण करिये।" वह बहुत सारा आहार देखकर मैंने उससे कहा, "श्रावकजी एक गृहस्थ के घर से इतना सारा आहार ग्रहण करना हमारे मुनि धर्म के विरुद्ध है, क्योंकि मेरे बड़े गुरु भाई ने मुझे कहा है कि 'समुआरण चरिआ' अर्थात् समुदान चर्या के अनुसार ग्रहण करना। यानि अनेक स्थानों से लाई हुए भिक्षा का आहार ही मुनि धर्म है।" उस वक्त उस गृहस्थ ने कहा, "महाराज! यहां बहुत से साधु आते हैं, पर कोई इस प्रकार नहीं करता। वे सब मेरे घर से ही सब प्रकार की वस्तुएं ग्रहण करते हैं और जो कुछ भी उन्हें चाहिये वे सब वस्तुएं यहाँ से मंगाते हैं।" यह सुनकर मैंने कहा, "श्रावकजी! दूसरे मुनि कुछ भी करते हों, पर हम तो ऐसी प्रवृत्ति नहीं कर सकते। जैन मुनि को एक ही स्थान से आहार नहीं लेना चाहिये।" इस प्रकार कह, उसके घर से थोड़ा सा आहार लेकर मैं दूसरे श्रावकों के घर गया। उस शहर में एक माह रुककर फिर हमने दूसरे स्थान के लिये विहार किया।

विहार करते हुए हम एक दूसरे शहर में पहुंचे। वहां कुछ श्रावक मेरे गुरु भाई तपो विजय के सम्बन्धी थे। बहुत अच्छी स्थिति में थे। तपो विजय को आया जानकर उन्हें बहुत आनन्द हुआ और हमारी भक्ति-सेवा करने को तत्पर हुए। उस वक्त तपो विजय मुनि के चोलपट्ट का वस्त्र फट गया था। उस जीर्ण वस्त्र को देखकर उनके सम्बन्धी विट्ठल नामक श्रावक उच्च-

कोटि के वस्त्रों की गांठ लेकर उनके पास आया और वस्त्र ग्रहण करने का आग्रह करने लगा। उस समय पवित्र मुनि तपो विजय ने कहा, "भाई विट्ठल यह वस्त्र तुम वापस ले जाओ ! ये वस्त्र हम ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि कोई भी उपधि (वस्त्र पात्र आदि) ग्रहण करनी हो तो मुनि को उसमें 'अज्ञात ऊँछ' का ध्यान रखना चाहिये। मुनि को अपरिचित गृहस्थ के घर से उपधि ग्रहण करनी चाहिये। इसी को अज्ञात ऊँछ कहते हैं। तुम मेरे संसार-सम्बन्धी परिचित हो अतः मैं तुम्हारे से कोई वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता।" मुनि के वचन सुनकर विट्ठल श्रावक ने कहा, "महाराज ! आपको ऐसा नहीं करना चाहिये। जब आप मेरे जैसे सम्बन्धी को भी लाभ नहीं देंगे तो मुझे फिर कौन लाभ देगा ? इस गांव में एक दूसरा उपाश्रय है जिसमें पूर्व में इसी गांव के रहने वाले एक मुनि दया विजय निवास करते हैं। वे आज तीन वर्ष से यहीं रहते हैं और उनके सम्बन्धियों को अच्छा लाभ देते हैं। अपनी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु अपने सम्बन्धी के यहां से ग्रहण करते हैं और दिन में दो तीन बार उसके घर जाते हैं। जबकि आप मेरे जैसे सम्बन्धी का अनादर कर दूसरे अपरिचित गृहस्थ को लाभ दें, यह कैसी अच्छी बात है ? "विट्ठल के वचन सुनकर मुनि तपो विजय बोले, "भाई विट्ठल ! ऐसा अनाचार मेरे से तो नहीं हो सकता। प्रथम तो जहां सांसारिक सम्बन्धी अथवा परिचित रहते हों, वहां मुनि को विशेष परिचय नहीं बढ़ाना चाहिये। संसारी सम्बन्धियों के साथ रहना, उनसे परिचय रखना और उनके पास से इच्छित वस्तु लेना, यह जैन मुनि के लिये एकदम अयोग्य है। इतना ही नहीं, ऐसी प्रवृत्ति करने वाले मुनि अपने चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं।"

मुनि तपो विजय के उपर्युक्त वचन सुनकर विट्ठल श्रावक का मुंह उतर गया। फिर ग्लान होकर वह कुछ भी बोल नहीं सका। मेरे गुरु भाई फिर दो दिन उस गांव में रहकर मेरे साथ वहां से विहार कर गये।

फिर हम दोनों गुरु भाई विहार करते हुए राजनगर में आये वहां के श्रावक एक उपाश्रय मे ठहराने के लिये हमें ले गये। उस उपाश्रय में दो-तीन दूसरे मुनि ठहरे हुए थे। उस उपाश्रय के आस पास ही गृहस्थों के बड़े-बड़े भवन स्थित थे। उस उपाश्रय के आसपास अधिक बस्ती थी। उपाश्रय की दो मजिल थी। उसकी ऊपर की मंजिल पर उतारने के लिए श्रावक हमें ले गये। हम दोनों गुरु भाई वहां ठहरे। दूसरे जो दो-तीन मुनि हमारे पास ही ठहरे हुए थे उन्होंने भी दिखाने के लिये तो हमारा स्वागत किया पर उनके हृदय में हमारा आना रुचिकर लगा हो ऐसा नहीं दिखता था। हमारे वहां ठहरने के कुछ देर बाद गोचरी का समय हुआ तो हमने देखा कि उपाश्रय के पास में आये हुए भवन के वंरडे में खड़ी होकर एक श्राविका ने वहां ठहरे हुए दूसरे मुनियों को गोचरी के लिये विनती की। यह देखकर मेरे गुरु भाई तपो विजय ने कहा, "पयरिक्कया" अर्थात् प्रतिरिक्तता याने जहां भीड़भाड़ न हो ऐसे स्थान में ही साधु को ठहरना चाहिये। यह वाक्य कहकर उन्होंने तुरन्त ही कहा, "सुधा विजय! इस स्थान पर रुकना अपने योग्य नहीं है।" इतना कहकर तुरन्त ही मेरे साथ विहार कर निकल पड़े। दूसरे मुनि हमें वहां रुकने का आग्रह करने लगे तो भी हम फिर वहां नहीं रुके।

वहां से विहार करके हम एक दूसरे स्थान पर आये। इस गांव में धनवान श्रावकों की काफी बस्ती थी। वे हमारी अगवानी कर हमें गांव में ले गये। दूसरे दिन गांव के कई गृहस्थ वस्त्रों की गांठें, पुस्तकें, ज्ञान के साधन और नवरंगित पात्र आदि लेकर आये और मुनि तपो विजय को वस्त्र, पात्र आदि लेने का आग्रह करने लगे। मुनि तपो विजय ने आये हुए श्रावकों को विनय पूर्वक कहा, "भाइयों! आप इतनी सारी सामग्री लेकर क्यों आये हो! हमें किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जैन मुनियों को विशेष उपधि का सग्रह नहीं करना चाहिये।" मुनि तपो विजय के वचन सुनकर उनमें स एक गृहस्थ बोला, "महाराज! दूसरे सभी मुनि

हमें अच्छा लाभ देते हैं और हमारे यहां से अधिकाधिक वस्तुएं ग्रहण करते हैं और आप इस प्रकार हमारी वस्तुओं का अनादर करें यह अच्छी बात नहीं है।" मुनि तपो विजय बोले, "श्रावको ! जैन मुनियों को विशेष उपधि (परिग्रह) नहीं रखनी चाहिये। जो विशेष उपधि रखते है वे सच्चे जैन साधु नहीं हैं।" मुनि तपो विजय के वचन सुनकर फिर उन्होंने विशेष आग्रह नहीं किया और वे सब तुरन्त मेरे पास आये। तब मुनि तपो विजय ने 'अप्पोवही' वाक्य ऊंचे स्वर से बोलकर मुझे सुनाया, अर्थात् जैन मुनि को थोड़ी उपधि अपने पास रखनी चाहिये, यह मैं समझ गया। अतः मैंने भी उन श्रावकों से कह दिया कि मुझे भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। तब वे लोग जैसे आये थे वैसे ही अपने स्थान को चले गये। दूसरे दिन हम दोनों गुरु भाई वहां से विहार कर दूसरे स्थान को चले गये।

हे दीक्षा विजय मुनि ! वहां से विहार कर हम किसी बड़े शहर में गये। वहां हमने जब एक उपाश्रय में प्रवेश किया तब कुछ जैन मुनियों को आपस में झगड़ा करते हुए देखा। यह देखते ही मुनि तपो विजय ने कहा, 'कलहविवज्जणां' अर्थात् जैन मुनि को कलह नहीं करना चाहिये। इतना कह मुनि तपो विजय मुझे साथ लेकर वहां से विहार कर किसी दूसरे स्थान पर चले गये।

हे दीक्षा विजय ! इस प्रकार अनियमित निवास, समुदान-चर्या, अज्ञात ऊंछ, प्रतिरिक्तता, अल्प उपधि और कलह-विवर्जना इन छह नियमों का पालन करते हुए मुनि तपो विजय का चारित्र बहुत ही प्रशंसनीय हो गया, जिससे वे अपने मुनि धर्म का भली प्रकार पालन कर सके।

हे मुनि ! अतः प्रत्येक जैन को अपनी प्रवृत्ति में इन छह बातों का ध्यान रखना चाहिये और तदनुसार प्रवृत्ति करके अपने-अपने चारित्र को चरितार्थ करना चाहिये। जो इसके

अनुसार प्रवृत्ति नहीं करते, वे अपने चरित्र से भ्रष्ट होकर इस लोक और परलोक दोनों जगह अधोगति को प्राप्त होते हैं।

हे मुनि ! इस द्वितीय चूलिका में सूत्रकार लिखते हैं कि जैन मुनि को राज्य पक्ष, स्वपक्ष या परपक्ष द्वारा हुए अपमान को भी छोड़ देना चाहिये। वैसे ही उसे अपनी आहार-विधि में भी सर्वदा सावधान रहना चाहिये। मद्य तथा मांस का सर्वदा त्याग करना चाहिए। किसी भी जीव के साथ मत्सर या द्वेष नहीं करना चाहिए। विकार उत्पन्न करने वाले विगय का त्याग करना चाहिये। बार-बार आने-जाने के कारण ईर्या प्रतिक्रमण रूप कायोत्सर्ग (ध्यान) करना चाहिये, क्योंकि कायोत्सर्ग के बिना क्रिया को शुद्धि नही होती। जैन मुनि को दूसरी प्रवृत्ति को छोड़ कर हमेशा वाचन, स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियों में संलग्न रहना चाहिये।

हे मुनि ! आजकल कितने ही मुनि अमुक-अमुक क्षेत्र की ममता बांध लेते हैं, वह बहुत अनुचित है। क्षेत्र की ममता वाले कई मुनि अपने लिए तैयार किये हुए पीठ, फलक, स्वाध्याय, बैठक और अमुक प्रकार के रुचिकर पदार्थों के लिए भी ममता रखते हैं। वे विहार करते वक्त अपने रागी श्रावकों से कह कर जाते हैं 'ये सब वस्तुएँ हमारी हैं, जब हम सब वापस यहां आवें तब ये सब हमारे लिए हाजिर रहनी चाहिये।' यह प्रवृत्ति बहुत ही खराब है। पवित्र जैन मुनि को कभी भी ऐसा ममत्व नहीं रखना चाहिए। इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा लिखते हैं :—

"न पडिन्नविज्जा सयणासणाइं,
सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे,
ममत्त भावं न कहिं पि कुज्जा॥"

'शयन, आसन, शय्या, स्वाध्याय करने की भूमि, आहार-पानी, ग्राम, कुल, नगर और देश पर मुनि को ममत्व भाव नहीं रखना चाहिये।'

हे मुनि ! इस पवित्र गाथा का प्रत्येक जैन मुनि को सर्वदा मनन करना चाहिए। इसका मनन करने वाले पवित्र मुनि कभी भी अपने चारित्र को दूषित नहीं करते। आजकल जो जैन मुनि इससे विपरीत प्रवृत्ति करते हैं, वे शासन की निन्दा करवाते हैं और अपनी आत्मा को दुर्गति में ले जाते हैं।

हे मुनि ! एक दूसरी भी खराब प्रवृत्ति वर्तमान काल में चल रही है। यह प्रवृत्ति भी आर्हत धर्म की निन्दा करवाने वाली है। कई मुनि अपने रागी गृहस्थ श्रावकों का उपकार कराते हैं। उनके पोषण और अन्य हितों के लिए अनेक प्रकार की योजना बनाते हैं। जो पैसे के अभाव में दुःखी हों, उन्हें पैसा दिलवाते हैं। वस्त्र की कमी वालों को वस्त्र दिलवाते हैं। अन्न की कमी वालों को अन्न दिलवाते हैं। यदि कोई श्रावक रोग ग्रस्त हो तो उसका अच्छे वैद्य या डाक्टर से इलाज तथा औषधि का प्रबन्ध करवाते हैं। साधु के लिए यह प्रवृत्ति बहुत ही निंद्य और चारित्र को दूषित करने वाली है। इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा से निषेध करते हैं :—

"गिहिणो वेआवडिअं न कुज्जा,
अभिवायणं - वंदण - पूअणं वा।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा,
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥

'मुनि को गृहस्थ की किसी प्रकार की वैयावच्च (सेवा) नहीं करनी चाहिये। वैसे ही उनका वचन या काया से वंदन पूजन नहीं करना चाहिये और उन गृहस्थों के साथ निवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से चारित्र की हानि होती है।'

शास्त्र में निषेध होने पर भी कई अल्प बुद्धि मुनि ऐसी निंद्य प्रवृत्ति में पड़ते हैं, यह बहुत ही पश्चाताप की बात है।

हे मुनि ! इस प्रसंग में सूत्रकार एक दूसरी बात की जानकारी भी देते हैं कि मुनि को किसके साथ विहार करना चाहिए या किसके साथ रहना चाहिए। इस विषय में प्रत्येक मुनि को जानना चाहिए। कभी काल के दोष से संयम के पालन में कुशल, ज्ञानादि गुण में उत्कृष्ट या सम्पन्न, ऐसा कोई मुनि न मिले तो पापकर्म का त्याग कर, कामादिक में आसक्त हुए बिना अकेला ही विहार करें, पर किसी भी शिथिल चारित्र वाले मुनि के साथ विहार न करे। इस प्रसंग पर सूत्रकार ने विहार के समय का प्रमाण भी बताया है, जिसे सभी मुनियों को सर्वदा याद रखना चाहिए। मुनि को चातुर्मास में एक स्थान पर और इसके सिवाय अधिक से अधिक एक महीने से ज्यादा एक स्थान नहीं रहना चाहिये (जिस स्थान पर चातुर्मास या एक महीने ठहर चुके हों, उसी स्थान पर उस वर्ष में फिर से नहीं ठहरना चाहिए। इस शास्त्रीय नियम का आजकल बहुत अधिक उल्लंघन किया जाता है। क्षेत्र में ममत्व रखने वाले और अपने रागी श्रावक-श्राविकाओं से आकर्षित अनेक मुनि एक ही वर्ष में निवास करते हुए वहीं पड़े रहते हैं। यह सर्व प्रकार से दूषित है। इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा लिखते हैं :—

"संवच्छरं वा वि परं पमाणं,
वीअं च वासं न तहिं वसिज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू,
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ॥"

'मुनि को एक स्थान पर वर्ष में एक चातुर्मास और उसके अतिरिक्त एक महीने से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। भिक्षु मुनि को सूत्र के मार्ग और सूत्र के अर्थ की आज्ञानुसार चलना चाहिये।'

हे मुनि ! प्रत्येक जैन मुनि को रात्रि के प्रथम और अंतिम प्रहर में अपनी आत्मा की जांच करनी चाहिए। वह इस प्रकार

कि, 'आज मैंने करने योग्य क्या कार्य किया, मुझे क्या करना बाकी है, मैं क्या करने योग्य हूं, मैंने करने योग्य कौनसा कार्य नहीं किया ?' ये चार प्रश्न मुनि अपनी आत्मा से पूछे ताकि मुनि के हृदय में इस विषय में प्रमाद न रहे। आत्म चिंतन करते हुए भी कभी एकाधबार प्रमाद हो गया हो तो फिर दुबारा प्रमाद न हो। हे मुनि ! यह कैसी उत्तम पद्धति है ? वर्तमान काल में जो प्रमादी मुनि इस पद्धति का अनुसरण नहीं करते, वे अपने चारित्र से भ्रष्ट होते हैं और जिस हेतु से उन्होंने चारित्र ग्रहण किया है, वह हेतु कभी भी सिद्ध नहीं हो पाता। अतः उनका चारित्र बिल्कुल व्यर्थ जाता है। इन चार प्रश्नों का सर्वदा मनन करने और तदनुसार प्रवर्तन करने वाले मुनि अपने चारित्र जीवन को चरितार्थ कर स्वर्ग तथा मोक्ष संप्राप्त करते हैं। हे दीक्षा विजय ! हमारे स्वर्गवासी गुरु सर्वदा इन चार प्रश्नों का मनन करते थे और हमसे भी मनन करवाते थे। इस अर्थ को दर्शित करने वाली 'दशवैकालिक सूत्र' की निम्न पवित्र गाथा वे हमेशा गाया करते थे :—

"जो पुव्वरत्तावरत्त काले,
संपेहए अप्पगमप्पगेणं ।
किं मे कडं किच्चमेकिच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ।।"

'रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर में मुनि अपनी आत्मा का निरीक्षण कर विचार करते हैं कि 'आज मैंने क्या किया, मुझे क्या करना बाकी है, मैं क्या कर सकता हूं और करने योग्य कौनसा कार्य मैंने नहीं किया ?'

इस पवित्र गाथा का सदा पठन और मनन करने वाले मेरे गुरु ने अपने जीवन में जो उच्च गुणों का सम्पादन किया, उन गुणों का प्रत्येक जैन मुनि को स्मरण और अनुकरण करना।

हे मुनि दीक्षा विजय ! सूत्रकार एक अन्य सूचना भी देते हैं कि प्रत्येक जैन मुनि को विचार करना चाहिए, 'दूसरा कोई

पुरुष मेरी भूल या प्रमाद देखता है या मैं स्वयं अपने प्रमाद का निरीक्षण करता हूं, मेरा कौनसा प्रमाद मुझे दिखाई नहीं देता, कौनसा प्रमाद मैं छोड़ नहीं सकता ?' इस प्रकार विचार करने से मुनि भविष्य में प्रमाद नहीं करेगा। इस विषय पर सूत्रकार निम्न गाथा कहते हैं:—

"किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं वाहं खलिअं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥"

'क्या कोई दूसरा पुरुष मेरा प्रमाद देखता है या मैं स्वयं अपने प्रमाद को देख सकता हूं ? मैं अपने कौन से प्रमाद को छोड़ नहीं सकता ?' इस प्रकार से भली प्रकार आत्म निरीक्षण करने वाला मुनि भविष्य में प्रमाद नहीं करता।

हे मुनि दीक्षा विजय ! यह गाथा बहुत ही उपयोगी है। प्रत्येक मुनि को इस गाथा का सर्वदा मनन करना चाहिए। आजकल कई मुनि इन विचारों को अपने मन में नहीं लाते जिससे वे हमेशा प्रमाद के वश होकर दुराचार या विपरीत मार्ग पर लग जाते हैं। इस विषय पर सूत्रकार एक दृष्टांत देते हैं। जैसे जातिवान घोड़ा स्वयं नियमित चलता है, अपनी लगाम को स्वयं अपने पास रखता है, वैसे ही शुद्ध चारित्र पालने में तत्पर रहने वाला मुनि अपने संयम मार्ग में नियमित चलाने के लिए अवधि का त्याग कर, इन्द्रियों की लगाम को भली प्रकार अपने हाथ में रखता है।

हे मुनि ! उस सूत्र में जिस मुनि को संयम है उसे जीवित मुनि गिना गया है। जो मुनि इन्द्रियों को जीतने वाला और संयम में धैर्यवान है, उसका मन, वचन और काया का योग दीक्षा से लेकर मृत्यु तक दृढ़ रहता है। ऐसे मुनि को विद्वान्, प्रमाद रहित और संयम रूप जीवन को जीने वाला कहते हैं।

वही मुनि वास्तव में जीवित है, ऐसा मानते हैं। इस विषय पर सूत्रकार निम्न बोधक गाथा लिखते हैं:—

"जस्सेरिया जोग जिइंदिअस्स,
धिई मओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पड़िवुद्धजीवी,
सो जीअई संजम जीविएणं ।।"

'इन्द्रियों को जीतने वाले, जिनके मन, वचन और काया के योग शुरु से अन्त तक एक से रहते हैं, जो 'धैर्यवान हैं, ऐसे सत्पुरुष साधु को विद्वान प्रमाद रहित जीवन वाला कहते हैं और वे वास्तव में संयम रूप जीवन जीने वाले हैं।'

हे मुनि दीक्षा विजय ! इस गाथा को मेरे गुरु हमेशा क्षण-क्षण में बोलते थे और उनके सब शिष्यों से बुलवाते थे। वे प्रसंग-प्रसंग पर हमें बताते थे कि "हे शिष्यो ! तुम अपने संयम रूपी जीवन का दृढ़ता से पालन करना। यह संयम रूपी जीवन तुम्हारे आत्मिक जीवन से भी अधिक है। यदि तुम्हें अपने मनुष्य जीवन को सुधारना हो, अपने चारित्र जीवन को सार्थक करना हो और अपने मुनि धर्म को सदुपयोग में प्रयुक्त करना हो, तो सर्वदा अपने संयम जीवन की रक्षा करना। यदि तुम इस उपयोगी जीवन को मलीन करोगे या इसका त्याग करोगे, तो तुम्हारा चेतन जीवन निरुपयोगी हो जायेगा। इस पवित्र जीवन को दृढ़ करने के लिए तुम्हें हमेशा सावधान रहना चाहिए और उसकी पुष्टि के लिए चारित्र मार्ग के जो-जो सदाचार दिखाये गये हैं, उन्हें स्मरण रख कर तुम्हें उसके अनुसार प्रवर्तन करना चाहिए।

हे संयमधारी शिष्यो ! पहले तो इस संयम जीवन की रक्षा के लिये तुम्हें अपने हृदय में इस संसार के प्रति वैराग्य भावना सदा जागृत रखनी चाहिये और इस नाशवान देह की तरफ उपेक्षा। जब तुम अपने शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर दोगे, तब तुम्हारे हृदय में शुद्ध आत्मिक स्वरूप की स्फुरणा

होगी। हे शिष्यो ! तुम्हें वैराग्य भावना प्रकट करने के लिये ऐसे विचार करना चाहिये जिससे कभी भी तुम्हारे हृदय में सांसारिक विषयों की स्फुरणा न हो सके। इस विषय पर शास्त्र में निम्न विचार दर्शाये हैं।

यह संसार परदेशियों के रहने के स्थान 'धर्मशाला' जैसा है। यह धर्मशाला परदेशियों के रहने और खाने का प्रबन्ध करने के लिये ही है। ऐसा विचार कर, तत्वज्ञान के रहस्य को समझने वाले जीवों को अन्य विषयों में मोहित न होते हुए परलोक के लिये अपना भोजन तैयार कर लेना चाहिये। शास्त्र के रहस्य को समझने वाले और वैराग्य रंग से हृदय रंगित करने वाले बुद्धिमान पुरुष अपने कार्य की सिद्धि और अपने शुद्ध कर्तव्य में संलग्न रहते हैं। जबकि अज्ञानी मूर्ख लोग इस ससार के मायावी पदार्थों के लोभ तथा भोग विलास में आसक्त होते हैं, फिर उन पदार्थों का वियोग होने पर अतिशय दुःखी होते हैं। संसारी जीव माया के पाश में इतने बद्ध हो गये हैं कि उन्हें अपने कर्तव्य और परलोक की बात का भी स्मरण नहीं रहता। इस विषय में शास्त्रकार एक बोधक दृष्टांत कहते हैं।

"कुछ मुसाफिर परदेश जाने के लिये एक जहाज पर चढ़े। आगे जाने पर एक टापू आया, वहाँ खाना पकाने को ठहरे। उस जहाज के मुख्य चालक ने उच्च स्वर में सब से कहा, "हे भाइयो ! तुम सब अपना-अपना कार्य समाप्त कर शीघ्र वाहन पर चढ़ जाओ क्योंकि इस वाहन को शीघ्र रवाना करना है।" मुख्य चालक के वचन सुनकर जो बुद्धिमान मुसाफिर थे, वे शीघ्र अपना कार्य समाप्त कर जहाज पर चढ़ गये और अपनी पसंद के स्थान पर बैठ गये। कुछ यात्री उस टापू के पक्षी, फूल, रंगीन, पदार्थ, नये-नये पत्थर आदि देखने में कुछ वक्त बिताकर जैसे-तैसे जहाज पर पहुंच पाये पर उनको पहले पहुंचने वाले यात्रियों की अपेक्षा कम व तंग जगह मिली। अज्ञानी लोग अधिक नवीन पदार्थों को देखने में मग्न हुए,

देखने से मन न भरा तो रंगीन पत्थर आदि वस्तुओं की गाठें बांध, जहाज पर पहुंचे। जहाज पूरा भर चुका था अतः उन्हें गांठे रखने का स्थान न मिला और वे सिर पर गांठे रखे हुए दो दिन दो रात खड़े रहे। गांठ में बन्धी कुछ वस्तुओं का रंगरूप बदलने लगा। वे सड़ने लगीं और उनमें दुर्गंध आने लगी, अतः दुर्गन्ध दूर करने के लिए कुछ लोगों को अपनी गठड़ियें फेंकनी पड़ीं और उन्हें पछताना पड़ा। कुछ जड़ बुद्धि टापू की सुन्दरता को देखने में इतने मग्न हुए कि देखते-देखते वे जहाज से काफी दूर निकल गये और जहाज उन्हें लिए बिना ही चल पड़ा। चालक के शब्दों पर ध्यान न देने के परिणामस्वरूप उन्हें भूख-प्यास से तड़फ-तड़फ कर मरना पड़ा। कुछ बच गये, उन्हें सिंह आदि हिंसक प्राणियों ने मार दिया। इस दृष्टांत का सार यह है कि जो बुद्धिमान पुरुष पहले से ही जहाज में आकर अच्छी जगह पर बैठ गये, उन्हें वैराग्य वाले समझें। जो टापू में रहकर मृत्यु को प्राप्त हुए उन्हें धर्म-कर्म में अस्थिर तामसी मनुष्य समझें क्योंकि माया के जाल में फंसकर वे लोकधर्म, कर्तव्य और परलोक को भूल गये और जो लोग रंगीन पत्थर उठाने में देर से जहाज स्थल पर पहुंचे, उन्हें माया में आसक्त रजोगुणी मनुष्य समझें।

हे दीक्षा विजय मुनि! इस रूपक दृष्टांत को याद रख कर प्रत्येक मनुष्य को अपने शुद्ध प्रवर्तन में प्रवृत्ति करनी चाहिये। उसमें भी जैन मुनि को तो इस विषय में विशेष ध्यान रखना चाहिये। इस संसार सागर को तैरने के मुख्य साधन चारित्र रूपी जहाज में बैठने वाले जैन मुनियों को तो बहुत सावधानी रखनी चाहिये। उनको तो प्रति क्षण वैराग्य भावना को जागृत करते रहना चाहिये। यह वैराग्य भावना तीन प्रकार की होती है। एक तो इस संसार के स्वरूप को जानने से वैराग्य भावना जागृत होती है। यह संसार नाशवान और दुःख स्वरूप है, इसका ऐसा स्वरूप जब समझ में आ जाता है, तब उसके प्रति पूर्ण वैराग्य उत्पन्न होता है। दूसरा इस संसार पर अरुचि होने से वैराग्य पैदा होता है। जब संसार

अनित्य और दु:ख रूप है, तब इसके प्रति अरुचि उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती, यह अरुचि वैराग्य की पोषक बनकर मनोवृत्ति में विरक्तता उत्पन्न करती है। तीसरा जगत के सर्वभाव पदार्थों पर अनित्यता का विचार करना, यह भी वैराग्य भावना को बढ़ाने वाला है। इन तीनों बातों को ध्यान में रखकर प्रत्यक मुनि को प्रवृत्ति करनी चाहिये।

हे दीक्षा विजय मुनि ! द्वितीय चूलिका की अंतिम गाथा में सूत्रकार लिखते हैं कि संयमी मुनि अपनी सुसमाधिवाली आत्मा को हमेशा इन्द्रियों द्वारा सुरक्षित रखे, क्योंकि यदि आत्मा संयम द्वारा रक्षित न हो तो वह इस संसार में दु:खों को प्राप्त होती है, पर यदि वह भली प्रकार रक्षित हो तो सर्व दु:खों से मुक्त होती है। सूत्रकार का यह कथन बहुत ही विचारणीय है। इस पर से प्रत्येक जैन मुनि को समझना चाहिये कि आत्मा कि रक्षा अपने शुद्ध संयम से ही की जा सकती है। संयम का दिव्य प्रभाव आत्म स्वरूप की ऐसी रक्षा करता है कि जिससे संयमी के हृदय में आत्म ज्ञान भली प्रकार स्फुरित होता है, जिससे संयमी अपने चारित्र को सर्व प्रकार से चरितार्थ कर अपने मुनि जीवन को पुण्य का पवित्र पात्र बनाता है। उपर्युक्त भावार्थ को प्रदर्शित करने वाली गाथा निम्न प्रकार से है:—

"अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो,
सव्विदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्व दुहाण मुच्चइ त्तिबेमि ।।"

सुसमाधिवाली आत्मा की सर्व इन्द्रियों से रक्षा नहीं करने से यह आत्मा संसार को प्राप्त होती है। यदि इसकी भली प्रकार रक्षा की जाय तो यह आत्मा सर्व दु:खों से मुक्त होती है।"

हे मुनि ! प्रत्येक जैन मुनि को इस गाथा का हृदय में स्मरण करना चाहिये और अपनी आत्मा की भली प्रकार रक्षा

करनी चाहिये । जब तक जैन मुनि इस गाथा में बताये गये सुविचार का मनन न करेंगे तब तक वे अपनी आत्मा का उद्धार नहीं कर सकते । इतना ही नहीं, वे अपने चारित्र से भ्रष्ट होकर दोनों लोक से पतित होंगे । हे पवित्र मुनि ! इस प्रकार दूसरी चूलिका में जो उत्तम उपदेश दिया गया है, उसे हम जैन मुनियों को बहुत ही ध्यान में रखना चाहिये । हमारा मुनि जीवन, हमारी समाचारी और हमारा कर्तव्य, इन सबको सार्थक करने का साधन 'दशवैकालिक सूत्र' ही है । यदि संवेगी साधु इस महासूत्र का पठन, मनन और स्मरण करें तो वे कभी भी मुनि जीवन को दूषित नहीं कर सकते । इतना ही नहीं, अंत में वे चारित्र धर्म के शुद्ध साधक बन कर और आत्म तत्व का संपादन कर, मुक्ति सुन्दरी के पूर्ण प्रेमी बनते हैं । महोपकारी शय्यंभव सूरि ने अर्वाचीन जैन मुनियों के उपकार के लिये और इस विषमकाल के दोषों को दूर करने के लिये इस महासूत्र की रचना की है । उनकी पवित्र सूत्रवाणी भारतवर्ष के सर्व मुनिजनों का उद्धार करने वाली, कर्म के कष्ट को हरने वाली, और शिव मार्ग को बताने वाली है । अतः इस पवित्र वाणी का सर्व मुनियों को सर्वदा पठन, पाठन और मनन करना चाहिये ।

हे मुनि दीक्षा विजय ! अब अपनी सूत्रोपदेश की बातचीत समाप्त हुई । 'दशवैकालिक सूत्र' की अंतिम दो चूलिकाएं जो इस महासूत्र के शिखर के समान हैं, वे मैंने तुम्हें सुनाई । इस विषय में मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानता हूं क्योंकि उपदेश वार्ता की चर्चा करने वाले के साथ-साथ कराने वाला भी उतना ही उपकारी होता है । यदि तुमने मुझ से इस विषय पर प्रश्न नहीं पूछे होते तो मुझे इस समय इन दोनों चूलिकाओं का विवेचन पूर्वक स्मरण नहीं होता । इस बोधक चूलिका के स्मरण के कारण तुम स्वयं बने हो, अतः इस समय मुझे तुम्हारा भी बड़ा उपकार मानना चाहिये ।

मुनि सुधा विजय की ऐसी विनीत वाणी सुनकर दीक्षा विजय नामधारी दीक्षादेवी हृदय में अत्यन्त प्रसन्न हुई । उसके

सर्वांग पर आनन्द से रोमांच हो आया। मुनि सुधा विजय पर उसका शुद्ध प्रेम सहित भक्ति भाव प्रकट हो गया। तत्काल उस महादेवी ने अपना स्वरूप प्रकट किया और उसने उन मुनि श्रेष्ठ को वंदना की। दीक्षा देवी की दिव्य मूर्ति को देखकर मुनि सुधा विजय प्रसन्न हो गये। उन्होंने भी आनन्द पूर्वक इस महादेवी की वंदना की। उस दिव्य देवी के दर्शन से अपार आनन्द का अनुभव करते हुए मुनि सुधा विजय ने कहा, "महादेवी ! आज मैं कृतार्थ हुआ। फिर भी मुझे आप से एक क्षमा मांगनी है। आप हमारी दीक्षा का स्वरूप हैं अतः जीवनदात्री हैं। ऐसी सुज्ञ महानुभावा के समक्ष मैंने 'दशवैकालिक सूत्र' का उपदेश दिया और आपको एक समान्य मुनि जानकर मेरे से यदि कुछ भी अनुचित आचरण हो गया हो तो मैं आपका अपराधी हूं, आप मुझे क्षमा करें।

मुनि सुधा विजय के उपर्युक्त विनीत वचन सुनकर महादेवी दीक्षादेवी ने विशेष संतुष्ट होकर कहा, "हे पवित्र मुनि ! आप यह क्या कह रहे हैं ? आपको मुझ से क्षमा मांगने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप और मैं अलग-अलग नहीं हैं। आप में मैं तो प्रत्यक्ष में रही हुई हूं। वर्तमान काल में मेरा प्रत्यक्ष रूप आपके स्वरूप में ही अंतर्हित है। आपकी पवित्र मूर्ति में मेरा पूर्णरूप प्रकाशित हो रहा है। जिस पवित्र जैन मुनि के हृदय में 'दशवैकालिक सूत्र' की महाशिक्षा सम्पूर्ण रूप से स्थापित है, जिसका पठन और मनन ही जिसके हृदय में सर्वदा होता रहता है और जो पवित्र मुनि सूत्रकार के शुद्ध आशय को समझ कर अपने सदाचार में प्रवृत्त होता है, उसके द्रव्य और भाव स्वरूप में मेरा पूर्ण स्वरूप समाया हुआ है। हे मुनिवर ! मेरे ऐसे स्वरूप को धारण करने वाले आप अकेले ही हैं। आपकी ऐसी उत्तम प्रवृत्ति को देखकर मैं विशेष रूप से आपके दर्शन करने के लिये ही आई थी। वर्तमान काल में 'दशवैकालिक सूत्र' के पाठक और प्रवर्तक जैन मुनि बहुत थोड़े हैं। शायद कोई महासूत्र के पढ़ने वाले मिल भी जायं तो भी वे उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले नहीं होंगे। पर आप तो

पाठक और तदनुसार प्रवर्तन करने वाले दोनों ही हैं। अतः आपके पवित्र मुख से इस प्रेरक सूत्र की पवित्र वाणी सुनने की इच्छा हो रही थी। उस इच्छा की पूर्ति के लिये ही मैंने दीक्षा विजय का रूप धारण किया। मुनि रूप धारण कर मैं आपके पास आई। जिस रूप के प्रभाव से ही आपने उपकार बुद्धि से इस महासूत्र का उपदेश दिया। हे पवित्र मुनि ! यदि मैंने मुनि का रूप धारण नहीं किया होता तो आप मुझे अपनी वाणी का लाभ सब प्रकार से नहीं दे पाते। आपकी पवित्र और बोधक वाणी का लाभ लेने के लिए ही मैंने मुनि रूप धारण किया था।

हे पवित्र मुनि ! आपकी जितनी स्तुति की जाय, उतनी थोड़ी है। आपने अपने जीवन को सर्व प्रकार से कृतार्थ किया है। आपके जीवन का हेतु जिस प्रकार से सिद्ध हुआ है, उस प्रकार दूसरों का जीवन हेतु सिद्ध होना मुश्किल है। हे महामुनि ! इस संसार में आपके समान शुद्ध प्रवृत्ति करने वाले जैन मुनि बहुत विरले हैं। यदि प्रत्येक जैन मुनि आपके जैसे हों तो भारतवर्ष में आर्हत धर्म और वीर शासन का बहुत ही उद्योत हो। ऐसा उद्योत करने के लिए कब समय आयेगा, यह आशा हमारे हृदयों में हमेशा उदित होती रहती है। हे पवित्र अनगार ! यद्यपि ऐसा उद्योत होना अभी अशक्य ही है, फिर भी वर्तमान देश काल के अनुसार जैन शास्त्रों में वर्णित उत्तम आचार के अनुसार, यदि जैन मुनि प्रवृत्ति करें, तो भी बहुत अच्छा हो। वर्तमान समय में तो अधिकांश जैन मुनियों का विपरीत आचरण दिखाई देता है। प्रमादी जैन मुनि चारित्र (दीक्षा) लेना तो सुख का जीवन मानते हैं पर उसमें अनगार जीवन का त्याग कर सागार (गृहस्थ) जीवन का सेवन करते हैं। कई एक तो सिर्फ जैन मुनि का वेष धारण कर, गृहस्थ जैसा आचरण करते हैं। हे महामुनि ! आप जैसे शुद्ध जैन मुनि के पास ऐसी बातें कहने में भी लज्जा आती है, ऐसा आचरण जैन मुनियों की प्रवृत्ति में दिखाई दे रहा है।

जैन मुनियों के मुनि वेष में भी रजोगुण दिखाई दे रहा है। बारीक और मुलायम उच्च कोटि की मलमल से वे अपने अंग ढंकते हैं। उनके पास उच्च कोटि की कंबलें, सुन्दर गुच्छादार

ओधे और नवरंगित पात्र आते ही रहते हैं। कोई भी निम्न स्तरीय पदार्थ उनको अच्छा नहीं लगता। उनके ज्ञान के उपकरण भी उच्च स्तरीय आते हैं। नक्सीदार पुट्टे और पुस्तकें बांधने के सुन्दर वस्त्रों से उनके ज्ञान की रक्षा होती है। उनके निवास के उपाश्रय सुन्दर महल बन गये हैं। रंगीन दरवाजे, सुकोमल सफाईदार पाटे, नवरंगित कोमल चटाइयें और उच्च कोटि की शीशम की अलमारियां उनके उपाश्रय भूमि को सुशोभित करती हैं। यह कैसा आचार है ? इतना ही नहीं, मुनियों के उपाश्रय व्यापारिक दुकान जैसे बन गये हैं। वहां हमेशा श्रेणीबद्ध श्रावक मुनियों की सेवा में खड़े रहते हैं। नियमित रूप से सैंकड़ों पत्र लिखे जाते हैं, विदेशों से विविध प्रकार की कंबलें मंगाई जाती हैं। मुनियों के पंसद की वस्तुएं खरीदी जाती हैं। पढ़ाने के लिये रखे हुए शास्त्री नियमित उपस्थित रहते हैं। उच्च कोटि की औषधियों का सेवन होता है। शरीर को सुख देने वाले सुगंधित तेलों से मालिश होती है, राजाओं की तरह खमा-खमा (जयघोष) होती है और क्षण-क्षण में उनकी साता (सुख शांति) पूछी जाती है।

ऐसा महौल देखकर जैन मुनियों का उद्धार करने के लिये मैंने भारतवर्ष में अवतार लिया है। इस भारत भूमि पर विचरने वाले जैन मुनियों को 'दशवैकालिक सूत्र' के उपदेश को शिक्षा देने का यह प्रयत्न किया है। मेरा यह प्रयत्न कितना सफल हुआ है, यह तो ज्ञानी महाराजा हो जानें, पर मैंने जो कुछ प्रयत्न किया है, वह थोड़े बहुत अंश में सफल होने की मुझे आशा है। हे मुनि ! मैंने जो कुछ उपदेश दिया है, वह 'दशवैकालिक सूत्र' से दिया है। मेरा यह उपदेश सफल हो, ऐसी शासन देवता से प्रार्थना है। हे मुनि सुधा विजय ! कई स्थानों पर उपदेश देते हुए मैंने आपका नाम लिया है और कई मुनियों को आपके पास 'दशवैकालिक सूत्र' का अध्ययन करने की सलाह भी दी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो उपदेशार्थी मुनि आपके पास सूत्र का अध्ययन करने आयेंगे, उन्हें आप अवश्य ज्ञान दान देने की कृपा करेंगे, क्योंकि आपके जैसे पवित्र मुनि सर्वदा परोपकार करने में तत्पर रहते हैं। हे

महामुनि ! आज आपका दर्शन कर मैं वहुत संतुष्ट हूं। इस भारतवर्ष में अवतार लेने का मेरा उद्देश्य आज पूर्ण सफल हुआ। आज मेरा दिव्य स्वरूप पूर्ण कलाओं सहित इस लोक से अदृश्य हो रहा है, फिर भी मेरा भाव स्वरूप तो देशकाल के अनुसार हमेशा इस जगत् में रहेगा ही। मैं द्रव्य रूप से अदृश्य हो रही हूं, तथापि भावरूप से तो अदृश्य हो ही नहीं सकती। जब तक इस जगत् में वीर शासन का प्रकाश पड़ता रहेगा, जब तक वीर-वाणी का प्रकाश इस संसार में फैलता रहेगा और जहां तक जैन प्रजा पंच परमेष्ठि के स्वरूप का स्मरण कर, अपने श्रावक जीवन को सफल करने को उत्सुक रहेगी, वहां तक मेरा दीक्षा स्वरूप इस भारत में भव्यता से प्रकाशित रहेगा और पवित्र जैन मुनि उसे धारण कर, अपने धर्म शासन के अनुसार प्रवृति करने का प्रयत्न करते रहेंगे।

हे महामुनि ! अब मैं अपने कृत्रिम जीवन का त्याग कर अपने मूल जीवन में अन्तर्हित हो जाती हूं। आप मेरे स्वरूप का रक्षण करें तथा दूसरों से रक्षण करवावें। मैंने अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया। इस विकराल काल में मेरी दिव्य शक्ति जितनी चलनी चाहिये, उतनी नहीं चलती। मेरा दिव्य शासन अपने समार्थ्यानुसार सर्व स्थानों पर प्रसारित नहीं हुआ है, फिर भी जो कुछ हुआ है, वह देश, काल के अनुसार ठीक ही हुआ है।

दीक्षाकुमारी का ऐसा असर कारक और वास्तविक भाषण सुनकर सुधा विजय बहुत ही आनंदित हुए। वे अपने हृदयं में प्रमोद पूर्ण होकर विचारने लगे, "अहा ! महादेवी दीक्षा-कुमारी जो कुछ कह रही हैं, वह अक्षरसः सत्य है। वर्तमान काल में प्रमादी जैन मुनियों का प्रवर्तन ऐसा ही है। भारत वर्ष में जो धर्म भावना सर्वोत्कृष्ट गिनी जाती है, जिसके समान देव गुरु और धर्म के तत्व दूसरे किसी धर्म की भावना में नहीं हैं और जिसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुण सर्वोत्कृष्ट गिने जाते हैं, ऐसे जैन धर्म की पवित्र दीक्षा लेकर फिर उसके प्रति अनादर प्रवर्तित करने वाले जैन मुनियों को वहुत गम्भीर विचार करना चाहिये। जो मुनि प्रमाद के वश होकर वैसा विचार नहीं करते और अपने शुद्ध चारित्र

मार्ग को मलिन करने को तत्पर होते हैं, वे वास्तव में आर्हत धर्म की निंदा के पात्र हैं। पूर्व में हुए उपकारी महर्षियों ने 'दशवैकालिक सूत्र' जैसे आचार दर्शक ग्रंथों की रचना कर उन्हें सदाचार का पवित्र मार्ग प्रदर्शित किया है, फिर भी वे प्रमादवश उसकी उपेक्षा करते हैं, यह कैसी मूर्खता है ? शासन-पति देवता उनके इस प्रमाद को दूर करें।" हृदय में ऐसा सोचते हुए मुनि ने प्रकट कहा, "महादेवी ! आपने प्रकट होकर हमारे मुनि मंडल पर महान् उपकार किया है। यदि 'दश-वैकालिक सूत्र' जैसे उत्तम ग्रंथ का उपदेश नहीं दिया होता तो प्रमादी मुनियों की कैसी स्थिति हुई होती, कुछ भी कह नहीं सकते। आपकी उपदेशमय सूत्रवाणी ने सर्व जैन मुनि मंडल में विशेष जागृति पैदा की है। प्रमाद में पड़े हुए कई जैन मुनि 'दशवैकालिक सूत्र' के रहस्य को समझकर अपने आचार के प्रति फिर से तत्पर होंगे। कई पश्चात्ताप कर अपने मलिन हो चुके चारित्र को निर्मल करने का प्रयत्न करेंगे और कई 'दश-वैकालिक सूत्र' का अध्ययन करने को तत्पर होंगे।"

उपर्युक्त कथन के साथ ही मुनि सुधा विजय ने महादेवी दीक्षाकुमारी को पुनः वंदना की और बोले, "धर्मेश्वरी ! आपके पवित्र दर्शन से मुझे जो अलभ्य लाभ मिला है, वह अवर्णनीय है। फिर भी आप अदृश्य होने के पहले मुझे भी कुछ उत्तम शिक्षा देने की कृपा करें तो मेरे अन्तिम जीवन को महान् लाभ मिले और मैं अपने आखिरी क्षणों को सुधार कर, आत्मसाधना करने में समर्थ बन सकूं।"

हे पवित्र मुनि ! आपको अब किसी भी प्रकार के उपदेश या शिक्षा की आवश्यकता नहीं है, फिर भी शिष्टाचार के लिये मैं कुछ शिक्षा वचन सुनाती हूं, सावधानी से सुनें।

"इस जगत में मानव जीवन में आध्यात्मिक बल का पोषण करने वाला और कर्म के जटिल जाल से मुक्त कराने वाला साधन चारित्र ही है। ऐसे चारित्र को प्राप्त करने के बाद जैन मुनि को बहुत ही सावधानी से प्रवृत्ति करनी चाहिये। पवित्र दीक्षा को अंगीकार करने वाले आर्हत अनगार को अपने हृदय को कभी भी कदाग्रह रूपी अग्नि नहीं जलाना चाहिये।

यह हृदय यदि कदाग्रह रूपी अग्नि से भस्म हो जायेगा तो इसमें तत्व रूपी लता नहीं पनप सकेगी और समता रूपी पुष्प नहीं खिल सकेंगे। जब तत्व रूपी लता और समता रूपी पुष्प हृदय में नहीं पनपेंगे, तो फिर हितोपदेश रूपी फल की प्राप्ति कहां से होगी? अतः जैन मुनि को कभी कदाग्रह नहीं करना चाहिये। जो मुनि कुछ अध्ययन कर और शास्त्र सुनकर अपने आपको पंडित मान बैठता है, उसके मुख को वाणी का स्पर्श तो होता है, पर वाणी की लीला का रहस्य उसकी समझ में नहीं आ सकता, इसका कारण क्या है, इस पर यदि आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि कदाग्रह से महान् गर्व को धारण करने वाले मुनि अपने अंशमात्र ज्ञान से मुग्ध लोगों को अन्धा कर देते हैं, पर उन्हें स्वयं अपने लिये बहुत हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि उन्हें उत्तम पांडित्य प्राप्त नहीं होता जिससे वे शास्त्र के सच्चे रहस्य को नहीं समझ सकते। अतः जैन मुनियों को कदाग्रह नहीं करना चाहिये।

जब कदाग्रह का नाश होता है तब मुनि का मिथ्यात्व रूपी अंधकार नष्ट हो जाता है। पश्चात उसके हृदय में अध्यात्म-शुद्धि प्रकट होती है। उस अध्यात्मक शुद्धि से मुनि अपने चारित्र के शुद्ध मार्ग पर भली प्रकार से चल सकता है। जब मुनि चारित्र शुद्ध मार्ग पर चलने लगता है, तब क्रिया-बल से हृदय-शुद्धि को प्राप्त करता है। हृदय के शुद्ध होने पर ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान-प्राप्त मुनि राग-द्वेष के क्षय से विषय रहित हो जाता है जिससे वह न तो छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है और न ही नाश को प्राप्त होता है। उसकी मनोवृत्ति अध्यात्म ज्ञान के साथ तल्लीन होने से वह अपने आचरण में बहुत सावधान रहता है, जिससे उसमें वैराग्य भावना सदा जाग्रत रहती है। यह भावना उसके संयम बल को बढ़ाती है। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमान में समान ऐसा वह पुरुष भूतकाल के भोगों का स्मरण नहीं करता और भविष्य की किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता। ऐसा पुरुष इन्द्रियों को जीतता है, क्रोध का नाश करता है और मान तथा माया के उपद्रव को प्राप्त नहीं होता। लोभ, दुःख और वेदना से रहित

हो जाता है। अपने किये हुए कर्मों का भेदन करने वाला वह योगी आत्मा से आत्मा को वश में करके अपने सहज आचार का सेवन करते हुए सदा दुराग्रह से दूर रहकर चारित्र का एकनिष्ठता से सेवन करता है। चारित्र सेवन से लोक संज्ञा से मुक्त होकर मिथ्या आचार के प्रपंच मे मुक्त हो जाता है और सच्चा शुद्ध ध्यानी बनता है। उसमें शुद्ध ध्यान योग प्रकट होता है तब ध्यानाग्नि से अपनी पापाग्नि को भस्म कर, शुद्ध होकर लोकोत्तर चारित्र को धारण करता है।

हे मुनि सुधा विजय ! जैन मुनि को उपर्युक्त प्रकार से प्रवृत्ति करनी चाहिये। जैन शास्त्रकारों ने अनगार धर्म या चारित्र धर्म की महत्ता उपर्युक्त प्रकार से ही प्रदर्शित की है और उसी में सर्व प्रकार की गौरवता मानते हैं। सर्व जैन मुनियों को मुख्यत: प्रशम गुणधारण करना चाहिए। जैन अध्यात्म शास्त्रों में प्रशम गुण की बहुत महिमा गाई गई है। प्रशम आदि महायोद्धा कषाय रूपी चोरों को क्षण भर में हरा देते हैं। मुनि को जिस प्रकार प्रशम गुण रखना जरूरी है, उसी प्रकार शील गुण भी बहुत आवश्यक है। शील रूपी महायोद्धा कामदेव रूपी चोर को हरा देता है। उसके साथ ही यदि वैराग्य की सेना हाजिर हो तो हास्य आदि छ: लुटेरे दूर से ही भाग जाते हैं। वैराग्य की सेना के साथ श्रुतयोग आदि योद्धा आते हैं, वे निद्रादि को हरा कर भगा देते हैं। उनके साथ आये हुए धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान रूपी योद्धा आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान रूपी दोनों सुभटों को हरा देते हैं और इन्द्रियों का निग्रह राग का पराभव करता है।

हे पवित्र मुनि ! यह शिक्षा प्रत्येक जैन मुनि को ध्यान में रखकर उसके अनुसार प्रवर्तन करना चाहिये। जो मुनि इस शिक्षा को अपने हृदय में स्थापित करते हैं और तदनुसार प्रवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं, वे मुनि अवश्य अपने जीवन को सुधारने में तत्पर होते हैं और अपने संयम मार्ग को भली प्रकार सुधार कर, गुणस्थानों का आरोहण क्रमानुसार करते हुए, मुक्ति सुन्दरी के मनोहर महल तक पहुंच जाते हैं।"

महादेवी दीक्षाकुमारी के मुख से इस प्रकार के शिक्षा

वचन सुनकर मुनि सुधा विजय अत्यन्त आनंदित हुए। अपने हृदय की प्रसन्नता को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, "महेश्वरी ! आप द्वारा प्रदत्त शिक्षा बहुत उपयोगी है। यदि कोई जैन मुनि आपके इस शिक्षा सूत्र को अपने हृदय में धारण करेगा तो वह अवश्य अपने चारित्र को निर्मल कर स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख सम्पादन करने के योग्य बनेगा, यह निःसंदेह है।" इतना कह, उस महामुनि ने फिर दीक्षाकुमारी की वंदना की।

दयामति दीक्षाकुमारी ने आनन्दित होकर मुनि सुधा विजय के मस्तक पर आशीर्वाद का हाथ रखा और और कहा, "मुनिवर ! अब मैं अपने मूल स्थान को जा रही हूं। आप अपना चारित्र गुण अन्य मुनियों में स्थापित करें। अन्य मुनियों में उपदेश द्वारा अर्हत धर्म का उद्योत करें। प्रमाद के वश होकर पड़े रहने वाले और गृहस्थ श्रावकों के संग रहकर अपने स्वरूप को भूले हुए भ्रमित मुनियों पर दया दृष्टि रखकर, उनका उद्धार करें। शुद्ध मन वचन और काया के योग को समुचित कर, मेरे स्वरूप का भान करावें। भारत वर्ष के प्रत्येक क्षेत्र में विचरण कर अधर्म तथा अनाचार में प्रवृत्त जैन प्रजा को उपदेश देकर, शुद्ध मार्गानुसारी बनावें। हे प्रबुद्ध मुनि ! जिस प्रकार आप अपने चारित्र के उत्तम हेतु को समझकर उसका उपयोग करने को तत्पर हुए हैं, उसी प्रकार अन्य मुनियों को भी तत्पर करें और सर्व मुनियों के मलिन हृदय को शुद्ध करने तथा उनमें सदाचार की स्थापना करने के लिये 'दशवैकालिक सूत्र' की पवित्र वाणी का प्रचार करें। इसके साथ ही इस सूत्र के रचयिता महोपकारी शय्यंभव सूरि का यशोगान कराकर अन्य मुनियों को भी उनके समान उपकारी और लोकोपयोगी बनाने का उपदेश करें।"

इतना कहकर महादेवी दीक्षाकुमारी अपने स्वरूप को अदृश्य करने को तैयार हुई। उनकी मनोहर मूर्ति के चारों ओर फैला हुआ दिव्य प्रभामण्डल अपने दिव्य तेज को संकुचित करने लगा। क्षण भर बाद यह दिव्य तेज मुनि सुधा विजय के शरीर में प्रवेश करने लगा। ऐसा लगने लगा मानो वह महा-मुनि के स्वरूप के साथ लीन हो रहा हो। उस समय मुनि

सुधा विजय हाथ जोड़कर खड़े रहे और शरीर को झुकाकर उस महादेवी को नमस्कार करने लगे । इतने में ही निम्न अदृश्य ध्वनि होने लगी--

"भगवान श्री पंचपरमेष्ठि की जय हो । श्री वीर शासन का प्रभाव वृद्धि को प्राप्त हो । आर्हत वाणी का विलास विजयी हो । स्याद्वाद मत का सिद्धांत सर्वोपरि बने । जैन धर्म, जैन विद्या, जैन तत्व, जैन तप, जैन व्रत, जैन आचार, जैन समाचारी जैन संघ, जैन तीर्थ, जैन समाज, जैन कौम, जैन वंश, जैन कुल और जैन संसार इस जगत् में सदा विजयी, यशस्वी, उद्योती और उत्साह को प्राप्त हो ।"

यह ध्वनि समाप्त होने पर महामुनि सुधा विजय मधुर और उच्च स्वर में निम्न श्लोक बोले—

"उत्सर्पद्व्यवहार निश्चयकथा कल्लोलकोलाहल ।
त्रस्यद्दुर्नयवादिकच्छपकुलं भ्रश्यत्कुपक्षाचलम् ।।
उद्यद्युक्तिनदीप्रवेशसुभगं स्याद्वादमर्यादया ।
युक्तं श्रीजिनशासनं जलनिधिं मुक्त्वा परं नाश्रये ।।"

"जिसमें व्यवहार और निश्चय नय रूपी कल्लोहल से दुःख पाते हुए दुष्ट नयवादी रूप कछुए फैल रहे हैं, दुराग्रह पक्ष रूप पर्वत जिसमें भ्रष्ट होते रहते हैं, जो युक्ति रूपी नदियों के प्रवेश से शोभायमान है और स्याद्वाद रूपी मर्यादा से युक्त है, ऐसे जिन शासन रूप समुद्र को छोड़कर मैं अन्य किसी का आश्रय नहीं लूंगा ।"

इस श्लोक की ध्वनि-प्रतिध्वनि आकाश में फैल गई । इस प्रतिध्वनि के साथ ही आकाश में महादेवी की मूर्ति भी अदृश्य हो गई । वर्तमान काल की स्थिति भूतकाल में बदल गई । मुनि सुधा विजय उस दिशा में नमस्कार करते हुए खड़े रहे । थोड़ी देर बाद वे उस महेश्वरी के सुन्दर स्वरूप का स्मरण करते हुए, उस स्थान से विहार कर अन्यत्र चले गये ।

यन्नाम्नि विजयोत्तरं पदमहो मुक्तिर्जरीजृंभते,
यो गच्छाधिपतिर्गणी च समभूत्पट्टपायोनिधौ ।
पंन्यासकमलाभिधः. समभवत्तस्मादगणी केसर,
स्तदभ्राता वरजेन देवमुनिन्न ग्रंथो विशुद्धिकृतः ।।

(समाप्त)